बी० आर० शर्मा

भूमिका

भारत का स्वतंत्रता आंदोलन अनेकानेक स्वतंत्रता सेनानियों द्वारा समय-समय पर किए गए बलिदानों की अमर महान गाथा है। वस्तुतः भारतीय स्वाधीनता संघर्ष की महागाथा असह्य कष्टों एवं बलिदानों की कहानी है। इसे अनगिनत वीरों एवं देशभक्तों ने अपने रक्त से सींचा है।

देश को स्वतंत्र करवाने के प्रयत्न राष्ट्रवीरों द्वारा समय-समय पर किए जाते रहे। सन् 1857 का स्वतंत्रता संग्राम भारतवासियों द्वारा स्वतंत्रता हेतु किया गया पहला प्रयास था। इसमें मुगल सम्राट बहादुरशाह ज़फ़र, नाना साहिब, तांत्या टोपे और महारानी लक्ष्मी बाई ने जिस प्रकार इस संग्राम का नेतृत्व किया वह अनुपम है। तत्पश्चात् भी स्वतंत्रता हेतु छुटपुट प्रयास होते रहे। देश स्वतंत्रता की अग्नि बुझी कदापि नहीं। बाल गंगाधर तिलक ने देश की आजादी के लिए जनता का आह्वान इस प्रकार किया—"स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है और इसे हम लेकर रहेंगे।" फिर महात्मा गांधीजी के नेतृत्व में भारतीयों ने जो आज़ादी की लड़ाई लड़ी उसकी मिसाल दुनिया में नहीं मिलती। उनका नारा था 'करो या मरो' तथा 'अंग्रेजों! भारत छोड़ो।' सुभाषचंद्र बोस के मतानुसार स्वतंत्रता बलिदान चाहती है और इसे प्राप्त करने के लिए उन्होंने देशवासियों से कहा—

"आप मुझे खून दें, मैं आपको आज़ादी दूंगा।"

भारत को आजाद कराने वाले इन स्वतंत्रता के सूत्रधारों ने अंग्रेजों के रक्त-रंजित पंजों से, लोहे की जंजीरों अर्थात् बेड़ियों से जकड़ी हुई भारत माता को स्वतंत्र कराया। वे आजादी के लिए जिए और अमर हुए। स्वतंत्रता प्राप्ति ही उनके जीवन का चरम लक्ष्य था। इन स्वतंत्रता सेनानियों का महान तप और त्याग ही स्वाधीनता का मंगल-मुहूर्त लाया। स्वाधीन भारत में गत 37 वर्षों में उत्पन्न एवं पालित-पोषित पीढ़ियों के लिए संभवतः यह अनुमान लगाना कठिन होगा कि परतंत्र, देश में, दासता के बंधनों मे जीने का क्या अर्थ होता है? और

जिन पूर्वजों ने इस स्थिति के विरुद्ध संघर्ष किया, उन पर क्या बीती होगी ? आज कितने युवक-युवतियों अथवा बालक-बालिकाओं को इसका आभास है कि एक समय था जब खादी पहनना और गांधी टोपी लगाना विद्रोह का प्रतीक समझा जाता था। उस समय मातृभूमि के गीत गाना भी अपराध माना जाता था। राष्ट्रीय नारा 'वंदेमातरम' के उच्चारण करने मात्र से लोग कारागृह में बंद कर दिए जाते थे। किंतु देश-प्रेमी सत्याग्रही 'इकलाब-जिंदाबाद' का नारा लगाते हुए तिरंगा राष्ट्रीय ध्वज उठाए आगे बढ़ते थे, लाठियां, गोलियां खाते थे किंतु झंडा नहीं झुकाते थे। कितने ही स्वतंत्रता-प्रेमी अपने सर्वस्व की आहुति देकर मातृभूमि की गोद में विलीन हो जाते थे, परंतु जो शेष रह जाते थे, वे मंजिल की ओर बढ़ते रहते थे, उन रण-बांकुरों के साथ जेलों में जो अमानुषिक अत्याचार किए गए उनके स्मरण मात्र से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। अनेक मां के लाल हंसते-हंसते फांसी के तख्तों पर झूल गए, शहीद हो गए, कि देश जीवित रह सके। उनका बलिदान रंग लाया और देश स्वाधीन हुआ।

वस्तुतः वे स्वतंत्रता सेनानी महान आत्माएं थी। उन्होंने असंख्य शक्ति-संपन्न विचारों को जन्म दिया। उनके विचारों ने संसार को स्तब्ध कर दिया। उन्होंने भारतभूमि पर अवतीर्ण होकर राष्ट्रोत्थान एवं जनजागरण की अनेक प्रवृत्तियों को जन्म दिया और जनता उनके संकेत अनुसार कर्मपथ पर अग्रसर हुई। देश के जागरण और स्वराज्य के शुभागमन से इन्होंने महान ऐतिहासिक भूमिका प्रस्तुत की है। वास्तव में महान विभूतियों की जीवनी से ही विश्व का इतिहास बनता है। उनका जीवन प्रकाश-पुंज होता है। वह अन्यों को ज्योति प्रदान करता है। इन देशसेवक महापुरुषों के बलिदान की अमर कहानियां देश के तरुणों में सेवा-भाव एवं बलिदान की भावना सृजन करने में युग-युग तक समर्थ रहेंगी। उनके द्वारा प्रदर्शित पथ हमारे राष्ट्रीय विकास का सम्यक् राजमार्ग सिद्ध होगा।

ध्यातव्य रहे कि भारत के इस स्वतंत्रता-आंदोलन में रंग, जाति एवं देश के भेदभाव को सर्वथा विस्मृत कर हिंदू, मुस्लिम, सिख एवं ईसाई सभी वर्ग के नर-नारी, नवयुवक एवं वृद्धों ने एकजुट होकर इस लड़ाई को लड़ा। इसी दृष्टिकोण को सामने रखते हुए हमने भी प्रस्तुत पुस्तक में बिना किसी पूर्वाग्रह के सभी वर्गों से स्वतंत्रता सेनानियों का चयन किया है। स्वतंत्रता के ऐसे सैनिकों को भुलाना महान भूल होगी। देश के भावी कर्णधारों को स्वाधीनता सेनानियों से परिचित कराने के लिए एक ऐसी पुस्तक की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी जिसमें किसी विशेष विचारधारा से प्रभावित हुए बिना निष्पक्ष रूप से विवेचन हो। प्रस्तुत ग्रंथ में इसी अभाव की पूर्ति करने का एक प्रयास किया गया है। यदि पाठक इस पुस्तक के अध्ययन से स्वाधीनता संघर्ष की एक झलक पा जाएं और अपने राष्ट्रवीरों के तप, त्याग, संघर्ष और बलिदान से परिचित हो जाएं तथा

उनके आदर्शों के अनुरूप आचरण करने की प्रेरणा ग्रहण कर लें तो लेखक अपना श्रम सार्थक समझेगा।

पुन: भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस आगामी वर्ष सन् 1985 में अपनी जन्म-शताब्दी वर्ष मनाने जा रही है। शताब्दी वर्ष की तैयारियां बड़ी जोरों से चल रही हैं। नि:संदेह कांग्रेस ने ही देश में यत्र-तत्र बिखरी हुई स्वतंत्रता की चिंगारियों को केंद्रीभूत कर इस हेतु एकजुट प्रयास किया था जिससे हम स्वतंत्रता प्राप्त कर सके थे। नि:संदेह ऐसे अवसर पर प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन अपना एक विशेष महत्त्व रखता है।

पुस्तक की सामग्री संकलन हेतु मुझे अनेक संदर्भ-ग्रंथों एवं इतिहास-ग्रंथों की सहायता लेनी पड़ी। अतएव उन ग्रंथों के लेखकों एवं संपादकों का आभारी हूं। पुस्तक को इतने अल्प समय में पाठकों के लिए उपलब्ध कराने में किताब घर के प्रबंधकों ने जो उत्कृट उत्साह एवं सहयोग दिखाया उसके लिए भी मैं अत्यंत आभारी हूं।

—बी० आर० शर्मा

क्रम

बहादुरशाह ज़फ़र

बहादुरशाह जफर भारतीय स्वतत्रता संग्राम के महान् सेनानी थे। वे एक त्यागी और राष्ट्रीय एकता के प्रतीक थे। भारत के अंतिम मुगल सम्राट् बहादुरशाह जफर का जन्म 24 अक्तूबर, 1775 को दिल्ली के लाल किले में हुआ था। उनकी माता का नाम लाल बाई था। उनका लालन-पालन राजकुमारों की तरह हुआ और उन्हें अरबी, फारसी और राजनीति की उच्च शिक्षा दी गई। जफ़र बचपन स ही घुड़सवारी, तलवार चलाने और निशानेबाजी मे अद्वितीय रहे। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् वे सिंहासन पर बैठे। इस समय देश की अवस्था बहुत ख़राब हो रही थी। अंग्रेज भारत मे पूरी तरह फैल चुके थे और अपने साम्राज्य-विस्तार मे लगे हुए थे। अब उन्होंने राजा-महाराजाओ और दिल्ली के सम्राट् के शासन प्रबंध में भी हस्तक्षेप करना आरंभ कर दिया था। ज़फ़र को बचपन से ही अंग्रेज़ों से चिढ़ थी। उनके मन मे यह बात बैठी हुई थी कि अंग्रेज विदेशी हैं, इन्हे देश से निकाल ही देना चाहिए।

जफर जब गद्दी पर बैठे तो देश मे ईस्ट इंडिया कंपनी का जाल बिछा हुआ था। ज़फर यह अच्छी तरह जानते थे कि अंग्रेज बहुत छली-कपटी है, वे कहते कुछ हैं और करते कुछ है। अंग्रेज़ो की यह नीति थी कि वे सम्राट् को किसी-न-किसी बहाने से अपमानित करने की कोशिश करते रहते थे। जब ज़फ़र गद्दी पर बैठे तो कंपनी ने उनकी पेंशन बढाने का वायदा किया किंतु जब बाद में ज़फ़र ने लेफ्टिनेंट गवर्नर से इस बारे मे बात की तो वह अपने वायदे से हट गया। यही नही, उसने जफर पर दबाव डाला कि उन्होंने जो कंपनी पर दावे किए है वे सब वापिस ले लें। वास्तव मे बात यह थी कि ईस्ट इंडिया कंपनी को ज़फ़र से प्रारंभ ही से ख़तरा था और यही मुख्य कारण था कि 1844 मे गवर्नर जनरल ने एक ऐसा आदेश जारी किया जो आगे चलकर अंग्रेज़ों के लिए एक मुसीबत बन गया। अंग्रेज़ों का आदेश यह था, "जब दिल्ली के बादशाह की मृत्यु हो जाए तो उसका उत्तराधिकारी बनाने के सिलसिले मे हर मामले मे उसकी स्वीकृति गवर्नर जनरल से ली जाए।" जहां तक उत्तराधिकारी की बात थी उसमे किसी भी

प्रकार का हस्तक्षेप सम्राट् के अधिकार पर एक बहुत बड़ी चोट थी। इसका प्रमाण 1839 में ही मिल गया। शहज़ादा दाराबख्त की मृत्यु के पश्चात् सम्राट् बहादुरशाह बेगम जीनत महल के पुत्र शहज़ादे जवांबख्त को युवराज बनाना चाहते थे किंतु अंग्रेजों को यह पसंद नही था। वे 'फूट डालो और राज करो' की नीति में विश्वास करते थे। उन्होंने बहादुरशाह ज़फ़र के एक अन्य पुत्र मिर्ज़ा फ़खरू को अपनी तरफ़ मिला लिया और उससे एक प्रतिज्ञापत्र लिखवा लिया कि यदि उसे युवराज बना दिया गया तो वह लाल किला छोड़ देगा और वही पर रहेगा जहा अंग्रेज चाहेंगे। सम्राट् ने इस पर आपत्ति की और उन्होंने वही कुछ किया जो वे चाहते थे। यही से अंग्रेजों के विरुद्ध गहरा असंतोष प्रारंभ हो गया। अंग्रेजो ने मिर्ज़ा फ़खरू को युवराज तो बना दिया परंतु उनका युवराज के प्रति व्यवहार बहुत बुरा था। इस कारण ज़फर को बहुत दुःख हुआ। थोड़े समय के पश्चात् ही मिर्ज़ा फ़खरू की अचानक मृत्यु हो गई। अब फिर युवराज की समस्या सामने आई। बहादुरशाह ज़फ़र फिर जवांबख्त को युवराज बनाना चाहते थे। उनके सभी शहज़ादों ने सहमति प्रकट कर दी और अपने हस्ताक्षर भी कर दिए। परंतु अंग्रेज इस बात पर सहमत नहीं हुए। उन्होंने पुनः घर मे फूट डाली और ज़फर के एक और पुत्र को अपनी तरफ़ कर लिया और उससे मनमानी संधि कर ली। इस संधि ने दिल्ली वासियों क मन में अंग्रेज़ों के प्रति घृणा की भावना पैदा कर दी और पूरी दिल्ली मे क्रोध की अग्नि फूट पड़ी। उधर गवर्नर जनरल ने रेज़ीडेंट को एक पत्र लिखा जिसका थोड़ा-सा अंश इस प्रकार है, "सम्राट् के ऊपरी वैभव और ऐश्वर्य के अनेक भूषण उतर चुके है जिससे उस वैभव की पहले-सी चमक-दमक न रही और सम्राट् के वे अधिकार जिन पर तैमूर के वंशजो को घमंड था एक-दूसरे के बाद छिन चुके हैं इसलिए बहादुरशाह ज़फ़र के निधन के पश्चात् एक मामूली कलम की नोक से बादशाहत सदा के लिए खत्म कर दी जाएगी। सम्राट् को पहले जो कुछ कंपनी की ओर से नज़राना स्वरूप दिया जाता था वह पहले ही बंद किया जा चुका है, कंपनी का जो सिक्का सम्राट के नाम से ढाला जाता था वह भी बंद कर दिया गया। गवर्नर जनरल की मोहर में जो पहले बादशाह का ख़ास नौकर लिखा जाता था उसे भी हटा दिया गया है और हिंदुस्तान के रईसों और उमरावों को मना कर दिया गया है कि वह भी सम्राट् के बारे मे ऐसे शब्दों का प्रयोग न करें। इन सब बातों को ध्यान में रखकर अंग्रेज सरकार ने फैसला कर लिया है कि अब दिखावे की कोई भी ऐसी बात बाकी न रखी जाए जिससे हमारी हकूमत सम्राट् के अधीन मालूम हो। जहां तक सम्राट् की उपाधि का प्रश्न है तो वह अब हमारी सरकार की इच्छा पर है कि उपाधि रखी भी जाए या समाप्त कर दी जाए।"

... गवर्नर जनरल के इस पत्र से ऐसा प्रतीत होने लगा कि अंग्रेज हर तरह से

सम्राट् को नीचा दिखाना चाहते थे और सारे देश की राज्यसत्ता को अपने हाथ में लेना चाहते थे। उनकी यह इच्छा थी कि संपूर्ण भारत पर उनका एकछत्र राज्य हो और सारी भारत की जनता उनकी दास बनकर रहे। सम्राट् के प्रति अंग्रेजों का व्यवहार बहुत ही दुष्टतापूर्ण था जो हिंदू और मुसलमान दोनों को ही पसंद न था। वह इतना असहनीय हो गया कि हिंदू और मुसलमान अंग्रेजों को भारत से बाहर निकालने के लिए तैयार हो गए। इसी कारण 1857 में प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम हुआ। इस संग्राम में हिंदू और मुसलमान दोनों ने ही सम्राट् बहादुरशाह ज़फ़र और बेगम ज़ीनत महल के निर्देश से जो भूमिका निबाही वह भारतवर्ष के इतिहास में एकता और सह-अस्तित्व का अक्षुण्ण प्रमाण है। बहादुरशाह ज़फ़र के मन में अब अंग्रेज़ों के प्रति घोर घृणा बैठ चुकी थी। उनके मन में हर समय यह धुन सवार रहती थी कि किस प्रकार देश से अंग्रेज़ों को बाहर निकाला जाए। इसी बात को ध्यान में रखते हुए उन्होंने सारे देश के राजा-महाराजाओं, नवाबों और ऐसे लोगों से संपर्क स्थापित किया जो उनकी इस योजना में सहायता करें।

इसी समय झांसी की रानी लक्ष्मीबाई, तांत्या टोपे, बिहार-केसरी बाबू कुंवरसिंह, नाना साहब पेशवा; हरियाणा, राजस्थान, महाराष्ट्र आदि के शासकों के मन में भी अंग्रेज़ों के प्रति घृणा पैदा हो गई थी। देश के सभी लोग भारत को स्वतंत्र कराने की कोशिश में लगे हुए थे। बहादुरशाह ज़फ़र ने सारे देश के लोगों से संपर्क करके यह निश्चय किया कि 31 मई, 1857 के पवित्र दिन सारे देश की जनता, राजा, नवाब, महाराजा एक साथ अंग्रेज़ों पर आक्रमण करेंगे और उन्हें भारत से निकाल देंगे। यह योजना बहुत गुप्त ढंग से बनाई गई। कमल का फूल और चपाती क्रांति के चिह्न घोषित किए गए और हरा तथा सुनहरा झंडा क्रांति का प्रतीक चुना गया।

किंतु मंगल पांडे नामक एक बहादुर सैनिक 31 मई तक प्रतीक्षा न कर सका। जब उसे यह पता चला कि सैनिक जो कारतूस प्रयोग करते हैं उसे उन्हें मुंह से खोलना पड़ता है और उनमें अंग्रेज़ों ने भारत के हिंदुओं और मुसलमानों का धर्म नष्ट करने के लिए गाय और सूअर की चर्बी मिला दी है, इस बात को वह सैनिक सहन न कर सका और उसने आवेश में आकर कई अंग्रेज अफ़सरों को मौत के घाट उतार दिया। अंत में अंग्रेज़ों ने इस बहादुर सैनिक को फांसी पर लटका दिया। बस, यहीं से क्रांति की ज्वाला भभक उठी। सारे देश की सैनिक छावनियों में भारतीय सैनिकों ने क्रांति कर दी। जगह-जगह पर अंग्रेज़ों को मारा जाने लगा। मेरठ में बहुत रक्तपात हुआ। अन्त में 31 मई के पूर्व ही 10 मई को क्रांतिकारियों की एक भारी फौज "अंग्रेज़ों का क्षय और बहादुरशाह की जय" बोलती हुई दिल्ली पहुंची। दिल्ली पहुंचकर क्रांतिकारियों

ने बहादुरशाह जफ़र को 21 तोपों की सलामी दी और लाल किले पर हरा और सुनहरा झंडा फहराकर बहादुरशाह जफ़र को देश का सम्राट् घोषित कर दिया। बहादुरशाह जफ़र के झंडे के नीचे भारत के सभी हिंदू और मुसलमान एकत्र हो गए। यह राष्ट्रीय एकता का सबसे बड़ा उदाहरण था।

सम्राट् बनने के बाद बहादुरशाह ज़फ़र ने अपने पुत्र मिर्ज़ा मुग़ल को प्रधान सेनापति पद से हटा दिया और उसके स्थान पर बहादुर सपूत बख्त खां को प्रधान सेनापति बना दिया। उन्होंने उसको कहा, "बहादुर, मुझे तुम पर बडा भरोसा है। मुझे तुम खुदा के हवाले करो और तुम यहा से मैदाने जंग मे जाओ और कुछ करके दिखाओ।" इस अवसर पर बहादुरशाह जफ़र ने देशवासियों के नाम एक सदेश प्रसारित करते हुए कहा, "मेरी यह दिली ख्वाहिश है कि जिस क़ीमत पर और जिस ज़रिये से भी हो सके फिरंगियों को हिंदोस्तान से बाहर निकाल दिया जाए। मेरी यह जबरदस्त ख्वाहिश है कि तमाम हिंदोस्तान आजाद हो जाए लेकिन इस मकसद की पूर्ति के लिए जिस इंक्लाबे जंग की शुरुआत की गयी है वह उस समय तक फतहयाब नही हो सकती जब तक कि कोई ऐसा व्यक्ति जो इस तहरीक के तमामबार को अपने कंधों पर उठा सके और खुद को तमाम कौम का नुमाइंदा कह सके, मैदान मे आकर इस इंक्लाबी जंग की कदायत अपने हाथ मे न ले ले।

"अंग्रेजो के मुल्क से निकाल दिए जाने के बाद अपने ज़ाती फ़ायदे के लिए हिंदुस्तान पर हुकूमत करने की बखुदा मेरी ज़रा भी इच्छा नही है। याद रखें, खुदा ने इंसान को जितनी भी कीमती नेमतें अता की हैं उनमे सबसे बडी बरकत आजादी है। अत हमें हर कीमत पर आजादी की रक्षा करनी है। मैं खुदा को हाज़िर नाज़िर जानकर आपसे यह भी वादा करता हूं कि मुल्क से अंग्रेजो के निकाल दिए जाने के बाद मैं अपने तमाम शाही अख्तेयारात क़ौम के उस शख्स के हाथों सौंप दूंगा जिसे आप लोग चुनेंगे। आप सब लोग यह भी अच्छी तरह सुन लें कि हमारी इस फ़ौज में छोटे और बड़े की तमीज हटा दी गई है और हर फौजी के साथ बराबरी का सलूक किया जाएगा, और आज़ादी की इस पाक जंग में जितने लोग तलवार खींचेंगे वह सब एक समान यश के भागी होंगे।"

बहादुरशाह ज़फ़र एक सच्चे लोकतंत्रवादी थे। उन्होने भारत की जनता को जो संदेश प्रसारित किया उसका जनता के हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसके बाद बहादुरशाह ज़फ़र ने एक अन्य संदेश जारी किया जो इस प्रकार है, "कुछ हिंदू और मुसलमान सरदारों ने जिन्होंने अपने धर्म की रक्षा के लिए अपने घरों को अलविदा कह दिया है और जो भारत से अंग्रेज़ों को उखाड़ फेंकने की पूरी कोशिश कर रहे हैं मा बदौलत के समक्ष उपस्थित हुए और उन्होंने वर्तमान मुक्ति-युद्ध में भाग लिया। इस बात की प्रबल संभावना है कि निकट भविष्य में

मा बदौलत को पश्चिम की ओर से फ़ौजी कुमुक मिलेगी इसलिए सर्वसाधारण के लिए यह इश्तिहार जारी किया जाता है। हर व्यक्ति का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है कि वह इस इश्तिहार का पूरी तरह ध्यान रखे और इसमें कही गयी बातों पर अमल करे। जीविका से वंचित व्यक्तियों को इस संयुक्त संघर्ष में सम्मिलित होना चाहिए, मा बदौलत की ओर से गुज़ारा मिलेगा।"

बहादुरशाह ज़फर का मत था कि हिंदुओं और मुसलमानों के जितने भी प्राचीन लेख हैं या ज्योतिषियों ने जो हिसाब-किताब लगा रक्खे हैं उन सबसे यह ही निष्कर्ष निकलता है कि अंग्रेजों की सत्ता भारत में थोड़े दिन ही रहेगी इसलिए सबको मिलकर इस विदेशी राज्य का मुकाबला करना चाहिए और उसका जल्दी ही अन्त करना चाहिए।

इतिहासकारों का मत है कि जनता बहादुरशाह ज़फ़र को बहुत चाहती थी। वे बहुत ही ऊंचे चरित्र के व्यक्ति थे। वे जनता का पूरा ध्यान रखते थे। यही कारण था कि जनता ने उनकी अपीलों की तरफ़ सदा ध्यान दिया। 1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम में उन्होंने बड़ी दूरदर्शिता से काम लिया। इस अवसर पर उन्होंने भारत की जनता के नाम एक संदेश में कहा, जो अपने-आप में बहुत महत्व रखता है, "ऐ हिंदुस्तान के फ़रज़ंदो, अगर हम इरादा कर लें तो बात की बात में दुश्मन का खात्मा कर सकते हैं। हम दुश्मन का नाम खत्म कर डालेंगे और अपने धर्म और अपने देश को, जो हमें जान से भी ज्यादा प्यारे हैं, ख़तरे से बचा लेंगे।" इन सब ऐलानों का जनता पर ऐसा असर पड़ा कि जनता मुक्तियुद्ध में कूद पड़ी, उसने अंग्रेजों के छक्के छुड़ा दिए और यही कारण था कि पूरी दिल्ली में बहुत-से अंग्रेजों को मार दिया गया, जो बचे थे वे यहां से भाग गए। अंग्रेजों ने भी यह सोचा कि अब वे भारत में नहीं रह सकते; उनका यहां से चला जाना ही उचित है। दिल्ली स्वतंत्र हो गई परंतु बहादुरशाह ज़फ़र की बूढ़ी रगों में पूरे भारत को स्वतंत्र कराने की इच्छा थी। उन्होंने अंग्रेजों को देश से भगाने के लिए कई जोशीले भाषण दिए जिससे जनता का मनोबल ऊंचा हो। उन्होंने स्वतंत्रता को एक बहुत बड़ा वरदान कहा और यह भी कहा कि फिरंगियों ने जनता पर बहुत अत्याचार किए हैं। अब उनके पाप का घड़ा भर चुका है इसलिए वह अवश्य ही फूटेगा। इन सब बातों ने लोगों के दिलों में आग पर घी का काम किया। जगह-जगह पर बगावतें होने लगीं। अब अंग्रेजों को ऊपर से यह आदेश मिला—इस समय भारत पर राज्य करने की बात वे भूल जाएं और किसी भी कीमत पर जैसे भी हो सके हिंदुओं और मुसलमानों को आपस में लड़ा दें।

बहादुरशाह ज़फ़र ने जो एकता स्थापित की थी उसको अंग्रेजों ने अपनी चाल से बदल डाला। उन्होंने रुपया पानी की तरह बहा दिया। कई जगह

लड़ाइयां हुईं। भाई ने भाई को शत्रु बना दिया। बहादुरशाह के समधी इलाही-बख्श ने भारत का सम्राट् बनने के लालच में मीर जाफ़र को अपनी चाल में फंसा-कर और पंजाबी तथा गोरखा सेनाओं की सहायता से गिरफ़्तार करा दिया। दिल्ली पुनः परतंत्र हो गई। दिल्ली को खूब लूटा गया और बहादुरशाह ज़फ़र को गिरफ़्तार कर लिया गया। उनकी बेगमों के साथ दुर्व्यवहार किया गया। बूढ़े बादशाह को बहुत सताया गया।

अन्त में अंग्रेज़ अपनी चाल में सफल हो गए। ज़फ़र को कैद करके दूर रंगून भेज दिया गया। अंग्रेज़ों ने उन पर बहुत अत्याचार किए। उन्हें भूखा-प्यासा रखा गया। अन्त में 7 नवंबर, 1862 को वह स्वतंत्रता का दीवाना अपने देश को स्वतंत्र होते देखे बिना ही इस संसार से विदा हो गया। मरते समय भी उन्होंने यही कहा कि गम मरने का नहीं, अगर कोई ग़म है तो अपने मुल्क में दो गज ज़मीन भी न मिलने का है। वे अंत तक स्वाधीनता के लिए लड़ते रहे और आज भी उनका यह वाक्य हमारे कानों में गूंजता है, "आज़ादी हमारी सबसे बड़ी बरकत है, इसकी हिफ़ाज़त करना हमारा पहला फ़र्ज़ है।"

स्वामी दयानंद

उन्नीसवी शताब्दी में भारत के पुनर्जागरण के लिए जो विविध आंदोलन प्रारंभ हुए, उनमे आर्यसमाज का स्थान सर्वोपरि है। इसके संस्थापक स्वामी दयानंद पुनर्जागरण की उस प्रवृत्ति के प्रतिनिधि थे जिसने अपनी प्रेरणा पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से ग्रहण न कर प्राचीन शास्त्रो से प्राप्त की थी। वस्तुत: स्वाधीनता प्राप्ति का राष्ट्रीय आंदोलन शुरू ही एक सांस्कृतिक पुनर्जागरण से हुआ। भारत मे सदियो के विदेशी शासन के कारण भारतीय संस्कृति और धर्म को बड़ा धक्का लगा। सांस्कृतिक मूल्यों की ओजस्विता जाती रही और उनका ह्रास होने लगा। लोगों मे हीनत्व-भावना बढने लगी। सांस्कृतिक पुनर्जागरण ही इस दुर्दशा का उपचार था। राजनैतिक आंदोलन से पहले उसे आना ही था, क्योंकि उसी के आधार पर किसी ऐसे राजनैतिक आंदोलन की इमारत खड़ी की जा सकती थी, जिसके लिए निष्ठा, साहस तथा आत्मविश्वास की आवश्यकता होती है। इस महान् सास्कृतिक आंदोलन का प्रवर्तन करने वाले नेताओं में स्वामी दयानंद प्रमुख थे। अपने प्रचंड आंदोलन के फलस्वरूप वे एक विवादास्पद व्यक्ति बन गए थे। लोग उन्हें एक महान् समाज सुधारक और सास्कृतिक पुनर्जागरण का पथ प्रदर्शक मानते है। परंतु वे भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के सूत्रधार भी थे, इसे हमें कदापि नही भूलना चाहिए।

महर्षि दयानंद ने अपने प्रमुख ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' में जिस प्रकार राजनीति की चर्चा, देश के लिए स्वराज्य, साम्राज्य और अखंड सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य को प्रस्तुत किया है, उसे पढ़कर स्तंभित होना पडता है। उनका धर्म कोरा कर्मकांडी संप्रदाय नही था। वे राजधर्म के उपासक थे। उनका धर्म व्यक्ति के लिए है और व्यक्तियों की इकाई के बाद जब समष्टि का प्रश्न उपस्थित होता है तब वे उस राजधर्म का प्रतिपादन करते हैं, जिसकी पहली संख्या स्वराज्य है और उससे अगली है अखंड सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य। उनकी यह कल्पना और भावना उनके समस्त साहित्य और जीवन मे ओत-प्रोत है। साम्राज्यवाद की प्रथम सीढ़ी राष्ट्रवाद है। इसी से ऋषि दयानद ने अपने देश के लिए अखंड सार्व-

भौम चक्रवर्ती साम्राज्य की कल्पना की थी। उनकी स्वराज्य कल्पना कितनी सुदर, उत्कृष्ट और विशुद्ध है, यह उनके लेखों से स्पष्ट है।

भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के नेताओ ने देश का आह्वान करते समय अपने समाज की जिन समस्याओ की ओर ध्यान आकर्षित किया है और समाज के जिन क्षेत्रों मे रचनात्मक कार्य के द्वारा गति प्रदान करने की चेष्टा की है, उन सभी समस्याओं को स्वामी दयानंद ने बहुत बल देकर सामने रखा था और सभी क्षेत्रो में कार्य करना आरंभ कर दिया था। वे कार्य-समानता, अस्पृश्यता-निवारण, नारी उत्थान, स्वदेशीयता और हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने के प्रबल समर्थक थे। उत्तर भारत मे राष्ट्रीय आंदोलन के प्रारंभिक दशकों के दौरान हिंदुओ की अधिकांश संख्या स्वामी जी और आर्यसमाज की बड़ी ही प्रशंसक थी। इसका कारण वह महान् सास्कृतिक और समाज-सुधार आंदोलन ही था जिसे स्वामी जी ने आरंभ किया था। उनके जीवन के इस पहलू ने उन्हें एक महान् राष्ट्रीय विभूति का रूप दिया। अतएव वे स्वराज्य के पथगामियों में सर्वप्रमुख स्थान के अधिकारी हैं।

ऐसे महान् ऋषि एवं राष्ट्र-निर्माता का जन्म सन् 1824 ई० मे काठियावाड प्रांत मे मौरवी राज्य के अंतर्गत टकारा नगर में राजमहल के निकट जीवापुर मुहल्ले में हुआ था। महर्षि दयानंद की समस्त बाल्यावस्था-संबंधी सूचना का मूलाधार स्वकथित वृत्त ही है। आर्यसमाज के इतिहास लेखक पं० इंद्र विद्यावाचस्पति लिखते है, "दयनंद के चित्त मे जो-जो विचार-तरंगें उत्पन्न हुई, जो-जो क्रातियां खड़ी हुई, वे आकस्मिक नही थीं, परंतु हमे यह मान लेना चाहिए कि उनके कारणों पर पूरा प्रकाश डालने के साधनों का अभाव है। हम नही जानते कि मूलशंकर के प्रारंभिक गुरु कौन थे और न हमें निश्चयपूर्वक यही ज्ञात है कि उसके खेल के साथी किस श्रेणी के थे। यह जानने का कोई उपाय नही है कि दयानंद में जो दृढ़ता और निर्भयता थी, वह माता की ओर से प्राप्त हुई थी या पिता की ओर से।"

स्वामी दयानंद का पितृदत्त नाम मूलशकर पिता के धार्मिक विचारों को देखते हुए सर्वथा उचित था, क्योंकि पिता कर्षन जी शैव मतानुयायी और शंकर के विशेष भक्त थे। 'मूलशकर' भी शिव की अगाध भक्ति का प्रदर्शक है। श्री कर्षन जी संस्कृतविद्या-प्रिय थे तथा उनके परिवार में वेदपाठ बहुत होता था। यही कारण था कि उन्होंने अपने पुत्र मूलशंकर को भी वेदपाठ कराया था। बालक मूलशंकर की स्मरणशक्ति बहुत तीव्र थी, अतः पाच वर्ष की अवस्था से पूर्व ही उसने अक्षरबोध प्राप्त कर लिया और उसे अनेक वेदमत्र कंठस्थ हो गए थे। आठवें वर्ष उसका उपनयन सस्कार हुआ और वह नियमानुसार वेद पढ़ने लगा। 14 वर्ष की अवस्था तक वह व्याकरण और संपूर्ण यजुर्वेद पढ़ चुका था। पिता की यह

हार्दिक अभिलाषा थी कि उसका पुत्र भी उनके समान शिव का भक्त बने। इसी-लिए उनका सर्वदा यही अनुरोध रहा करता था कि मूलशंकर को नियमानुसार शिव-पूजन, शिवव्रत तथा शिव-कथा-श्रवण का अभ्यास करना चाहिए। अत. उसके अंत:करण में भी इन्ही संस्कारों का बीजारोपण किया गया।

शिवोपासक कर्षन जी प्रत्येक वर्ष शिवरात्रि के अवसर पर मदिर मे शिव जी की पूजा और उपासना बड़ी श्रद्धा से करते थे। वे एक दृढ़ तपस्वी ब्राह्मण, पूर्णत: शास्त्रानुगामी और अपने धार्मिक विश्वासो और व्यवहारों मे विख्यात थे। वे गहन आस्था, दृढ़सकल्प और कर्कश प्रकृति के मनुष्य थे। वे व्रत, उपवास, पूजा, उपासना आदि धार्मिक कृत्यो का पालन स्वय कठोरता से करते थे तथा दूसरों से भी करवाते थे। बालक मूलशकर की अनिच्छा तथा माता के विरोध करने पर भी 14 वर्ष की अवस्था प्राप्त होने पर पिता ने उसे शिवरात्रि का व्रत रखने के लिए तैयार कर लिया। इस व्रत में शिवरात्रि की रात्रि को उपवास रखकर, जागरण करके शिव जी का गुणगान करना पडता है। पूजा के पश्चात् अर्धरात्रि के समय जब सब सो गए तो भी मूलशकर जागता रहा। कुछ समय पश्चात् उसने एक चूहे को शिव जी की मूर्ति पर चढते और भक्तजनो द्वारा चढाए गए नैवेद्य आदि का भक्षण करते हुए देखा। यह विशेष घटना उसके बालमस्तिष्क पर अपूर्व प्रभा-वोत्पादन कर भविष्य-जीवन की मार्ग-निर्धारिणी सिद्ध हुई। मूलशकर ने सोचा कि जो महादेव बड़े-बडे दानवो के व्यतिक्रम को नही सह सकता और त्रिशूल लेकर उनका संहार करता है, क्या वह इस साधारण चूहे को अपने ऊपर से नही हटा सकता ? परंतु उसने आश्चर्य और विस्मय से देखा कि वह शिव निश्चल ही रहा। तब क्या यह प्रतिमा ही वह शिव है जो कैलाश पर निवास करता है; जिसमे संसार का संहार करने की शक्ति है, जिसके त्रिशूल की ज्योति से दानवों के कलेजे काँप जाते है ? वह कोई और ही शिव होगा, इसमें और उसमे अवश्य भेद है :

तुरत लहर इक मन महं आई। पावन परम पुनीत सुहाई॥
लगा विचार करन मन माही। लहा उत्तर 'सो शिव' यह नाहीं॥
चलते फिरते रमते रहते। नित त्रिशूल वह धारण करते॥
अरु डमरू सुंदर कर धरही। वृषभारूढ़ सदा वह रहही॥

इस प्रश्न ने बालक के मस्तिष्क में भ्रांति उत्पन्न कर दी और उसने बडी अशाति का अनुभव किया। उसके शंकाकुल मन को उसका पिता शांत न कर सका। फलस्वरूप उसकी प्रतिमा-पूजा से आस्था उठ गयी।

उपर्युक्त घटना के लगभग दो वर्ष पश्चात् उनकी 14 वर्षीय भगिनी की मृत्यु हुई। तीन वर्ष पश्चात् उनसे अत्यत प्रेम करने वाले चाचा जी की विशूचिका

से मृत्यु हो गई। मूलशंकर का हृदय बहिन की मृत्यु के दृश्य से पहले ही नरम हो चुका था, इस दूसरी चोट ने उसे पूरी तरह वैराग्योन्मुख कर दिया। इन घटनाओं से उनके कोमल हृदय पर असाधारण प्रभाव पड़ा और वह निरंतर मुक्ति के उपाय सोचने में निमग्न रहने लगे। वे सोचने लगे कि "मुझे भी कभी मरना पड़ेगा। क्या इनसे किसी प्रकार बच सकता हूं?" वे विद्वानों और वृद्धों से अमर होने का उपाय पूछने लगे।

मूलशंकर की अन्यमनस्कता और चिंतनशीलता को देखकर माता-पिता ने उसको विवाह-बंधन में बांधना चाहा। पाणिग्रहण का पूर्ण प्रबंध हो चुका था। उधर माता-पिता तो प्रसन्न हो रहे थे और इधर मूलशंकर ने गृहत्याग का प्रण कर लिया था। अंत में वे एक संध्या को अमरत्व और सच्चे शिव की खोज में घर से निकल पड़े।

अमरत्व के पिपासु मूलशंकर ने प्रेममय घर को लात मारकर 22 वर्ष की आयु में वन का रास्ता लिया। 15 वर्ष पर्यंत वे लगभग समस्त भारत के उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में ज्ञान और सत्य की खोज में भटकते फिरे। मूलशंकर को एक ही धुन थी कि मृत्यु से छूटने का उपाय जाना जाय। उन्हें बताया गया कि उसका उपाय 'योग' है। वे सच्चे योगी की खोज में वनों और पर्वतों आदि में भ्रमण करने लगे। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्होंने पर्वत शृंगों एवं गिरि-गुहाओं में प्रवेश कर और घाटियाँ पार करके एक सच्चे जिज्ञासु होने का परिचय दिया। परंतु उन्हें सच्चा ज्ञान कोई प्रदान नहीं कर सका। उन्होंने संन्यासियों से संन्यास लेने का यत्न किया परंतु अल्पायु देखकर वे लोग संकोच करते रहे। अंत में पूर्णानंद सरस्वती से संन्यास लेकर वे शुद्ध चैतन्य स्वामी दयानंद सरस्वती बन गए। उन्होंने सत्य, योग और मोक्ष की प्राप्ति के लिए अनेक कष्ट सहे और तपश्चर्या की तथा हरिद्वार, बदरीनारायण और प्रयाग आदि अनेक स्थानों का भ्रमण किया। परंतु न हिमालय की सर्दी मे हृदय की पिपासा शांत हुई और न गंगा और नर्मदा के जलों ने मानसिक दाह का शमन किया। भ्रमण करते हुए उन्होंने मथुरा के दण्डी स्वामी विरजानंद का यश सुना। यह समाचार सुनते ही उन्होंने मथुरा की ओर प्रस्थान किया और 14 नवंबर, सन् 1860 के दिन मथुरा में स्वामी विरजानंद का द्वार खटखटाया।

प्रज्ञाचक्षु होने पर भी दण्डी स्वामी को दयानंद की प्रतिभा को पहचानने में कोई कठिनाई नहीं हुई। दयानंद ने अपार श्रद्धा के साथ उनसे तीन वर्ष तक विद्या ग्रहण की। इन तीन वर्षों में दण्डी स्वामी विरजानंद के चरणों में बैठकर निरंतर गंभीर अध्ययन द्वारा उन्होंने उस सत्य ज्ञान की प्राप्ति की, जो कि निरंतर भ्रमण से उन्हें उपलब्ध न हुआ था। दण्डी जी से उन्होंने अष्टाध्यायी, महभाष्य आदि व्याकरण ग्रंथों के अतिरिक्त अन्य आर्षग्रंथों का भी अध्ययन किया। प्रतिमा-

पूजन का विरोध, अनार्ष ग्रथो की उपेक्षा आदि के लिए दयानद गुरु विरजानद का आभारी था। वैदिक साहित्य के अध्ययन मे उन्हें प्रतिमा-पूजन, अवतारवाद आदि बातें मिथ्या प्रतीत हुई। विद्याध्ययन समाप्त होने पर उनके पास गुरु-दक्षिणा देने के लिए कुछ नही था। कही से कुछ लौग लेकर वे गुरु के चरणों मे उपस्थित हुए। उस समय दण्डी जी ने कहा, "देश का उपकार करो। सत् शास्त्रों का उद्धार करो। मत-मतातरो की अविद्या को मिटाओ और वैदिक धर्म फैलाओ।" दयानंद ने इस आदेश को अगीकार किया। इस अमूल्य उपदेश को शिरोधार्य करके दयानद गुरु के द्वार से विदा हुए।

गुरु का उपदेश शिरोधार्य करके स्वामी दयानंद ने तत्कालीन भारत में फैले पाखंड, अविद्या और अंधविश्वासो पर प्रबल आक्रमण किया। उस समय हिंदू धर्म अत्यत विकृत हो चुका था। सैंकड़ो मत-मतातर चल रहे थे। प्राचीन चार वर्णो का स्थान दूषित जात-पांत ने ले रखा था। नारी, शूद्र और अछूत ये मानो मनुष्य ही नही थे। ईसाई और इस्लाम धर्म जीर्ण-शीर्ण हिंदू धर्म पर नवोन्मेष के साथ आक्रमण कर रहे थे। डॉ० गोकुलचद नारग के शब्दो मे, "वह समय ऐसा था जब कि ईसाई और मुसलमान हिंदुओं पर निरंतर घृणित आक्रमण करके हिंदुओं के देवी-देवताओं आदि की भरपेट निंदा करते थे।" ऐसी स्थिति में स्वामी दयानद धर्म-प्रचारार्थ निकले। उन्होंने सदियो से प्रचलित अधविश्वासो और रूढ़ियो के खण्डन का बीड़ा उठाया जिसके लिए उन्हें चहुंमुखी लडाई लड़नी पड़ी। गुरु के आदेशानुसार उन्हें—अविद्याग्रस्त मत-मतातरो को हटाना, मूर्ति-पूजा खंडन, मनुष्यकृत ग्रथो के स्थान पर आर्ष ग्रथों का प्रचार, सत्य विद्याओ की आदि पुस्तक वेद की स्थापना करना और समाज मे प्रचलित बुराइयो और धर्म के नाम पर होने वाले अत्याचारो का नाश करना था।

1857 की क्राति के समय स्वामी दयानंद की आयु 33 वर्ष के लगभग थी। विदेशियो द्वारा किए जा रहे सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक आक्रमण को निरस्त करने के लिए, पुरुषसिंह दयानंद रणक्षेत्र मे कूद पड़े। 1855 मे हरिद्वार मे विशाल कुंभ मेला लगा। संन्यासी-गृहस्थी, राजा-रंक सभी इस मेले में सम्मिलित होने के लिए हरिद्वार पहुंच रहे थे। अंग्रेजों के अत्याचार के कारण निर्धनों की जीर्ण-शीर्ण कुटियो से लेकर राजमहलों तक अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह की चिंगारी सुलग रही थी। ऋषि दयानंद इस चिंगारी को दावानल में बदल देने का कार्यक्रम बनाकर पैदल ही आबू पर्वत से दिल्ली होते हुए हरिद्वार जा पहुचे और गंगा पार चण्डी पहाड़ के एकात स्थल में अपना डेरा जमाया। प्रथम स्वाधीनता संग्राम के सेनानी नाना साहब, बाला साहब, अजीमुल्लाखां, तांत्या टोपे, कुंवर सिंह, महारानी लक्ष्मीबाई तथा अनेक प्रमुख नेता वहीं पर ऋषि से मिले। ऋषि दयानंद ने इन सभी को क्राति का विचार, प्रेरणा तथा कार्यक्रम दिया।

ऋषि दयानद साधु-सन्यासियों तथा आम जनता में स्वदेश व स्वधर्म की रक्षा के लिए प्रचार करने लगे। वे साधु-संन्यासियों के सभी संप्रदायो के मठाधीशों से मिले और उनसे भावी युद्ध मे अपने योगदान की प्रार्थना की। परतु उन्हें अत्यंत निराशा हाथ लगी जब विलास मे डूबे मठाधीशों ने कहा कि हमें देश की स्वतंत्रता से कुछ लेना-देना नही, समाज और राष्ट्र के विषय मे सोचना भी हमारे लिए पाप है। हमने तो गृह-संसार का त्याग अपनी मुक्ति के लिए किया है। स्वामी दयानद समझ गए कि इनकी मुक्ति की साधना विलासी जीवन का ही एक प्रकार है। वे प्रच्छन्न रूप से संन्यासियों के दल का गठन करने लगे और उन सबको सैनिक छावनियो मे जाकर स्वाधीनता संग्राम का प्रचार करने का परामर्श दिया। इस सगठन का गुप्त केंद्र दिल्ली के मेहरौली स्थित योगमाया मंदिर को बनाया। इसी मंदिर से समस्त देश की गुप्त सूचनाएं प्राप्त की जाती थी और उचित निर्देश दिए जाते थे।

सन् 1857 की क्रांति से पूर्व एक रोटी भारत के गाव-गांव में घूमती दृष्टिगोचर होती थी। जिस गांव मे यह रोटी पहुचती उस गाव का मुखिया रोटी का कुछ अश स्वय खाकर शेष ग्रामवासियो मे वांट देता था और एक दूसरी रोटी बनाकर अन्य गाव मे भेज दी जाती।

इसी प्रकार एक लाल कमल हर सैनिक छावनी मे घूम रहा था। यह लाल कमल जिस सैन्यावास मे जाता वहा स्वतंत्रता संग्राम की तिथि घोषित हो जाती और लाल कमल चुपचाप बिना किसी के एक शब्द बोले ही एक सैनिक के हाथ से दूसरे सैनिक के हाथ मे पहुचता चला जाता। अंतिम सैनिक के हाथ मे पहुचते ही वह सैनिक देखते ही देखते आंखो से ओझल हो जाता और वह दूसरी छावनी में लाल कमल पहुंचा देता।

इस तरह उस युग में जब आधुनिक काल की तरह यातायात, सूचना और प्रचार की आधुनिक सुविधाओं का एकदम अभाव था, रोटी और लाल कमल ने भारत के जन-जन में क्राति का मंत्र फूक दिया था। यह जानकर आश्चर्य होता है कि रोटी और लाल कमल द्वारा क्राति का प्रचार करने का विचार ऋषि दयानद ने ही हरिद्वार के कुंभ मेले मे स्वतंत्रता सग्राम के सेनानियो को दिया था। इस रोटी और लाल कमल वाली क्राति की भनक अंग्रेजों को तनिक भी न लगी।

दिया । मंगल पाडे भी अन्य स्वतन्त्रता-सेनानियों की भांति ऋषि दयानद से ही प्रेरित थे।

मेरठ छावनी के कतिपय सैनिक नगर मे गए तो भारतीय ललनाओं ने उनकी कायरता के लिए उन्हें धिक्कारा। फलतः 10 मई को मेरठ मे क्राति की घोषणा हो गई और भारतीय सैनिको ने दिल्ली की ओर कूच कर दिया । अब क्राति के इस धधकते दावानल को कौन रोक सकता था ! सारे देश मे एक आग-सी लग गई। दिल्ली, कानपुर, झासी, लखनऊ, इलाहाबाद, मुरादाबाद, कलकत्ता, पटना आदि सभी स्थानों मे भारतीय जनता और सैनिक पराधीन भारतमाता की मुक्ति के लिए अंग्रेजों से जूझने लगे। ऋषि दयानद की अज्ञात जीवनी 'योगी का आत्मचरित्र' नाम से प्रकाशित होने पर ऋषि दयानद के जीवन और तत्कालीन इतिहास पर से रहस्य का पर्दा उठा है और यह सच्चाई सामने आ गई है। नाना साहब, तांत्या टोपे, वीरांगना लक्ष्मीबाई, वीर कुवरसिंह, अजीमुल्लाखा और मुगल बादशाह बहादुरशाह जफर आदि के नेतृत्व मे भारतीय सेना ने अद्भुत पराक्रम दिखाया। अंग्रेजों के छक्के छूट गए।

परतु भारत को अभी और दुर्दिन देखने थे । हमारी विजय पराजय मे परिवर्तित हो गई । अंग्रेजों ने क्रांति के दमन के लिए बडी क्रूरता से प्रतिशोध लिया। महारानी लक्ष्मीबाई और वीर कुवरसिंह ने अग्रेजो से लड़ते-लड़ते वीरगति प्राप्त की । बादशाह बहादुरशाह को देश निर्वासन का दंड मिला । नाना साहब कहा गये ? पेशवा नाना साहब और तात्या टोपे अग्रेजो की आखो से ओझल हो गये और नेपाल मे शरण लेने को चल पडे। लेकिन नेपाल के राजा जंगबहादुर ने विद्रोहियो को आश्रय नही दिया। नाना साहब ने अंग्रेजों की आंखों मे धूल झोकने के लिए यह अफवाह फैला दी कि पेशवा और उनके साथियो को नेपाल के जगलों में जंगली जानवर खा गये । परतु उपर्युक्त अज्ञात जीवनी के अनुसार नाना साहब तांत्या टोपे, दुर्जय राव के साथ साधु वेश में दिल्ली के योगमाया मंदिर से ऋषि दयानंद का पता मालूम करके भारत के धुर दक्षिण मे कन्याकुमारी जा पहुंचे। ऋषि ने नाना साहब को सग्राम में मिली असफलता से निराश होकर आत्महत्या करने से रोका और उन्हे पुनः भारतमाता की सेवा करने की प्रेरणा दी। नाना साहब ऋषि दयानंद से संन्यास की दीक्षा लेकर दयानंद योगेन्द्र के नाम से ऋषि की जन्मस्थली टंकारा में जनता की सेवा करने लगे। यही पर नाना साहब पेशवा की समाधि भी बनी हुई है।

1857 की क्रांति को कुचलने पश्चात् अग्रेज समझने लगा था कि अब भारत मे संभवतः फिर सरलता से कोई स्वतंत्रता का नाम नही ले सकेगा। कुछ सीमा तक उसका सोचना सम्यक् ही था। अपने अत्याचारों मे उन दिनों कोई कसर अंग्रेजों ने उठाकर नही रखी। जितना रक्त इस क्रांति में बहा वह अपना उदाहरण

नही रखता। खोज-खोजकर अंग्रेजों ने उन सबको फांसी के घाट उतारा, जिसमें स्वतंत्रता की कुछ भी तड़प शेष रह गई थी। दिल्ली, कानपुर, झांसी, इलाहाबाद और ग्वालियर के निवासी तो आज भी उन दृश्यों की कल्पना करके कांप उठते हैं। फिर जिन पर यह सब बीती होगी उनका भला क्या हाल रहा होगा? क्रांति उस समय किसी भांति दब तो गई, पर अंग्रेज बराबर आशंकित बना रहा। उसने पग-पग पर अपने गुप्तचर बिठा दिये। कलम बंद कर दी और ज़बानों पर भी ताले डाल दिये। न कोई कुछ लिख सकता था और न कुछ बोल सकता था। ऐसी अवस्था में स्वतन्त्रता की आवाज उठाना कोई सरल काम नही था।

कुछ अधकचरे इतिहासकारों ने 1857 की क्रांति के बाद 1885 तक के काल को भारतीय स्वराज्य आंदोलन की दृष्टि से अंधकार का समय माना है। उनकी दृष्टि में इन 28 वर्षों में स्वराज्य की आवाज़ उठाने वाला ही कोई देश में नहीं रह गया था। बहुत कम लोग हैं जो इस तथ्य से भी परिचित हैं कि इसी अंधकार के समय भारतीय आकाश में स्वतंत्रता का एक प्रकाशमय नक्षत्र उभर-कर सामने आया। वह था गुजरात निवासी दयानंद। उनका कार्य-क्षेत्र कश्मीर से कन्याकुमारी तक सारा देश था।

स्वामी जी ने जब अपनी आंखों से सैकड़ो स्वतन्त्रता-प्रेमियों को तोपों के मुह से बांधकर उड़ाये जाते देखा और हजारों को चौराहे के पेड़ों पर लटकाकर फासी लगते देखा तो आपका खून खौल पड़ा। अंग्रेज़ों की इन ज़ालिमाना हरकतों से वे तिलमिला उठे। पहले उन्होंने क्रांति के मूल मे जाकर उसकी असफलता के कारणों का पता लगाया। उनका विचार था—देशी रियासतों ने भी यदि उस समय स्वाधीनता संग्राम में अपना कंधा लगा दिया होता तो भारत नब्बे साल पहले ही स्वतंत्र हो जाता। पर कुछ देशी रियासतों ने क्रांति का साथ देना तो दूर उल्टे अंग्रेज़ों का ही साथ देकर अपने मुह पर ही कालिख पोत ली। एकाध छावनियों मे क्रांति की चिनगारियां उठी, पर अधिकांश छावनियो में क्रांति की वह हवा पहुंच नही सकी। इन दोनो बातो को स्वामी जी ने गांठ बांध लिया।

कुछ समय आगरा, अजमेर आदि मे प्रचार करके स्वामी जी ने सन् 1867 ई० के अप्रैल मास मे कुभ के अवसर पर हरिद्वार और ऋषिकेश के मध्य अपनी पाखंडखंडिनी पताका स्थापित की। यह प्रथम अवसर था जब स्वामी जी ने एक विशाल जनसमूह के सम्मुख हिंदू समाज मे प्रचलित अनाचारों और बुराइयों का खंडन करके वैदिक धर्म का प्रतिपादन किया। उसके पश्चात् स्वामी जी ने विभिन्न सम्प्रदायों के विद्वानो से काशी, प्रयाग, अजमेर आदि अनेक स्थानों पर शास्त्रार्थ किये, जिनसे उनका यश चतुर्दिक् व्याप्त हो गया। सर्वत्र उनके गभीर पांडित्य, स्पष्ट विचारों, निर्भीक उक्तियों तथा हिंदू धर्म की नूतन व्याख्याओ

ने देश के अनेक लोगों को उनके उपदेश सुनने के लिए आकर्षित किया। शिक्षित वर्ग स्वामी जी के मुख से गुण-कर्म द्वारा वर्णाश्रम की मान्यता, बाल-विवाह खंडन, विधवा-विवाह की आवश्यकता और एकेश्वरवाद का प्रचार आदि सामयिक सर्वग्राह्य सिद्धांतों का प्रतिपादन सुनकर आकर्षित हुआ। उन्होंने निर्भीक स्वर में मूर्ति-पूजा, बहुदेवोपासना आदि को मूल भारतीय धर्म के विरुद्ध घोषित करते हुए समाज में प्रचलित अंधविश्वासों पर एक सच्चे संस्कारक की तरह जोरों से प्रहार किया और जातिगत ऊंच-नीच-संबंधी भावनाओं की जड़ उखाड़ने के सत्कार्य से लेकर शिक्षा-प्रसार, बाल-विवाह निषेध, स्त्रियों के पुनरुद्धार आदि विविध राष्ट्रहितमूलक सुधारों की ओर खुलकर अपना हाथ बढ़ाया। इस प्रकार भारतीय समाज को एक ही सूत्र में संगठित करने के महान् अनुष्ठान में इस प्रखर संन्यासी ने अपने ढंग से अभूतपूर्व योग दिया। विरोधियों के लाख हाथ-पैर पटकने पर भी उसका दुर्द्धर्ष तेज किसी के दबाए न दबाया जा सका। उसने इस देश के धर्म-आंगन में एक व्यापक क्रांति का सूत्रपात कर दिया, जिसने कालांतर में हमारे जीवन के अन्य अंगों को भी हिलाने में परोक्ष अथवा अपरोक्ष भाव से अमूल्य सहायता दी। निश्चय ही स्वामी दयानंद जैसे नेताओं द्वारा प्रज्वलित चिनगारियों ही ने आगे चलकर उस प्रचंड सर्वव्यापी क्रांति की लपट को जन्म दिया, जिसने आधुनिक भारत के कलेवर में फिर से एक विद्युत्चेतना का संचार कर दिया।

प्रचार कार्य करते-करते सन् 1872 ई० के दिसंबर मास में स्वामीजी भारत की तत्कालीन राजधानी कलकत्ता पहुंचे। वहां के लाट पादरी ने महर्षि की भेंट भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड नार्थब्रुक से करवाई। लार्ड नार्थ-ब्रुक ने स्वामी दयानंद से वार्तालाप के समय यह प्रस्ताव रखा कि आप अपने प्रवचनों में अखंड अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना के लिए प्रार्थना किया करें। स्वामी जी ने निर्भयता से लार्ड को दो टूक उत्तर दिया कि अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना के लिए प्रार्थना करना तो दूर रहा, मैं तो सदैव ही भारत की स्वतंत्रता और अंग्रेजी राज्य के नाश के लिए प्रार्थना करता रहता हूं। वह वार्ता वहीं भंग हो गई।

लार्ड नार्थब्रुक ने यह घटना अपनी एक साप्ताहिक डायरी में इंडिया आफिस लंदन भेजी और महारानी विक्टोरिया की सरकार के सेक्रेटरी आफ़ स्टेट को लिखा कि उसने इस बागी फ़कीर की कड़ी निगरानी करने के लिए गुप्तचर नियुक्त करने के आदेश दे दिए हैं। देखते-देखते स्वामी दयानंद अंग्रेजों की सूची में शत्रु नंबर एक का स्थान पा गये। अतएव यह सत्य है कि 'पूर्ण स्वतंत्रता' का नारा सर्वप्रथम 'सत्यार्थ प्रकाश' के रचयिता ने वायसराय नार्थब्रुक के घर पर 1872 ई० में लगाया था और उसका स्थिर बीजारोपण 'सत्यार्थ प्रकाश' में किया

था, जिसे इस घटना के बाद शीघ्रातिशीघ्र मुद्रित करवाने की योजना बनाई गयी।

कलकत्ता में स्वामी जी ने अपने युग के धर्म के क्षेत्र के अन्य तीन प्रमुख भारतीय महापुरुषों—रामकृष्ण परमहंस, देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचंद्र सेन से भेंट की। केशवचद्र सेन के नेतृत्व मे ब्रह्मसमाज ने उनका हृदय से स्वागत किया और अपने कार्य में सहयोग की आशा से उनकी ओर भ्रातृत्व का हाथ बढाया। किंतु स्वामी दयानद का उनके साथ पटना मुश्किल था। वह स्वयं पाश्चात्यीकरण के घोर विरोधी और वेदों की भित्ति पर प्रस्थापित विशुद्ध आर्यधर्म ही के प्रबल उपासक थे, जबकि केशवचद्र सेन के नेतृत्व में ब्रह्मसमाज अधिकाधिक ईसाइयत और पाश्चात्य विचारों की ओर ही झुकता चला जा रहा था। हां, श्री केशवचद्र सेन के परामर्श से आपने जनता मे संस्कृत के स्थान पर हिंदी मे भाषण देना आरभ कर दिया।

ब्रह्मसमाज का संगठन देखने के पश्चात् स्वामी दयानंद के मस्तिष्क में विचार उठा कि कोई ऐसा संगठन बना दिया जाय जो उनके द्वारा प्रतिपादित वैदिक सिद्धातों का प्रचार करे और उनके पश्चात् भी कार्य सुचारु रूप से चलता रहे। वस्तुत: उन्हें अब दिन पर दिन देश मे बढते चले जा रहे पश्चिम के प्रभाव और ईसाई मत की ओर कुछ शिक्षित लोगों के खतरनाक झुकाव को राष्ट्रीय हित की दृष्टि से रोकने के लिए एक निश्चित-सुसंगठित प्रयास करने की आवश्यकता दिखाई देने लगी थी। वह स्वय एक ऐसी धर्मवेदी की संस्थापना करने के लिए उत्कंठित थे जो वेदो की नीव पर पुन: आर्यसमाज का झंडा खड़ा कर सारे देश को क्रमश: एक ही धर्मसूत्र मे बांध दे। उनका यह विचार उनके अंतस्तल मे से बाहर आकर अब स्थूल रूप में मूर्तिमान होने के लिए अवसर ढूढ़ रहा था। अंत में वह सुअवसर भी आ पहुंचा और दो वर्ष बाद बंबई में 10 अप्रैल, सन् 1875 ई० के दिन अपने सबसे महान् स्मारक 'आर्यसमाज' नीव डालकर उन्होंने उस धर्मवेदी की प्रस्थापना कर दी, जिससे कि आज दिन सब कोई परिचित है। यह प्रथम अवसर था कि स्वामी जी के विचारों में दृढ़ आस्था रखने वाले स्वसंगठन बनाने के लिए एकत्र हुए। स्वामी जी के अनुयायियों की संख्या अब तक सहस्रों से अधिक हो चुकी थी। वे लोग विकीर्ण पुष्पों की भाति इधर-उधर बिखरे पडे थे, उनकी माला तैयार नही थी। संगठित न होने से उनकी शक्तियां बहुत फैली हुई थी, परंतु उनका कोई केंद्र नही था। इस अभाव को स्वामी जी के शिष्य वर्षों से अनुभव कर रहे थे। एक ऐसी संस्था की आवश्यकता थी, जो अंधविश्वास, रूढ़िवाद, आडंबर एवं प्रचलित धार्मिक अनाचारों से मुक्त हो, जो राष्ट्र को एक सूत्र में बांध सके और वैदिक सिद्धांतो का प्रचार कर सके। स्वामी जी ने आर्य-समाज की स्थापना कर इस कमी को पूरा कर दिया।

उपर्युक्त संगठन कार्य के पश्चात् स्वामी जी ने अपना कार्यक्षेत्र देशी रियासतो और सैनिक छावनियो वाले नगरो को ही चुना। जितनी भी आर्य-समाज की शाखाये अपने जीवनकाल मे उन्होने खोली वे भी प्रायः उन्ही नगरो मे प्रारभ हुई जहा सैनिक छावनियां थी। बबई, पूना, कलकत्ता, पेशावर, लाहौर, लखनऊ, कानपुर, रुडकी, देहरादून, मेरठ और मऊ आदि नगर उन्ही मे से थे। अपने भ्रमण का भी कार्यक्रम ऐसे ही अधिकाश नगरो मे स्वामी जी ने रखा जहां अच्छी सख्या में भारतीय सैनिको की टुकडियां रहती थी। उन दिनों आर्यसमाज के धार्मिक सत्संगो मे सैनिक अधिकारी भी प्रत्येक स्थान पर अच्छी सख्या में आने लगे थे। स्वामी जी के भाषणो में सम्मिलित होने के अतिरिक्त उनके ग्रथो के स्वाध्याय की प्रवृत्ति भी सैनिकों मे अच्छी चल पड़ी थी।

स्वामी जी द्वारा लिखित प्रमुख ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' और वेद की व्याख्या मे भी स्थान-स्थान पर पराधीनता के जुए को उतार फेकने की चर्चाए लिखी मिलती है। 'प्रभो, हमारे देश मे कभी विदेशी राजा का राज न रहे' इस तरह की प्रार्थनायें भी उपासना मत्रो मे स्वामी जी ने सम्मिलित की। "कोई कितना ही करे, परंतु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है।...प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय एवं दया के साथ विदेशियो का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नही है।" स्वामी जी ने 'सत्यार्थ प्रकाश' मे यह शखनाद उस समय किया था, जब भारत मे ब्रिटिश साम्राज्यशाही की जडें पाताल तक पहुंच चुकी थी, जब स्वतंत्रता की बात करना राजद्रोह समझा जाता था, जब भारत को स्वराज्य दिलाने का श्रेय लेने वाली 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' बनी भी नही थी, जब स्वतत्रता आदोलन का सबसे बड़े नेता कहलाने वाले महात्मा गांधी अभी 5-6 वर्ष के बच्चे थे और जब विदेशो मे जाकर 'आज़ाद हिंद सेना' बनाकर अंग्रेज़ों को भारत को स्वराज्य देने पर बाध्य करने वाले नेताजी सुभाषचंद्र बोस का अभी जन्म नही हुआ था। डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी के शब्दों में, "महर्षि दयानंद ने 'सत्यार्थ प्रकाश' मे एक स्वतंत्र भारत की कल्पना की थी जिसमें स्वकीय संस्कृति तथा सभ्यता की अमूल्य परपराएं अक्षुण्ण रहे।" लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने 'सत्यार्थ प्रकाश' के रचयिता को 'स्वराज्य का सर्वप्रथम मंत्र दाता' कहा था और स्वातन्त्र्य वीर सावरकर ने 'स्वाधीनता संग्राम का सर्वप्रथम योद्धा।'

'सत्यार्थ प्रकाश' की निर्माण-योजना सन् 1863 मे आरंभ हो चुकी थी। उस समय भारत मे विदेशी सरकार का भारी आतंक छाया हुआ था। आर्य (हिंदू) जाति पूरी तरह निराश हो चुकी थी। भारत की आत्मा मानो सो चुकी थी। समाज कुरीतियों एव अंधविश्वासों के दलदल में फंसकर पतनोन्मुख हो चुका था? कोई मार्ग दिखाई नही देता था। एक दिव्य द्रष्टा महर्षि थे, जो अपने के

प्राचीन ऋषि-मुनियों का उत्कृष्टतम प्रतिनिधि था, आर्यजाति को हिलोरे दे-देकर उस समय जगाना आरंभ किया और उसका आधार ग्रंथ बना, 'सत्यार्थ-प्रकाश'।

'सत्यार्थ प्रकाश' के दूरद्रष्टा लेखक ने भारत के कोने-कोने में भ्रमण कर व्याख्यानों एवं शास्त्रार्थों द्वारा जहां 'स्वधर्म, स्वदेशी, स्वभाषा, स्व-सस्कृति' का प्रचार किया, वहां उन्होंने 'सत्यार्थ प्रकाश' लिखकर इन उदात्त भावनाओं के स्थिरीकरण की योजना बनाई। इन सबके मूल मे था 'स्वराज्य' का तीव्र स्वर, उनका दृढ़ मत था कि देश में अपना राज्य हुए बिना न ठीक प्रकार से ईश्वर की भक्ति हो सकती है, न धर्म का प्रचार, न राष्ट्र मे सम्पन्नता आ सकती है, न समाज-सुधार किया जा सकता है। भारत को स्वतंत्र करने के लिए धधकती ज्वाला हृदय में रखने वाले युगपुरुष ने अपने अमर ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' मे आर्यों के चक्रवर्ती राज्य की याद देशवासियों को दिलाई और उनमें नई चेतना भरने के लिए लिखा, "सृष्टि से लेकर महाभारत पर्यन्त चक्रवर्ती, सार्वभौम राजा आर्यकुल मे ही हुए थे, अब इनके संतानों का अभाग्योदय होने से राजभ्रष्ट होकर विदेशियों के पदाक्रांत हो रहे है।"

'सत्यार्थ प्रकाश' का एक पूरा समुल्लास ही उन्होंने राजधर्म की व्याख्या मे लिखा है। उन दिनों सरकारी कार्यालयों मे देशी जूते पहनकर जाने पर प्रतिबंध था। स्वामी जी को यह बात चुभी। उन्होंने इस ग्रंथ मे एक स्थान पर लिखा, "जब इन लोगों को हमारे देश के बने हुए जूतों से भी इतनी घृणा है, तब हमारे देश के मनुष्यों से तो पता नही कितनी घृणा इन्हे होगी।" दोनों हाथों से अंग्रेजों द्वारा भारतीय संपदा की लूट का वर्णन करते हुए इसी ग्रंथ मे उन्होंने एक स्थान पर लिखा है, "हमने सुना है, पारस पत्थर नाम का कोई ऐसा पत्थर होता है, जिसके स्पर्श से लोहा सोना हो जाता है परंतु आज तक यह पत्थर किसी के देखने मे नही आया। हमारा तो अनुमान यह है कि भारत देश ही वह पारस पत्थर है जिसमे बाहर से जो भी दरिद्र विदेशी लोहा बनकर आए वे यहां से सोना बनकर ही गए।" इस प्रकार जिन परिस्थितियों मे स्वामी जी देश मे आजादी की अलख जगाते फिर रहे थे उसकी कल्पना भी आज आसानी से नही हो सकती।

वस्तुतः स्वराज्य और स्वदेशी की ऐसी लहर महर्षि दयानंद ने चलाई जिससे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के निर्माण की पृष्ठभूमि तैयार हो गई। कांग्रेस आंदोलन में तीव्रता तब आई जब 'सत्यार्थ प्रकाश' की 'स्वराज्य-भावना' से प्रेरणा पाने वाले श्री गोविन्द रानाडे, श्री गोपालकृष्ण गोखले, पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा, स्वामी श्रद्धानंद, लाला लाजपतराय, भाई परमानद, प० रामप्रसाद बिस्मिल, अमर शहीद भगतसिंह जैसे धीर-वीर महापुरुष स्वतंत्रता संग्राम में कूद पड़े। मौलाना हसरत मोहानी तक के मुंह से निकला था, "लगभग नब्बे

प्रतिशत आर्यसमाजी स्वराज्य के कार्यों में भाग लेने वाले लीडर थे, जबकि अन्य सोसाइटियों के मुश्किल से 2-3 प्रतिशत आदमी ही स्वराज्य का काम करते थे।" 'सत्यार्थ प्रकाश' से प्रेरणा प्राप्त कर गुरुकुल कांगड़ी और डी० ए० वी० के रूप में चले राष्ट्रीय शिक्षा आदोलनों के युवकों ने अंग्रेजों की नीद हराम कर दी थी। क्रांतिकारियों में अग्रणी सरदार भगतसिह डी० ए० वी० कालेज, लाहौर के ही छात्र थे।

गाय का प्रश्न भी 1857 के विद्रोह में एक प्रमुख आधार बना। उस समय जो कारतूस बंदूकों मे लगते थे, उनमे गाय की चर्बी का भी प्रयोग होता था। बंदूक भरने के पूर्व सिपाहियों को कारतूस का खोल मुह से तोडना पडता था। जब सिपाहियों को यह पता लगा कि इसमे गाय की चर्बी लगती है तो उनकी धार्मिक भावना का भडक उठना स्वाभाविक था। कई स्थानो पर तो सिपाहियों ने इसका स्पष्ट विरोध भी किया पर उन्हे अपेक्षित सफलता नही मिली। सिपाहियों को हथियार उठाने में गाय के प्रति श्रद्धाभाव ने भी उस समय आग मे घी का काम किया। स्वामी जी की दृष्टि भी उस ओर गयी। नीति के नाते और नैतिक दृष्टि से भी उन्होंने उस महत्त्वपूर्ण प्रश्न को खूब उभारा। स्वामी जी ने 1857 के बाद गाय की उपयोगिता पर ही एक पुस्तक 'गोकरुणानिधि' लिखी। इसमें एक स्थान पर तो यहां तक स्वामी जी ने लिख दिया, "जो गाय के रक्षक नही है, भक्षक हैं, वे म्लेच्छ हैं। भारत की पुण्यभूमि मे एक क्षण भी म्लेच्छों को रहने का अधिकार नही है।" महारानी विक्टोरिया को गोवध बंद कराने के लिए एक स्मृति-पत्र भी उन्होंने उन्ही दिनो भिजवाया था। संपूर्ण देश से दो करोड़ हस्ताक्षर इस पर कराने का अभियान चलाया गया। इस तरह स्वतंत्रता की तड़प उत्पन्न करने में जो भी कारण सहायक बन सकते थे, उन सबका ही स्वामी जी ने प्रयोग किया।

गुजरात मे उत्पन्न होने के कारण महर्षि की मातृभाषा गुजराती थी। उनकी शिक्षा-दीक्षा सारी संस्कृत में हुई पर उन्होंने अपने भाषणों और ग्रंथों का माध्यम हिंदी को बनाया। उन्होंने हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने की आवश्यकता पर बल दिया और हिंदी भाषा का प्रचार करने को कहा। साथ ही ज्ञान-वृद्धि के लिए किसी भी भारतीय मूल की आंचलिक भाषा के सीखने के वे विरुद्ध नही थे। किंतु जब उनका पदार्पण भारतीय सार्वजनिक रंगमंच पर हुआ तो भारत मे राजनीति एवं राष्ट्रीय एकता को बांधने वाला कोई सूत्र नही था। तब उन्होंने साहस के साथ एक निर्णय लिया कि आरंभ में बोल-चाल के लिए टूटी-फूटी हिंदी ही चलेगी, किंतु देवनागरी में हिंदी भारती (आर्य भाषा) में ही अपने ग्रंथ लिखूगा। हिंदी के लिए उनका यह संकल्प एक नीव का पत्थर सिद्ध हुआ। आर्यसमाज ने उस स्वप्न

को साकार कर दिखाया। विकृत-विखंडित समाज को एक दिशा सूत्र प्रदान करने मे ऋषि दयानंद एवं आर्यसमाज अग्रणी रहे।

एक सज्जन ने स्वामी जी के सम्मुख यह सुझाव रखा कि आप अपने ग्रंथों को विदेशी भाषाओं में विशेषतः फारसी में अनुवाद करवायें तो उन्होंने कहा, "अनुवाद प्रायः विदेशी लोगों के लिए ही होना चाहिए।" अपने देशवासियों मे स्वय अपनी राष्ट्रीय भाषाओं के माध्यम से साहित्य-सृजन होगा तो एकता एवं संगठन भी इसके संपर्क से निश्चय ही आ जायेगा। मुसलमान मित्र भारतवासी होकर यदि अपने देश की भाषा को भी न अपनाये तो और उनसे क्या आशा की जा सकती है? राष्ट्रऋषि दयानंद ने अपने व्याख्यानों में यह उत्कट इच्छा प्रकट की कि मैं तो वह दिन देखना चाहता हूं कि जब हिमालय से लेकर सागर तक एवं सारे ब्रह्मवर्त, आर्यावर्त में देवनागरी लिपि मे ही सभी आर्यभाषाओं को अपनायें। क्योंकि देवनागरी अक्षरों को ही देवनागरी कहलवाने का सौभाग्य प्राप्त है और आगे जहा उसके व्याकरण का प्रश्न है उसकी सक्षमता, श्रेष्ठता को संसार के सभी भाषाविदों एवं अन्य विद्वानों ने निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लिया है।

वस्तुतः स्वामी जी भली भांति जानते थे कि हिंदी के द्वारा देश को जगाने में सरलता रहेगी। एक बार स्वामी जी की अंग्रेजी से अनभिज्ञता पर खेद प्रकट करते हुए ब्रह्मसमाज के नेता श्री केशवचंद्र सेन ने कहा, "महाराज, आपने एक बहुत बड़ी भूल की जो अंग्रेजी नही पढ़ी। यदि आप अंग्रेजी जानते तो वेदों का संदेश अमरीका, इंग्लैंड और जर्मनी में भी जाकर देते।" इस पर स्वामी जी ने हंसकर कहा, "केशव बाबू, एक भूल आपसे भी हुई। आपने संस्कृत नही पढ़ी। यदि आप संस्कृत जानते तो एक और एक ग्यारह पहले हम दोनों मिलकर अपने घर का सुधार करते, बाद में समय रहता तो बाहर भी चलते।" स्वामीजी का विचार था, पराधीन देश के रहने वाले क्या संसार की आंखें खोलेंगे! उदयपुर के तो अपने एक भाषण में उन्होंने राष्ट्रीय एकता के लिए समग्र देश में एक भाषा का होना भी बहुत आवश्यक बताया था।

स्पष्ट है कि प्रथम स्वाधीनता संग्राम की असफलता के बावजूद स्वतंत्रता का संघर्ष रुका नही। ऋषि दयानंद देश की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक क्रांति के लिए वेद प्रचार के माध्यम से नवीन उत्साह व साहस से पुनः जुट गये। उन्होंने स्वयं श्यामजी कृष्ण वर्मा को विदेश भेजकर क्रांति की अग्नि शिखा को प्रज्वलित रखने की प्रेरणा दी। प्रसिद्ध क्रांतिकारी रामप्रसाद बिस्मिल ने अपनी आत्मकथा में एक स्थान पर लिखा है, "मैंने आर्यसमाज, शाहजहांपुर के उत्सव मे एक आर्य संन्यासी के मुख से यह सुना कि भाई परमानंद को फांसी दी जायेगी। मैंने उसी समय अपने मन मे फैसला कर लिया— जब तक मैं भी उसके बदले मे दस अंग्रेजों को मौत के घाट नही उतार दूंगा तब तक चैन से

नही वैठूगा ।" श्री बिस्मिल ने वहां लिखा है कि मेरे क्रांतिकारी जीवन के प्रारभ की यही से बुनियाद पडी। उसके बाद ही मैने रिवाल्वर चलाने और निशाना लगाने की ट्रेनिंग ली। क्रांतिकारी वीर सावरकर ने स्वामीजी को विदेशीपन मे देश को सावधान करने के कारण मानसिक दासता से मुक्त करने वाले काया-कल्प का जनक कहा है।

अंग्रेज गुप्तचर ऋषि दयानंद के पीछे लगे हुए थे। गुप्तचरों से पता लगा कि यह साधु धर्म-प्रचार की आड मे फिर से देश को एक नई क्रांति के लिए तैयार कर रहा है। अंग्रेजो ने जोधपुर दरबार से इसके लिए कुछ गुप्त पत्र-व्यवहार भी उन्ही दिनो किया। अभी तक वे सब बातें तो पूरी तरह सामने नही आ सकी पर स्वामी जी की असामयिक मृत्यु मे अंग्रेजो का भी निश्चित हाथ बताया जाता है। जोधपुर में उनको विष देने के बाद जब आबू मे वे अपनी चिकित्सा करवा रहे थे तब ही कुछ डाक्टरों के माध्यम से यह सब षड्यत्र किया गया। फलस्वरूप 30 अक्तूबर, सन् 1883 ई० को आधुनिक जाग्रत् भारत के अग्रदूत महर्षि दयानद का देहावसान हो गया। कवि नाथूराम शंकर 'महर्षि-महिमा' कविता मे लिखते है :

"हारे प्रतियोगी पड़ी मत पन्थों पर गाज।
धार दया आनन्द से, उमगा आर्यसमाज॥
प्यारे वैदिक धर्म से, कर हमको संयुक्त।
त्याग देह को हो गये, दयानंद ऋषि मुक्त॥"

महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगौर ने कहा, "आधुनिक भारत के मार्गदर्शक महर्षि दयानद जी सरस्वती को मैं सादर श्रद्धांजलि समर्पित करता हूं।" पाल रिचार्ड ने लिखा, "स्वामी दयानद नि.संदेह एक ऋषि थे। उनका प्रादुर्भाव लोगो को कारागार से मुक्त करने और जाति बंधन तोडने के लिए हुआ था।"

स्वामी जी की मृत्यु के पश्चात् आर्यसमाज को भी अंग्रेजों ने संशकित दृष्टि से देखना प्रारंभ कर दिया। आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संगों मे गुप्तचर भेजे जाने लगे। वहां क्या उपदेश होते हैं और क्या चर्चाएं होती है इसकी रिपोर्ट जाने लगी। उधर आर्यसमाज के नेताओं ने खुलकर अंग्रेजों को भारत से बाहर निकालने के लिए बीड़ा उठा लिया। लाला लाजपतराय को जब काले पानी की सजा हुई और उन्हे मांडले जेल भेजा जाने लगा तब सरकार ने आर्यसमाज के साथ लाहौर डी० ए० वी० कालेज कमेटी के सदस्यों पर भी कडी दृष्टि रखनी प्रारभ कर दी। स्वामी श्रद्धानंद द्वारा स्थापित गुरुकुल कागडी को भी अंग्रेज मुक्ति संग्राम का प्रशिक्षण केंद्र मानने लगे।

ऋषि दयानंद की मृत्यु के पश्चात् अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानंद, लाला

लाजपतराय, रामप्रसाद बिस्मिल, शहीद भगतसिंह आदि ऋषि के मानस-पुत्र स्वतंत्रता संग्राम में अपने प्राणों की आहुतियां देते रहे। महात्मा गांधी के नेतृत्व में लड़ी गई लड़ाई मे भी ऋषि के शिष्यों की संख्या कम नहीं थी। ऋषि द्वारा प्रज्वलित यह क्रांति की ज्वाला बुझी नही और उनकी भविष्यवाणी के अनुसार ठीक नब्बे वर्ष पश्चात् 15 अगस्त, 1947 को एक लम्बे व अनथक संघर्ष के बाद शताब्दियों की पराधीनता से देश स्वतंत्र हुआ।

इस प्रकार ऋषि दयानंद और उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाज ने देश के स्वतंत्रता संग्राम में प्रारंभ से ही अपनी क्रांतिकारी भूमिका निभायी। गांधी जी और लोकमान्य तिलक के साथ तो बहुत बड़ी संख्या मे आर्यसमाजी रहे ही, परंतु अंग्रेजों को भारत से निष्कासित करने मे जिन क्रांतिकारियों ने हथियार उठाये, उनकी भी एक अच्छी संख्या आर्यसमाज से गई। उत्तर प्रदेश, पंजाब और सीमा प्रांत मे तो उन दिनों आर्यसमाज राष्ट्रीय संगठन का पर्यायवाची-सा बन गया था। यहां के अनेक देशभक्त स्वामी दयानंद के अनुयायियों में से ही निकले। कांग्रेस के प्राय: सभी प्रमुख नेता कई बार जब जेलों मे बंद कर दिये गये, तब आर्यसमाज का ही ऐसा मंच था जिसने राष्ट्रीयता की मशाल जलाये रखी। वस्तुतः स्वामी दयानंद ने अपने उपदेशों, लेखों और निजी आदर्श एवं श्रेष्ठ चरित्र द्वारा देश मे जो जागृति उत्पन्न कर दी थी, उससे भावी राजनीतिक नेताओं का कार्य बहुत सुगम हो गया। अत: नि.संदेश वे एक महान् राष्ट्र-निर्माता हैं।

बाल गंगाधर तिलक

"स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं उसे लेकर रहूंगा" के उद्घोषक लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का स्थान स्वराज्य के पथ-गामियों मे अग्रणीय है। उनकी दृढता का महामंत्र देश-विदेश मे विद्युत् की तीव्रगति की तरह गूंजा और दलितों एवं पीड़ितों के लिए अमर संदेश बन गया। स्वतंत्र भारत का बच्चा-बच्चा इस बात से परिचित है कि उपर्युक्त मंत्र को फूंकने वाले तिलक ही थे। भारतीय स्वतंत्रता के इतिहास मे आपका अद्वितीय स्थान है। देश की राजनीति को उग्र रूप देने, उसे जनसाधारण तक पहुंचाने और उसके लिये जीवन अर्पण करने वाले कार्यकर्त्ता तैयार करने का महत्त्वपूर्ण कार्य आपने ही सर्वप्रथम किया।

अंग्रेज उन्हें भारतीय असंतोष के जनक कहते थे। वास्तव में वह भारतीय राजनैतिक असंतोष के जनक, देश के पुण्य पुरुष, महान् गरम नेता, तत्त्वज्ञानी, राजनीतिज्ञ, आदर्श पत्रकार, महान् शिक्षाविद् थे। वे भारतीय जनता के हृदय में निवास करने वाले आराध्यदेव थे। उनका कठोर संघर्षपूर्ण जीवन प्रजातंत्र के निर्माण के लिए समर्पित था। वे भारतीय जनता के कल्याण हेतु जन्मे और उसी की पूर्ति हेतु मरे। जनसाधारण ने उनके अद्भुत त्याग, तपस्यामय जीवन, निर्भीकता को परखते हुए उन्हें लोकमान्य के श्रद्धापूर्ण नाम से पुकारा।

उनकी दूरदृष्टि ने हमारे स्वाधीनता-संग्राम मे अत्यधिक सहायता पहुंचाई। वे हिमालय के समान धैर्यवान् और अटल थे। निश्चित कर्त्तव्यपथ पर अंत तक डटे रहना उनका स्वाभाविक लक्षण था। देशभक्ति की अमर प्रेरणा सृजन करने वालों में वे सबके अग्रणी थे। उन्होंने इस महादेश को परतंत्रता की बेड़ियों से जकडे रखने वाले विदेशी शासकों के कूटनीतिचक्र की वास्तविकता को ठीक-ठीक पहचानकर स्पष्ट शब्दों मे हमे सचेत कर दिया था। स्वराज्य की प्रस्थापना तथा विदेशी शासन-तंत्र के उन्मूलन की मांग से लेकर राष्ट्रभाषा एवं राष्ट्रलिपि के रूप मे हिन्दी एवं देवनागरी की प्रतिष्ठा तक राष्ट्र-निर्माण विषयक सभी सूत्रों का वर्षों पूर्व ही वह मंत्रोच्चार कर चुके थे। उन्होंने बहुत पहले ही हमारे उद्धार के

लिए उन अमोघ मंत्रों का निर्देश कर दिया था, जिनको अपनाकर ही अंत में हम राजनीतिक स्वातंत्र्य का अपना स्वप्न पूरा कर पाए।

यह एक अद्भुत संयोग है कि तिलक सन् 1856-1857 के विद्रोह से एक वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए जब देश का सामान्य वातावरण अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध विद्रोह की भावना से पूर्ण था। सत्ता को चुनौती तथा अन्याय के प्रति विद्रोह तिलक की रग-रग में समाया हुआ था। उनका जन्म शिवाजी की पुण्यभूमि महाराष्ट्र मे हुआ।

इस महापुरुष का जन्म 23 जुलाई, 1856 को महाराष्ट्र के कोंकण प्रदेश के रत्नगिरि नामक स्थान पर हुआ। उनका वास्तविक नाम केशव था। किंतु बचपन का उपनाम बाल या बलवंत राव अधिक प्रसिद्ध हो गया। वे प्यार से बचपन मे संक्षेप में केवल 'बाल' कहकर ही संबोधित किए जाते थे। आगे चलकर सार्वजनिक रूप से भी छोटे-से नाम द्वारा पिता के नाम के साथ बाल गंगाधर तिलक कहकर ही अभिहित किए जाने लगे।

जिस समय तिलक का जन्म हुआ, उस समय गदर की तैयारी हो रही थी। ब्रिटिश सत्ता को उलटने के लिए वीरों ने एक बार पुनः कमर कस ली थी। हिंदू-मुस्लिम एक हो गये थे। इतिहासकार सरकार और दत्ता लिखते हैं—"इस बीच नाना साहब, अवध की बेगमें, अवध के अन्य राजे, झांसी की रानी लक्ष्मीबाई और आरा के पास जगदीशपुर के कुंवर सिंह ने कानों-कान गदर का मंत्र सेना में फूंकना आरंभ किया।"

तिलक के पिता श्री गंगाधर राव आरंभ में अपने कस्बे की स्थानीय पाठशाला में एक साधारण शिक्षक के रूप में काम करके ही अपना भरण-पोषण करते रहे। कालांतर मे वह क्रमशः थाना तथा पूना जिले के सरकारी स्कूलों के सहायक इंस्पेक्टर हो गये थे। उनका संस्कृत ज्ञान इतनी उच्चकोटि का था कि दिवंगत रामकृष्ण गोपाल भंडारकर जैसे पूर्वी भाषाओं के विद्वान् भी उनका बड़ा आदर करते थे और इसी कारण वे गंगाधर शास्त्री के नाम से प्रसिद्ध हो गये थे। अतः इसमें संदेह नहीं कि लोकमान्य मे विद्वत्ता का विकास बहुत-कुछ अपने पैतृक संस्कारों के ही फलस्वरूप हुआ था। बचपन में पिता उन्हें नित्य सस्कृत के श्लोक कंठस्थ कराया करते थे। घर पर अपने पिता के अध्यापन के कारण वे संस्कृत, गणित और व्याकरण जैसे विषयों में अपनी आयु के बालकों से बहुत आगे थे। अपनी तीक्ष्ण बुद्धि, निर्भीकता और दृढता के कारण वे पड़ोस के अन्य बच्चों में पृथक् ही दिखाई पड़ते थे।

सन् 1861 की विजयादशमी के शुभ दिन बालक तिलक पाठशाला भेजे गये। 8 वर्ष की अवस्था तक तिलक ने भिन्न तक गणित, रूपावली, समास-चक्र,

आधा अमरकोष और ब्रह्म कर्म के बहुत-से श्लोक कंठस्थ कर लिये थे। मेधावी होने के कारण उन्होंने दो वर्षों में तीन कक्षाएं भी उत्तीर्ण की।

विद्यार्थी जीवन में तिलक बड़े नटखट स्वभाव के, हठीले और जबर्दस्त विवादी व्यक्ति थे। वह नजाकत, नाज-नखरे और थोथी शान-शौकत बघारने वालों के कट्टर शत्रु थे। वह इस देश की प्राचीन गौरव-गरिमा एवं सरल जीवन ही के हृदय से उपासक थे। इसी कारण पाश्चात्य रंग मे रंगे सहपाठियो एवं शिक्षकों से उनका प्रायः झगड़ा बना रहता था। उन्हें तरह-तरह से तंगकर कठोर पाठ पढ़ाने के अवसर से वह कभी भी चूकते नही थे। अपने इसी शरारतीपन के कारण वह अपने साथियों द्वारा उन दिनों 'डेविल', 'ब्लंट' आदि विभिन्न उपनामो से संबोधित किए जाते थे। बड़ों से झगडा करने के कारण इनकी गिनती चतुर किंतु झगड़ालू अथवा बुद्धिमान होते हुए भी हठी स्वभाव वाले बालको मे होने लगी। स्पष्ट है कि आरंभ से ही इनमे उद्दंड साहस, दृढ़ संकल्प और प्रतिभा का प्रकाश था। कक्षा में प्रथम आने की महत्त्वाकांक्षा उनके चित्त मे कभी न थी। वे गिनी-चुनी पुस्तकें पढ़ते थे। शेष समय को वे हास्यविनोद और अपनी अवस्था के विद्यार्थियो से विविध विषयों के वाद-विवाद मे लगा देते थे।

जब 1871 ई० में वे पढ़ रहे थे और उनकी आयु 15 वर्ष थी, तभी उनका विवाह हो गया। विवाह में बहुमूल्य दहेज न लेकर तिलक ने अपने श्वसुर से पढ़ने के लिए पुस्तकें मांगी थी। इससे उनका विद्या-प्रेम भली भांति प्रकट होता है। तिलक और उनकी पत्नी दोनों मातृहीन थे। तिलक के विवाह के कुछ दिन पश्चात् सन् 1872 में उनके पिता का स्वर्गवास हो गया। 16 वर्ष के बालक के ऊपर दुख का पहाड टूट पड़ा। वह संसार में अनाथ हो गया। इससे पूर्व जब वह 10 वर्ष का था तभी उसकी माता का देहान्त हो गया था। इस प्रकार तिलक अल्पायु मे ही माता-पिता के स्नेह से वंचित हो गये। पिता की मृत्यु के महीने-भर बाद तिलक ने हाईस्कूल की परीक्षा दी।

माता-पिता के निधन के पश्चात् तिलक के पालन-पोषण का भार उनके चाचा गोविंद राव पर पड़ा। तिलक अंत समय तक अपने चाचाजी की हर प्रकार से सेवा करते रहे। उनके पिता, उनके बड़े-बूढे सब कुछ वही थे। जहां तिलक अपने चाचा का इतना आदर करते थे, वहां चाचा के हृदय मे भी तिलक के लिए बहुत प्यार था। जब एक बार उन्हें कारावास का दंड मिला तो चाचा का मस्तक गौरव से ऊंचा हो गया। उनकी आंखों से अपने लाडले भतीजे के लिए आसुओं की धारा बह चली।

तिलक ने सन् 1872 मे मैट्रिक की परीक्षा पास की और पूना के डेकन कालेज में भर्ती हुए। यहां उनका मन पाठ्य पुस्तकों में अधिक न लगता था। उन्हें व्यायाम का चाव हो गया था। प्रातः का समय वे अखाड़े में कुश्ती करने या

नदी में तैरने में व्यतीत करते थे। संध्या का समय खेल-कूद या हवाखोरी और रात का गपशप और हंसी-मजाक में व्यतीत होता था। वे कहते थे—"पढ़ाई की परवाह न करके मुझे अपना शरीर मजबूत बनाना चाहिए।" परिणामतः वे बी० ए० में फेल हो गये परंतु उनका शरीर हृष्ट-पुष्ट हो गया, जो जीवन के भावी संघर्ष में एक वरदान सिद्ध हुआ।

उन्होंने 1876 ई० में प्रथम श्रेणी में बी० ए० की परीक्षा पास की। उसके पश्चात् एम० ए० में गणित लिया, किंतु फेल हो गये। फिर उन्होंने वकालत पढनी आरंभ की और 1879 ई० मे एल-एल० बी० पास हो गये।

विद्यार्थी काल में ही तिलक की श्री गोपाल गणेश आगरकर से जान-पहचान हो गई थी। दोनो ही नौकरी करने के विरुद्ध थे। दोनों ने सार्वजनिक कार्य करने का सकल्प कर लिया था। तिलक वास्तविक अर्थ में गदर की गोद मे पले थे। गदर के बीस वर्ष पश्चात् इस गदर के पुत्र के विचार किसी क्रांतिकारी से कम न थे। विवेक में आस्था रखने वाला शिक्षा प्राप्त करते समय, शिक्षा द्वारा भारत का उद्धार करने की युक्ति ढूंढ़ने लगा। वह अपने मित्र आगरकर से कहते हैं :

"जिस दिन साधारण जनता विचारवान् बन जाएगी, उस दिन तो हम राजा ही हो जायेंगे, अंग्रेज और मराठा बराबर के मित्र बन जाएगे। और आज की तरह उनमें स्वामी-सेवक का नाता भी न रहेगा।"

आरंभ से ही वह सामाजिक सुधार की अपेक्षा राजनैतिक सुधार के पक्ष में थे। "बिना घर के, बिना स्वराज्य के सुधार कैसा ?" वह कहा करते थे।

इन्होंने पहले-पहल 1880 ई० में श्री विष्णु शास्त्री चिपलूणकर के साथ मिलकर लोक सेवा के पथ पर एक स्कूल की स्थापना की। यह उनका अपनी योजना को व्यावहारिक रूप देने का पहला कदम था। वर्ष-भर बाद ही जन-जागरण के लिए समाचारपत्रों की आवश्यकता एवं महत्त्व का अनुभव करते हुए 'केसरी' (मराठी) और 'मराठा' (अंग्रेजी) साप्ताहिक निकाले गये। तिलक 'मराठा' के संपादक बनाये गये। 'केसरी' में भी वह बीच-बीच मे कानून और धर्मशास्त्र पर लेख लिखते रहते थे।

कोल्हापुर राज्य के तत्कालीन कुशासन के संबध मे कुछ आलोचनात्मक सामग्री प्रकाशित करने के कारण सन् 1882 ई० में 'केसरी' पर मानहानि का एक मुकदमा चलाया गया। सार्वजनिक क्षेत्र में कदम रखते ही मित्र सहित चार महीने के लिए कारावास का दंड भोगना पड़ा। यह घटना मानो तिलक के लिए जन क्षेत्र मे अग्रसर होने वाली प्रथम सीढ़ी थी। दमन चक्र के इस प्रथम प्रहार ने अप्रयास ही एकदम उछालकर उन्हें जनता के हृदय का हार बना दिया। जब

वह जेल से मुक्त होकर वापस आए तो सहस्रों की संख्या में जनता ने उनका स्वागत और अभिनंदन किया।

अब तिलक को न दिन मे चैन था और न रात को नींद। वह सदैव किसी-न-किसी कार्य मे संलग्न रहते थे। उन्हे न शरीर की चिंता थी और न अपने स्वास्थ्य का तनिक ध्यान था। उन्होंने विश्राम करना कभी जाना ही नही। वह यंत्र की भांति दिन-रात देश के कार्य मे लगे रहते थे। इस अनवरत परिश्रम का उनके स्वास्थ्य पर गहरा प्रभाव पडा। वे दुर्बल और क्षीणकाय हो गये।

सन् 1884 मे डेकन एजूकेशन सोसायटी की प्रस्थापना हुई। उसकी ओर से एक 'न्यू इंगलिश स्कूल' चलाने और एक स्वतंत्र कालेज खोलने का निश्चय हुआ। अपने अन्य सहयोगियो की तरह स्वभावतः तिलक ने भी 'नाममात्र के पारिश्रमिक' पर आजन्म शिक्षण-कार्य करने का व्रत ले लिया। 1885 ई० मे 'न्यू इंगलिश स्कूल' के 'फर्ग्यूसन कालेज' में परिणत हो जाने पर वह उसमें गणित और संस्कृत के प्राध्यापक के रूप में कार्य करने लगे।

परंतु अभी कुछ ही समय व्यतीत हुआ होगा कि उनके और समिति के अन्य कार्यकर्ताओ के मध्य नीति के संबध मे गहन मतभेद उत्पन्न हो गया। फलतः 1890 ई० में उन्हें समिति और उससे संबंधित कार्यो से सदा के लिए अपने-आपको पृथक् कर लेना पडा। वस्तुतः उनकी प्रतिभा शिक्षा के इस संकुचित क्षेत्र में कुण्ठित-सी हो रही थी और देश भी उनके नेतृत्व से वंचित हो रहा था। देश का एक तरह से सौभाग्य ही था कि वे प्राध्यापकी से अलग हो गये और राजनैतिक क्षेत्र में उतर पड़े।

लोकमान्य तिलक का जब राजनैतिक प्रांगण मे पदार्पण हुआ, तब देश मे घोर अंधकार छाया हुआ था। दमन और अत्याचारो के काले मेघो से आकाश आच्छादित था। जनसाधारण में इतना दासत्व उत्पन्न हो गया था कि स्वराज्य और स्वतंत्रता का ध्यान तक उनके मस्तिष्क में नही था। राजभक्ति का प्रवाह था, सो भी एक विदेशी सत्ता के प्रति, किसी को इतना साहस न होता था कि वह अपने मुंह से 'स्वराज्य' का नाम निकाले। ऐसे विकट काल मे प्रातः स्मरणीय लोकनायक तिलक ने स्वतन्त्रता के युद्ध की बागडोर संभाली। स्वभावतः उनके विचारो में क्रांति की आग सुलग रही थी।

'केसरी' और 'मराठा' पत्रों के विषय में भी अपने सहयोगी आगरकर के साथ गहरा मतभेद उत्पन्न हो जाने के कारण शीघ्र ही उन्हें अपना मार्ग एकदम पृथक् कर लेने के लिए विवश होना पडा। उन्होंने सन् 1891 ई० में दोनों ही पत्रों का संपूर्ण स्वत्व-भार स्वयं खरीदकर अब स्वतंत्र रूप से इन्हें प्रकाशित करना शुरू किया। अपनी जन्मजात प्रतिभा, उत्कट लगन और अदम्य कार्य-शक्ति के बल पर शीघ्र ही लोकमान्य ने अकेले ही जनक्षेत्र में अपना स्थान बना लिया।

उनकी लौह लेखनी के चमत्कार से जल्दी ही 'केसरी' और 'मराठा' महाराष्ट्र के प्रतिनिधि पत्र बन गए। इन दोनों पत्रों पर सात हजार रुपये कर्ज था, जिसे उन्हें लौटाने में दस वर्ष लगे।

आजीविका के लिए आपने कानून की कक्षाएं लेनी शुरू की। परंतु जब उनका सार्वजनिक उत्तरदायित्व दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगा तो उन्होंने अब अपना सारा समय लोक सेवा में ही लगाना आरंभ कर दिया। उन्होंने अपनी आमदनी विषयक चिंता छोड़ उक्त लॉ-क्लासें लेनी भी बंद कर दी। सत्य तो यह है कि इस महापुरुष का आविर्भाव ही हुआ था केवल जनकल्याण के लिए। उसका तो एकमात्र जीवन लक्ष्य ही था इस देश की सुषुप्त आत्मा को जगाना। वह इस महिमामयी भूमि को विदेशी शासन की लौहशृंखलाओं से मुक्त कर पुनः उसे अपने स्वयसिद्ध स्वाधिकार के स्वच्छन्द वातावरण मे प्रतिष्ठापित करने का स्वप्न देखता था। उसके मन मे रह-रहकर उस स्वातंत्र्य-पताका की स्मृति मंडराती थी जिसे शिवाजी ने केवल डेढ़ शताब्दी पूर्व ही मुगलों की साम्राज्यशाही का गढ़ विध्वंस कर स्वय अपने हाथों इस महादेश के आंगन मे पुनः फहराया था। वास्तव मे वह हमारी स्वातंत्र्य-लक्ष्मी का एक अनन्य पुजारी था, जो कि हर समय हमारे राष्ट्रीय मदिर मे उसकी पुनर्प्रतिष्ठा के पुनीत स्वप्न ही मे लीन रहता था। इसीलिए इस प्रश्न पर वह किसी के आगे सिर झुकाने को कदापि तैयार नही हो सकता था।

यद्यपि इसी उद्देश्य को लेकर और भी कई आवाजें देश में इसी समय उठने लगी थी, किंतु उसकी ललकार में सिंह की-सी हुंकार, निर्भीकता का जो भाव था, वह आधुनिक भारतीय राजनीति के उस युग के लिए एक नवीन वस्तु थी। उसे स्वतंत्रता के लिए किसी के आगे नाक रगड़ना अभीष्ट न था। वह तो स्वराज्य को इस देश का 'जन्मसिद्ध अधिकार' घोषित करता था। इसीलिए अपने उस खोए हुए अधिकार को प्रत्येक सभव तरीके से पुनः प्राप्त करने के लिए कमर कसकर मैदान मे उतरने को वह हमें आह्वान करता था। इस हेतु अपने अमोघ अस्त्र 'केसरी' के पृष्ठों में आप अपनी लौह लेखनी से विदेशी शासन-तंत्र की काली करतूतों के विरुद्ध आग धधकते अंगारे उगलने लगे। आप सरकार की निरंकुशता का निर्भयता से भंडाफोड़ करते हुए जनहृदय को स्वाधीनता के भावी संग्राम के लिए तैयार करने लगे। स्वभावतः ही आप जनहृदय के भीतरी स्तरों मे बैठकर अल्पकाल ही मे सच्चे अर्थों में 'लोकमान्य' बन गए। परंतु साथ ही सरकार की आखों में दिन-प्रतिदिन कांटे की तरह गड़ते-चुभते रहने के कारण एक ऐसी खटकने वाली वस्तु का रूप उसने धारण कर लिया कि अब अंग्रेजों को उससे अधिक भयानक कोई भी अन्य व्यक्ति भारतवर्ष में न दिखाई देने लगा।

1889 ई० में क्राफ़र्ड-प्रकरण मे भाग लेकर आपने जनता को अपनी ओर

विशेष रूप से आकृष्ट किया। अंग्रेज अधिकारी क्राफर्ड ने घूस खायी थी। वह तो दोषी होने पर भी दंड से बच गया पर उसके अधीनस्थ कर्मचारियों को सजा मिली। न्याय के नाम पर किए गए अन्याय के इस हास्यास्पद नाटक से स्वभावतः ही तिलक का रोष उबल पड़ा। उन्होंने इसके विरोध में 'केसरी' में लिखा, सभा की और ससद् में प्रश्न उठवाया। बम्बई सरकार से इन लोगों को निर्दोष करवाया। यही नही, जीवन पर्यन्त इन्हें पेंशन दिलायी। इससे आपकी धाक जम गयी और अन्याय के विरुद्ध लड़ने वाले एक साहसी एव निर्भीक व्यक्ति के रूप में आप प्रसिद्ध हो गये। साथ ही ब्रिटिश सरकार के चरित्र के खोखलेपन तथा न्याय के ढोंग का पर्दाफाश होने के नाते जन जागृति के आदोलन को भी विशेष रूप से बल मिला।

1891 ई० में संमति बिल के विषय मे सर रानाडे और डा० भंडारकर सरीखे बड़े-बड़े विद्वानों से आपका वाद-विवाद हुआ। तात्त्विक दृष्टि से आप परस्पर की संमति से व्यय बढ़ाये जाने के पक्ष मे थे। परंतु सुधारको एवं आपके मध्य वाद-विवाद का विषय यह था कि 'सरकार को धार्मिक विषयों में हस्तक्षेप नही करना चाहिए। यदि सुधार करना आवश्यक हो तो वह लोकमत के अनुकूल ही करे।' इस वाद-विवाद से आपका नाम सारे भारत में प्रसिद्ध हुआ। अब जनता यह अनुभव करने लगी कि तिलक हमारा प्रतिनिधित्व करने मे सक्षम हैं। .

1893 और 1894 मे सर्वप्रथम चलाए गए महाराष्ट्र के गणेशोत्सव तथा शिवाजी जन्मोत्सव नामक वे महत्त्वपूर्ण सार्वजनिक त्यौहार थे, जो तिलक के रचनात्मक प्रयत्नों के एक उज्ज्वल उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इनके आयोजन का उद्देश्य धर्म और जातीय गौरव की भावना को जगाकर विकेंद्रित लोकशक्ति को सुसंगठित होने के लिए सबल रूप मे बढ़ावा देना तथा राष्ट्रीयता का शक्तिशाली मोर्चा तैयार करना था। वास्तव में हिंदुओं का स्वाभिमान जागृत करने और उन्हे ऐक्य-बद्ध करने के उद्देश्य से ही शिवाजी उत्सव शुरू किया गया था। उन्होंने उस महान् राष्ट्रनिर्माता के अमर विजय-स्मारक सिंहगढ़ के किले पर मराठा-सतानों को पुनः उनकी याद जगाने के लिए आमंत्रित कर उसकी महानता के प्रति इस युग का ध्यान पहले-पहल आकर्षित किया था।

महाराष्ट्र के युवकों में स्वधर्म-प्रेम, स्वदेश-प्रेम और स्वातंत्र्य प्रेम निर्माण करने में उन उत्सवों का कितना उपयोग हुआ यह बात आज भी जब तक कोई महाराष्ट्र मे जाकर यह न देखे कि ये उत्सव कितने उत्साह के साथ मनाये जाते है, मालूम नही हो सकती। लोकमान्य तिलक के कट्टर शत्रु, सर वेलेन्टाइन शिरोल ने भी 'अनरेस्ट इन इंडिया' (भारतीय अशांति) नामक पुस्तक के लिखे

उन्होंने भारतीय अशांति की मीमांसा की है, दक्षिण की वर्तमान कालीन जागृति का—उनके मत से अशांति का—मुख्य श्रेय इन्हीं उत्सवों को दिया है। इससे बढ़कर उत्तम प्रमाण और क्या हो सकता है?

सन् 1895 ई० मे तिलक बंबई प्रांतीय धारा-सभा के सदस्य निर्वाचित हुए और वहां अपने पहले ही भाषण मे उन्होंने सरकारी नीति की कटु आलोचना कर अपनी निर्भीक देशभक्ति का प्रखर परिचय दिया। इसी समय की बात है कि महाराष्ट्र पर भीषण अकाल और प्लेग की महामारी का प्रहार हुआ। जनता को सरकार के विरुद्ध जागृत करने का स्वर्ण सुयोग आपको प्राप्त हुआ। आपने सरकार की उपेक्षा और लापरवाही के विरुद्ध पर्याप्त लिखा, फलतः उसके विरुद्ध सर्वत्र रोष का वातावरण उत्पन्न हो गया।

इसी समय चाफेकर नामक एक क्रांतिकारी महाराष्ट्रीय युवक ने पूना में प्लेग कमेटी के अध्यक्ष मि० रैण्डम की गोली मारकर हत्या कर डाली। इससे सारे देश में सनसनी फैल गयी। सरकार ने इस हत्या का संबंध तिलक द्वारा संचालित आंदोलन को जनान्दोलन के साथ जोड़ने की साजिश और उन्हें फंसाने के लिए 'केसरी' मे लिखित उनके कुछ लेखों को हिंसा की प्रवृत्ति जगाने वाले बताकर उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया। 14 सितबर, सन् 1897 को आपको 18 मास का कठोर कारावास का दंड मिला। भारत मे इस ढंग का यह पहला राजद्रोह का केस था। इसके कारण देश-भर मे आपके प्रति सहानुभूति उत्पन्न हुई। इस मुकदमे को लड़ने के लिए कलकत्ता से दो उच्चकोटि के वकील बुलाये गये। इनका सारा व्यय जनता ने ही दिया। स्थान-स्थान पर प्रदर्शन हुए, जुलूस निकले, सभाएं हुईं। सरकार पर दबाव डाला गया कि तिलक निर्दोष है। तिलक के जर्मन मित्र प्रोफेसर मैक्समूलर ने महारानी विक्टोरिया तक से अपील की। लोगों ने उनकी मुक्ति के लिए दिन-रात एक कर दिया। अंत में केवल एक वर्ष की सजा भुगतने के बाद ही आपको छोड़ दिया गया। जब लोकमान्य घर पहुंचे तो जनता अपने प्रिय नेता के दर्शनों के लिए मचल उठी। सरकार को राजद्रोह के कानून की भाषा मे सुधार करना पड़ा। इस केस ने सरकार के प्रति लोगों के हृदयों मे सचमुच अनादर पैदा कर दिया और जनता के नेता और अधिक प्रभावशाली होने लग गये।

अब लोकमान्य तिलक एक सर्वमान्य नेता बन चुके थे। कांग्रेस मे भी उनका प्रभाव और सम्मान था। वे उसके चोटी के नेताओ मे से एक थे। बाल, लाल, पाल की त्रिमूर्ति का नाम भारत के कोने-कोने में बड़े आदर से लिया जाता था। अभी तक कांग्रेस में सब ऐसे ही लोग थे जो सरकार की हां मे हां मिलाकर चलना चाहते थे। वे वर्ष में एक बार बैठकर केवल सुधारो की भिक्षा माग लिया करते थे। उग्र राजनीतिक परिवर्तन और जनता के जागरण मे उनका विश्वास न था।

अंग्रेज सरकार में उनका विश्वास था। वे उसे ही भारत की उन्नति के लिए आवश्यक समझते थे। इस प्रकार नरम नीति वालों का ही बोलबाला था। परतु तिलक इस बात को पसंद नही करते थे। वे एक क्रातिकारी विचारक थे। वे जनता मे अंग्रेज़ी शासन के विरुद्ध असंतोष और क्रोध पैदा करना चाहते थे। लार्ड कर्जन की कूटनीति के प्रति देश मे रोषपूर्ण प्रतिक्रिया की जो लहर उमड़ने लगी थी उससे कुछ के मन मे उग्र राजनीति की भावना भी जाग पड़ी थी। ऐसे लोगो के लिए तिलक मानो एक स्वयंसिद्ध नेता प्रमाणित हुए। जब बंगाल को विभाजित करने का प्रयत्न लार्ड कर्जन ने किया तो समस्त देश मे एक तूफ़ान खडा हो गया। देश के राजनीतिक क्षेत्र मे जब कुछ सरगर्मी उत्पन्न हुई तो तिलक ने कांग्रेस के मंच पर उग्र या गरम दल का सगठन कर देश की इस एकमात्र राजनीतिक संस्था को कोरी वाद-विवाद समिति की स्थिति से ऊपर उठाकर मातृभूमि की वास्तविक मुक्तिवेदी मे परिणत करने का प्रयत्न किया। इस आंदोलन मे भाग लेने वाले अधिकतर गरम दल के ही लोग थे। तिलक ने बंगाल से बाहर उत्तर और दक्षिण भारत मे इस आदोलन का नेतृत्व किया। सन् 1907 की सूरत कांग्रेस अधिवेशन में आंतरिक संघर्ष ने ऐसा उग्ररूप धारण कर लिया कि अगले दस वर्षो के लिए उग्रदल को कांग्रेस से एकदम अलग हो जाना पड़ा।

बंगाल के स्वातंत्र्याभिमुख तरुणों पर होने वाले अत्याचारों के विरुद्ध 'केसरी' मे आवाज उठाने पर फिर आप पर राजद्रोह का मामला चलाया गया। राजद्रोही घोषित कर छः वर्ष का काला पानी और एक हजार रुपये का दंड उनको दे दिया गया। इस दंड से सारे देश में क्रोध की एक लहर दौड़ गई। सरकार का विरोध किया गया। काले पानी का दंड बदलकर साधारण कैद कर दिया गया। उन्हें कुछ दिन अहमदाबाद की जेल मे रखा गया फिर बर्मा की मांडले जेल मे भेज दिया गया।

जब आपको सज़ा का कठोर दंड सुनाया गया तब भी आपके मन मे घबराहट उत्पन्न नहीं हुई। उनके भव्य ललाट पर बल भी पड़ते न दिखाई दिए। उन्होंने केवल यही कहा—"*यद्यपि जूरी ने मेरे ख़िलाफ राय दी है, फिर भी मैं निर्दोष हूं। वस्तुतः मनुष्य की शक्ति से भी अधिक क्षमताशाली 'दैवी शक्ति है। वही* प्रत्येक व्यक्ति और राष्ट्र के भविष्य की नियंत्रणकर्त्ता है। हो सकता है कि दैव की यही इच्छा हो कि स्वतंत्र रहने के बजाय कारागार मे रहकर कष्ट उठाने से ही मेरे अभीष्ट कार्य की सिद्धि मे अधिक योग मिले !" उन्होंने एक बार कहा था—"साक्षात् परमेश्वर भी यदि मोक्ष प्रदान करने लगें, तो भी मैं उसे कहूंगा, पहले मुझे मेरा देश पारतंत्र्य से मुक्त देखना है, क्योकि मोक्ष कितनी भी उच्चकोटि का क्यो न हो, है तो पराकोटि की स्वार्थ-साधना ही···"

इसी प्रकार आपने घोषित किया था कि स्वतंत्रता तो मेरा जन्मसिद्ध अधिकार

है। जब तक यह भाव मेरे हृदय में है, मुझे कौन लांघ सकता है ! मेरी इस भावना को शस्त्र काट नही सकते, आग उसको भस्म नही कर सकती, पानी गला नही सकता और हवा उसको सुखा नही सकती। मेरी आत्मा अमर है। यह उनका एक अमर संदेश था जो भारत के एक-एक भारतीय की आत्मा को स्पर्श कर गया।

जेल मे उनके लिए लकड़ी का एक बड़ा कटघरा-सा बनाया गया था, जो मनुष्य तो क्या पशुओं के भी रहने के योग्य न था। परंतु अपने देश-प्रेम के हेतु तपोपुंज लोकमान्य ने सब कुछ सहन करना स्वीकार किया और अपने जेल-जीवन के इन कष्टदायी छः वर्षों का भी उन्होंने लोककल्याण के लिए ही उपयोग किया।

इसी अवधि में लगभग पांच सौ ग्रंथो का गहन अध्ययन करने के बाद 'कर्मयोग' या 'गीता-रहस्य' नामक अपने उस अमर ग्रंथ की उन्होंने रचना की। आपके मतानुसार गीता, संसार के त्याग का, वैरागी बनने का उपदेश नही देती, अपितु एक प्रबल सैनिक बनकर संसार की बुराइयों से संघर्ष करने की आज्ञा देती है। उन्होंने कहा कि गीता का उद्देश्य मनुष्य को कर्म करना सिखलाना ही है, कर्म का त्याग करवाना नही। उन्होंने इस पुस्तक मे ऐसा सुंदर अर्थ किया जैसा स्वामी शंकराचार्य को छोड़कर किसी ने नही किया था। निष्काम कर्मयोग के अमर सदेश के रूप मे उनकी यह पुस्तक मूल्यवान् देन है।

सन् 1914 मे आप छः वर्ष पश्चात् जेल से मुक्त हुए। सारे महाराष्ट्र में उस दिन दीपावली मनाई गई। तब तक हमारे राजनीतिक आगन मे जन-जागरण का स्वर पर्याप्त ऊंचा उठ चुका था। महायुद्ध के कारण देश का वातावरण एक नया ही रूप धारण कर चुका था। उन्होंने श्रीमती एनीबेसेंट के साथ 'होमरूल आंदोलन' मे जुटकर एक देशव्यापी दौरा किया। आपने अपने व्याख्यानों के द्वारा जनशक्ति का संगठन करना आरंभ किया। आपके ये भाषण क्या थे मानो उबलते हुए शोले थे जो लोगों के दिलों पर घाव कर देते थे। आपने जनता को उठ खड़े होने का संदेश दिया। लोकमान्य ने उस समय जनता को चेताया जबकि सरकार के विरुद्ध बोलने की हिम्मत देश के बड़े से बड़े नेता भी नही करते थे। 23 अप्रैल, 1916 को स्वराज्य की माग जोरों से करने के लिए होमरूल लीग की स्थापना की। इन्ही दिनों प्रसिद्ध लखनऊ अधिवेशन मे पूरे नौ वर्ष बाद वह फिर से कांग्रेस मे सम्मिलित हुए, जिससे कि देश के राजनीतिक वायुमंडल में पुनः एक सरगर्मी पैदा हो गई। उन्होंने प्रथम महासमर से उत्पन्न परिस्थिति से लाभ उठाने के लिए हिंदू-मुस्लिम ऐक्य का लखनऊ में समझौता कराया। इस समय राष्ट्रीयता के सबसे महान् नेता लोकमान्य ही थे। लोग आपको अवतार और स्वतंत्रता का देवता मानकर पूजते थे। गाधी जी के दक्षिण अफ्रीका से भारत

आने पर भी लोग पथ-प्रदर्शन के लिए उन्ही की ओर टकटकी लगाए देखते थे।

जब महायुद्ध मे सरकार की सहायता का मसला आया तो नरम दल के सभी नेता अंग्रेजों को पूरी सहायता देने के पक्ष मे थे। गांधी जी का कहना था कि विपत्ति के समय हमे शत्रु की भी पूरी सहायता करनी चाहिए। तिलक ने स्पष्ट कह दिया कि यदि कुछ ठोस अधिकार देने का वे वायदा करें तब तो अंग्रेजों को इस लडाई मे मदद देना सार्थक भी है। यदि अग्रेज प्रजातत्र के लिए लड़ रहे है, तो क्यो नही वे भारत मे प्रजातंत्र की स्थापना करते और हमे आजादी देते! इस बात पर गांधी जी से उनका गहरा मतभेद हो गया। परंतु अंत मे जब युद्ध समाप्त होने पर भारतीय युवकों की आहुति के बदले पजाब के भीषण हत्याकांड और मार्शल ला का अनोखा पुरस्कार देश को मिला तो सबकी आंखें खुली और लोकमान्य के कथन का मर्म लोगों की समझ मे आया।

इसी समय एक अग्रेज सर चिरोल ने 'भारतीय अशाति' (अनरेस्ट इन इंडिया) नामक पुस्तक प्रकाशित करवायी। इसमे उन्होंने तिलक को राजद्रोही लिखा। आपने सर चिरोल पर इंग्लैंड मे जाकर मान-हानि का दावा कर दिया। इस मुकदमे मे लोकमान्य जीत नही सके, क्योकि भारत सरकार ने इंग्लैंड की सरकार पर दबाव डाला। उसने कहा कि यह अग्रेजी राज्य की इज्जत का प्रश्न है। पर इस मुकदमे का एक लाभ यह हुआ कि तिलक ने ब्रिटिश न्याय के खोखलेपन का पर्दाफाश करने मे कोई कसर नही छोडी। उन्होने मुकदमे से मुक्त होकर शेष समय भारत की अवस्था पर भाषण देने मे लगाया। काग्रेस की लंदन शाखा का भी आपने संगठन किया। जब आप इंग्लैंड में थे तभी आपको कांग्रेस के दिल्ली अधिवेशन का सभापति बनाया गया, पर आप देश नही लौट सके। आपके देश लौटते ही साठवी वर्षगांठ पर आपको एक लाख रुपये की थैली भेंट की गई। लोकमान्य ने यह सारा धन 'होमरूल' आदोलन को देकर अपने देशप्रेम का अद्वितीय परिचय दिया।

सन् 1919 मे ऐतिहासिक अमृतसर का प्रसिद्ध काग्रेस अधिवेशन हुआ। इसमे गाधी जी, मालवीय जी, मोतीलाल नेहरू तथा चितरंजनदास के साथ आप अंतिम बार काग्रेस के मंच पर बैठे। इस अवसर पर आपने गांधी जी के असहयोग आदोलन का घोर विरोध किया था। आपने कहा था, "स्वतंत्रता मागने से नही मिलती, उसको छीना जाता है।" उनका यही वाक्य बहुत प्रसिद्ध हुआ। इसी समय आपने 'डिमोक्रेटिक स्वराज्य पार्टी' की स्थापना कर चुनाव लड़ने का कार्यक्रम तैयार किया।

थोड़े ही दिनो बाद आप बीमार पड़ गये और 31 जुलाई, 1920 की रात को आपने सदा के लिए आंखें मूद ली। इस प्रकार भारतीय राजनीतिक गगन का यह सूर्य अस्त हो गया। उनका अंतिम संदेश यही था—"देश के लिए जिसने

अपने जीवन को बलिदान कर दिया, मेरे हृदय मंदिर में उसी के लिए स्थान है। जिसके हृदय में माता की सेवा का भाव जाग्रत् है, वही माता का सच्चा सपूत है। इस नश्वर शरीर का अब अंत होना ही चाहता है। हे भारतमाता के नेताओ और सपूतो ! मैं अंत में आप लोगों से यही चाहता हूं कि मेरे इस कार्य को उत्तरोत्तर बढ़ाना।" उनकी मृत्यु का समाचार सुनकर गांधी जी ने शोक-संदेश मे कहा था—"मेरी ढाल छिन गई।" वस्तुतः पराधीनता की बेड़ियों को छिन्न-भिन्न करने वाले लोकमान्य तिलक इस राष्ट्र के प्रखर कर्णधार थे।

लोकमान्य का जीवन संस्मरणीय था, परतन्त्र भारत मे उनकी अंतिम यात्रा भी स्मरणीय थी। उनकी शव-यात्रा में रोते, विलाप करते लगभग आठ लाख नर-नारी सम्मिलित थे। समाचार मिलते ही लाला लाजपतराय लाहौर से चल पड़े, किंतु बंबई तब पहुंचे जब लोकमान्य का पार्थिव शरीर दाह-संस्कार के लिए चिता पर रखा जा चुका था। वे सीधे स्टेशन से दाह-संस्कार के स्थान पर पहुंचे। लालाजी के नेत्र भर आये, मुंह से कुछ न निकला। कुछ क्षणों तक मस्तक झुकाए खड़े रहे। केवल इतना कहा—"भारत मे दहाड़ने वाला शेर चला गया।"

उनकी अकल्पित मृत्यु पर भारतवर्ष मे ही नही, अपितु विदेशों में भी शोक-सूचक सभाओं, व्याख्याओं और विभिन्न स्मारक प्रस्तावों के द्वारा जो आदर और श्रद्धा प्रकट हुई है उसका रहस्य उनकी आजीवन तपस्या है। उनके सीधे-सादे-सरल शब्दो और व्याख्यानो का प्रभाव कन्याकुमारी से लेकर कश्मीर तक जादू की तरह होता था। वे स्वर्ग सिधार गये, पर उन्होंने जो पौधा खड़ा किया, वह मुरझाया नही, भावी पीढ़ी ने उसे पल्लवित किया। उन्होंने अपने जीवन की जो आहुति दी, उसी का परिणाम है कि आज देश स्वतंत्र है, और हम स्वराज्य-सुख का उपभोग कर रहे है। उनकी प्रशंसा में कतिपय नेताओं के विचार पठनीय हैं—

"भारत का प्रेम लोकमान्य तिलक के जीवन का श्वासोच्छ्वास था। उनका धैर्य कभी कम न हुआ और निराशा उनको छू तक नही गई। उनके अलौकिक गुणों को धारण करना ही उनका स्मारक है।"

—महात्मा गांधी

"उन्होंने देश के लिए असीम आपत्तियां उठायीं, क्योंकि भारत का प्रेम ही उनके हृदय की प्रधान भावना थी। मरते दम तक 'स्वराज्य' ही उनका ध्येय रहा।"

—मदनमोहन मालवीय

"तिलक की मृत्यु के कारण भारत का प्रथम श्रेणी का देशभक्त और अर्वाचीन हिन्दुस्तान का एक स्फूर्तिदाता चल बसा।"

—लाला लाजपतराय

होमरूप आंदोलन के द्वारा आपने जनता को जो जगाया उसका लाभ बाद मे गांधी जी ने उठाया। आपकी मृत्यु तक गांधी जी की बात सुनने को जनता तैयार नही हुई। मृत्यु के पश्चात् जनता की भावना स्वाभाविक रूप से ही गाधी जी की ओर झुक गयी। तिलक ने देश की जनता को उन आंदोलनो के लिए तैयार किया, जिनको उनके बाद गाधी जी ने चलाया।

वस्तुत: स्वराज्य की नीव डालने वाले सर्वप्रथम महात्मा लोकमान्य तिलक ही थे। आपने इस हेतु अपना सर्वस्व देश को अर्पित कर दिया था। देश को स्वतंत्र कराने में ही उनका सारा जीवन व्यतीत हुआ। आप एक जन्मजात स्वयं-सिद्ध महापुरुष के रूप में लोक के सम्मुख आए और उसे चमत्कृत कर गए। यद्यपि वे महाराष्ट्र के थे और पूना में उनका निवास स्थान था तथापि भारत ही उनके मस्तिष्क और विचारों मे सर्वोपरि था। वे महाराष्ट्र के उन संतों में से एक थे, जो संपूर्ण भारत के विषय में चिंतन-मनन करते थे। वह जनसेवा में त्रिकाल-दर्शी, सर्वव्यापी परमात्मा की झलक देखते थे। "तिलक का ऐसा ही उदार दृष्टिकोण था। यह अखिल भारतीय था। यह उनमें बचपन से ही था। जब बंगाल उठा तो वे बगाल की सहायता के लिए दौड़े। उन्होंने महाराष्ट्र को बंगाल का साथ देने के लिए तैयार किया। जब बंगाल मैदान में कूद पड़ा है, तो हमें उसका साथ देना चाहिए। जो उसकी मुसीबत है, वह हमारी मुसीबत है। वे इसी प्रकार सोचते थे। इसी देशभक्ति के कारण, समग्र भारत को जननी मातृभूमि समझने के इसी विशाल दृष्टिकोण और सर्वव्यापी देशभक्ति के कारण ही वे केवल पूना के निवासी होते हुए भी, भारतमाता की आत्मा बन गये थे।" इस प्रकार उनका जीवन पवित्र और देवोपम था। देशवासियों ने भी उनका आदर लोकमान्य की भांति नही, अपितु तिलक भगवान् की भांति किया।

गोपाल कृष्ण गोखले

गांधी जी के राजनैतिक गुरु श्री गोपाल कृष्ण गोखले का जन्म भारतीय इतिहास के एक ऐसे युग में हुआ जिसने उनका निर्माण किया, और जिसका अपने जीवन काल में, स्वयं उन्होंने भी बहुत सीमा तक निर्माण किया। उनका जन्म 1857 की उस महान् क्रांति के नौ वर्ष बाद हुआ, जिसे भारत का प्रथम स्वाधीनता संग्राम भी कहा जाता है। इनका जन्म 9 मई, 1866 को भूतपूर्व बंबई प्रेसीडेंसी के रत्नगिरि जिले के कोतलुक नामक ग्राम में हुआ था। गोखले परिवार मूलतः उसी जिले के वेलणेश्वर नामक गांव में रहता था।

गोखले के पिता अधिक समृद्ध व संपत्तिशाली न थे, किंतु वे बड़े ही धार्मिक, गुणवान् और निष्ठावान् थे। धनाभाव होने पर भी बालक गोखले की शिक्षा-दीक्षा के संबंध में उन्होंने किसी प्रकार की कमी न आने दी।

गोखले बाल्यावस्था से ही अत्यंत प्रतिभा-सपन्न और बड़े परिश्रमी थे। इनकी स्मरण-शक्ति भी बड़ी तीव्र थी। दयालुता, सरलता और सत्यवादिता उनमें स्वाभाविक गुण थे।

गोपाल कृष्ण गोखले ने 15 वर्ष की आयु मे मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की। विवाह के बंधन मे उन्हे इससे भी पहले बंध जाना पड़ा। किसी निर्धन परिवार में, विवाह-समारोह की बात उस समय तक भली प्रकार समझ में नही आती, जब तक यह ध्यान मे न रखा जाए कि उन दिनों बाल-विवाह करना सामान्य प्रथा थी। समाज का इतना विकास उस समय तक नहीं हो पाया था कि कोई भी व्यक्ति इस प्रकार की प्रथा का विरोध कर पाता।

गोखले ने पहली ही बार मे ऐंट्रेंस परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। उन्हें कोई छात्रवृत्ति नही मिली और न उनकी गणना परीक्षा में सर्वोच्च स्थान पाने वाले विद्यार्थियों मे ही हुई, किंतु उनके संबंध में एक मात्र उल्लेखनीय बात यह रही कि उन्होंने वह परीक्षा अपेक्षाकृत शीघ्र ही उत्तीर्ण कर ली। उनके हृदय मे उच्चतर शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा-आकांक्षा थी। वह इस योग्य भी थे, परंतु उन्होंने सोचा कि उच्चतर शिक्षा के लिए बराबर अपने परिवार को तंगी की

अवस्था मे रखना स्वार्थपूर्ण बात है। उन्होंने कुछ अर्जन करके परिवार का भार हल्का करने की इच्छा व्यक्त की। परंतु परिवार के सदस्यों ने इस प्रकार का त्याग कराना स्वीकार नही किया। गोपाल की शिक्षा के लिए उन्होंने अनेक त्याग किये और उन्हें कालेज में प्रविष्ट कराया। देश जिस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए गोखले की बाट जोह रहा था उसकी तैयारी का समुचित अवसर देने वाले उसके परिवार के अनेक सदस्य थे। उनकी योग्यता को देखकर उन्हें छात्रवृत्ति भी मिलने लगी। उन्हें सन् 1884 में केवल 18 वर्ष की अवस्था मे बी० ए० की डिग्री मिल गई। उन्होंने पुणे के दक्कन कालेज में कानून की कक्षा में प्रवेश ले लिया पर आर्थिक समस्या के कारण बीच में छोड़ना पडा। इसके बाद वह एक स्कूल मे अध्यापन का कार्य करने लग गये।

अध्यापन कार्य के साथ-साथ वह कानून के अध्ययन मे भी लगे रहे। उन्होने कानून की एक परीक्षा उत्तीर्ण भी कर ली। लेकिन वह कानून का इससे अधिक अध्ययन न कर सके। उनका जीवन परिवेश अब उन पर जबर्दस्त प्रभाव डालने लगा। उन्हें तिलक और आगरकर जैसे महापुरुषों का संपर्क प्राप्त हुआ जिनमे देश-प्रेम कूट-कूट कर भरा हुआ था।

गोखले ने 1885 में कोल्हापुर की उस सभा में अपना प्रथम सार्वजनिक भाषण दिया जिसकी अध्यक्षता कोल्हापुर के रेजीडेंट विलियम ली वार्नर ने की। उनके भाषण का विषय था—'अंग्रेज़ी शासन के अधीन भारत'। तथ्यों की क्रम योजना और अंग्रेज़ी भाषा की अपनी पटुता से उन्होंने श्रोताओ को मंत्र-मुग्ध कर दिया। वार्नर ने उस भाषण की मुक्तकंठ से प्रशंसा की थी।

गोखले ने 'मराठा' में कुछ लेख लिखे। 'केसरी' के लिए समाचारों के संग्रह और सार संक्षेपण का कार्य भी उन्होंने किया। जब आगरकर ने 'सुधारक' नामक पत्रिका का प्रकाशन आरंभ किया, उस समय गोखले पर उसके अंग्रेज़ी भाग का कार्यभार था। गोखले के कई लेखो की प्रशंसा की गई। 1886-87 में उन्होंने 'जनरल वार इन यूरोप' शीर्षक से एक लेखमाला लिखी जिसकी बहुत प्रशंसा हुई। बंबई के गर्वनर वार्ड रेई के पक्षपोषण के लिये उन्होने एक लेख 'शेम, शेम, माई लार्ड शेम' लिखा। कहा जाता है कि गर्वनर को वह लेख इतना पसंद आया कि वह पत्रिका के ग्राहक बन गए।

गोखले जी बंबई विश्वविद्यालय की सेनेट के कई वर्ष तक सदस्य रहे और उन्होंने उक्त सेनेट के कार्यों में बहुत रुचि दिखायी। उनका कहना था कि सेनेट मे होने वाले विचार-विमर्श राजनैतिक प्रभावों से मुक्त रहने चाहिए। सरकार ने सिद्धांततः तो यह बात मानी पर वह शिक्षा को राजनीति के अधीन करने से नही चूकी। गोखले को सेनेट में, सरकार के मनोनीत सदस्यों से अनेक अवसरों पर कहना पड़ा कि उन्हें राजनीति और शिक्षा को एक-दूसरे से नही मिलाना

चाहिए। ऐसा ही एक अवसर उस समय आया जब बंबई सरकार 'बंग-भंग के पश्चात्, इतिहास को अनिवार्य विषय के रूप में नहीं रखना चाहती थी। सरकार का कहना था कि डिग्री पाठ्यक्रम के लिए इंग्लैंड में वहां के इतिहास को एक अनिवार्य विषय का स्थान नहीं दिया गया था, अतः भारत में भी ऐसा करना आवश्यक नहीं है। गोखले ने बड़ी योग्यता और विद्वता से इन तर्कों का खंडन किया।

गोखले जब दक्कन एजुकेशन सोसाइटी में अध्यापक बने उस समय वह केवल 19 वर्ष के थे। जब उनके सार्वजनिक सभा का मंत्रिपद स्वीकार करने का प्रश्न उठा, वह केवल 22 वर्ष के थे। दोनों अवसरों के बीच के वर्षों की संख्या तो अधिक नहीं थी, परंतु इस अवधि में गोखले में कहीं अधिक परिपक्वता आ गई थी। इसका श्रेय महामानव न्यायमूर्ति रानडे को दिला जाना चाहिए, जिन्होंने उन्हें वही बना दिया जो उन्हें बनना था।

गोखले ने अपना राजनैतिक जीवन सार्वजनिक सभा के मंत्री के रूप में आरंभ किया। 'दक्कन एजुकेशन सोसाइटी' के कुछ सदस्य उन्हें मंत्री बनाने का जबरदस्त विरोध कर रहे थे, क्योंकि वे समझते थे कि इस प्रकार 'कालेज' में उनके काम में बाधा पड़ेगी। यह एक निर्वाचित पद था और उसका वेतन चालीस रुपये प्रतिमास था। गोखले ने यह वेतन नहीं लिया और इस तरह कठिनाई दूर हो गई। सभा के मंत्री के रूप मे इन्होंने जनता की आवश्यकताओं तथा भावनाओं की ओर, सरकार का ध्यान आकृष्ट किया। सरकार द्वारा प्रतिबंधित होने पर भी यह सभा शासक और शासितों के बीच की कड़ी बनी रही।

गोखले की प्रथम महत्त्वपूर्ण सफलता वेल्बी आयोग से संबंधित है। उन्होंने वेल्बी को अमर बना दिया। यदि गोखले वेल्बी आयोग से संबद्ध न होते तो वेल्बी और उनका आयोग, दोनो ही पुरालेखों की काल-कोठरी में बंद पड़े रहते। गोखले को, आयोग के समक्ष दिए जाने वाले साक्ष्य का नेतृत्व करने और अपने आपको एक अर्थशास्त्री, राजनीतिज्ञ तथा देशभक्त सिद्ध करने का अवसर देकर आयोग ने भारत के इतिहास में अपने लिए एक निश्चित स्थान बना लिया है। इस आयोग की नियुक्ति भारत सरकार के प्राधिकार के अंतर्गत किए गए सैनिक तथा असैनिक व्ययो के प्रशासन और प्रबंध के संबंध में जांच-पड़ताल करने और ऐसे कामों के लिए प्रभारो का वंटन करने के लिए की गई, जिनमे इन दोनों की दिलचस्पी हो। आयोग के सामने साक्ष्य देने के लिए कुछ भारतीयो को इंग्लैंड बुलाया गया। वे थे सुरेंद्रनाथ बनर्जी, डी० ई० वाचा, जी० सुब्रह्मण्य अय्यर और गोपाल कृष्ण गोखले। भारतीय दल में गोखले सबसे छोटी आयु के थे। उस समय उनकी आयु लगभग 31 वर्ष की थी। लेकिन उन्होंने आश्चर्यजनक रूप से अच्छा

कार्य किया। परिणामतः वह एक ही छलांग में राजनैतिक एवं आर्थिक क्षेत्रों मे अखिल भारतीय स्तर के व्यक्ति बन गए।

गोखले ने वहां एक मौलिक सुझाव दिया कि मद्रास, बंबई, बंगाल, उत्तर-पश्चिमी प्रांत, पंजाब और बर्मा की विधान-परिषदो को यह अधिकार दे दिया जाए कि वे अपने निर्वाचित सदस्यों मे से चुनकर एक-एक प्रतिनिधि ब्रिटिश पार्लियामेंट मे भेज दें। अपने इस सुझाव पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा—"670 सदस्यों वाले इस सदन के लिए उन विशिष्ट प्रश्नो के संबंध मे भारतीय जनता के विचार जान लेना सभव हो जाएगा, जो पार्लियामेंट के विचाराधीन होंगे।" उन्होंने आगे कहा—"भारत मे फ्रांसीसी और पुर्तगाली बस्तियो को पहले से ही यह विशेषाधिकार प्राप्त है।"

कांग्रेस के जन्म के समय गोखले वहां नही थे। रानाडे कांग्रेस के संस्थापकों मे से थे और उन्हीको प्रेरणा से गोखले भी 1889 में उसमे शामिल हुए थे। ए० ओ० ह्यूम ऐसे पचास सज्जन एकत्र कराना चाहते थे, जो सही अर्थों में निःस्वार्थ हो, नैतिक उत्साह और आत्मसंयमसंपन्न हों और जो भारत में एक लोकतंत्री शासक की स्थापना के लिए अपना जीवन समर्पित कर देने की सक्रिय सेवा भावना मे ओतप्रोत हों। इन लोगों में गोखले को स्थान दिया जा सकता था। राष्ट्रीय लक्ष्य-सिद्धि के इस कार्य की ओर वैसे तो आगे चलकर सैकड़ों-हजारों युवक आकृष्ट हुए, परंतु उनमे गोखले जैसे होनहार युवकों की संख्या अधिक नही रही।

देश-सेवा करने का मुख्य उपाय यही है कि हम अपना जीवन निष्पाप बनावें। *समाज में जो दुःख हम देखते हैं, उनमे आधे से भी अधिक दुःख तो स्वयं* हमारे ही उत्पन्न किए हुए होते हैं। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपना जीवन सुधारने का प्रयत्न करे, तो समाज-सेवक का बहुत-कुछ काम हल्का हो जाय। जब तक हम स्वयं निष्पाप नही बनते, हमे समाज-सेवा का अधिकार या सामर्थ्य प्राप्त ही नहीं हो सकता। इस बात का अनुभव करके ही गोखले जी ने भारत-सेवक-समाज (सर्वेण्ट्स ऑफ इंडिया सोसाइटी) की योजना मे कार्य प्रणाली में सादगी, निर्धनता, आज्ञाकारिता आदि व्रतो को विशेष रूप से स्थान दिया है। देशवासियों के हृदय में देश-प्रेम, दीन-दुखियों की सेवा और निःस्वार्थ पवित्र जीवन व्यतीत करने का भाव जाग्रत् करना ही इसका मुख्य ध्येय है। इस संबंध में सर्वेण्ट्स आफ इंडिया सोसाइटी के सविधान की प्रस्तावना का एक अंश अवलोकनीय है :

"सार्वजनिक जीवन का अध्यात्मीकरण अनिवार्य है। हृदय स्वदेशानुराग से इतना ओतप्रोत हो जाना चाहिए कि उसकी तुलना में और सभी कुछ तुच्छ जान पड़ने लगे। ऐसी उत्कट देशभक्ति, जो मातृभूमि के लिए त्याग करने के

प्रत्येक अवसर पर प्रफुल्लित हो उठें, ऐसा निर्भीक हृदय जो कठिनाई अथवा सकट की उपस्थिति में अपने लक्ष्य से विमुख हो जाना अस्वीकार कर दे, विधि के विधान के प्रति ऐसी बद्धमूल आस्था जिसे कोई भी वस्तु डिगा न पाए—इन साधनों से सुसज्जित होकर कार्यकर्त्ता को अपने साधना पथ पर अग्रसर हो भक्ति-भाव से उस आनद का संधान करना चाहिए जो स्वदेश सेवा में अपने को मिटा देने मे प्राप्त होता है।"

गोखले जी एक स्वतंत्रता-सेनानी ही नही अपितु बड़े उदारचेता भी थे। न केवल बाह्य वेशभूषा उनकी सीधी-सादी थी, हृदय से भी सच्चे साधु और सन्यासी थे। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी उन्हें राजनैतिक ऋषि कहा करते थे। वे बड़े ही मृदुभाषी और निरभिमानी थे। उन्हें अपनी प्रशंसा से अत्यधिक घृणा थी।

सन् 1890 में गोखले बंबई प्रांत की धारा सभा के सदस्य चुने गए। वहां उन्होंने जो भाषण दिये उनसे वह सारे देश में विख्यात हो गए। उन्होंने कृषकों के हित के लिए सहयोगी ऋण संस्थाएं खोलने का प्रस्ताव किया, जो स्वीकार कर लिया गया। ये संस्थाएं बड़ी सफल हुईं और उनसे कृषकों को पर्याप्त लाभ हुआ।

अपनी पहली इंग्लैंड-यात्रा के समय गोखले लगभग पांच महीने तक मार्च से जुलाई 1897 के अन्त तक भारत से बाहर रहे। दीनशा एदलजी वाचा ने, जो वेल्बी आयोग के सबंध में इंग्लैंड में गोखले के साथ रहे थे, इंग्लैंड में गोखले के अनुभवों का बडा सजीव चित्र प्रस्तुत किया है—"अंग्रेजी सामाजिक जीवन गोखले के लिए बिल्कुल नई बात थी। फिर भी बहुत सावधानी के साथ शिष्टाचार का परिचय पा लिया, जिसका पालन भद्र समाज से किया जाता था। आरंभ में अवश्य कुछ डगमगाए परंतु शीघ्र ही उन्होंने सब कुछ सीख लिया।"

गोखले को जब यह पता चला कि 1899 के बंबई विधान परिषद् के चुनावों में वह जीत गए हैं तो उन्हें बहुत प्रसन्नता हुई। उन्होंने तीन महत्त्वपूर्ण समस्याओं में विशेष रुचि दिखाई—अकाल-संहिता, भूमि अंतरण विधेयक और नगर पालिकाओं की कार्यव्यवस्था। 30 मई, 1901 को बंबई सरकार ने विधान परिषद् में भूमि अन्तरण विधेयक रखा। गैरसरकारी सदस्यों ने उसका इतना तीव्र विरोध किया कि पास हो जाने पर भी वह विधेयक काम में नहीं लाया गया। पत्रों, राजनैतिक संगठनों और सामान्यतः कृपकों ने भी उसकी पर्याप्त निन्दा की। गोखले का इस संबंध में कार्य कम महत्त्वपूर्ण नही है। इस प्रकार गोखले एक असामान्य विधायक सिद्ध हुए, क्योकि उनमें तीन असाधारण गुणो का समन्वय था। वे गुण थे—सूक्ष्म विश्लेषण, आनदप्रद अभिव्यक्ति और एक ऐसा ढंग, जो आत्मप्रदर्शन से सर्वथा मुक्त था।

1907 और उसके बाद के वर्ष भारत के इतिहास मे अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहे।

गोखले ने यह आवश्यक समझा कि वह इंग्लैंड जाएं और अपने मधुर तर्क-संगत ढंग से मार्ले को इस बात के लिए तैयार कर लें कि वह भारत मे जो घटनाएं हो चुकी हैं या हो रही है उनके वावजूद सुधारों से संबंधित अपनी योजनाओं का काम आगे बढ़ाएं ।

गांधी जी की तरह गोखले भी हृदय-परिवर्तन के लिए समझाने-बुझाने के तरीकों पर आस्था रखते थे। किंतु गांधी जी की तरह प्रत्यक्ष कार्यवाही का अवलम्ब उन्होंने कभी नही लिया। गोखले यदि सरकारी कार्यों मे सहयोग देते तो वह सरकार मे किसी भी उच्च पद पर आसीन हो सकते थे। अपने एक वार्षिक अधिवेशन का अध्यक्ष बनाकर कांग्रेस उन्हें अधिकतम गौरव प्रदान कर चुकी थी। सरकार का भी उनके बिना काम नही चलता था, क्योंकि वे धीर और गंभीर थे। उस समय देश मे गरम और नरम दल की दो शक्तियां काम कर रही थी। कुछ कांग्रेसी उन्हें अपनी भांति अतिवादी बनाना चाहते थे। दूसरी ओर सरकार यह चाहती थी कि वह धैर्यपूर्वक तथा सतत उसके साथ बने रहें। उन्होंने इन दोनो मे से किसी के हाथों मे अपने को न छोड़ा। वह तो उसी मे संतुष्ट रहे कि स्वयं अपने प्रति तथा उस लक्ष्य के प्रति सच्चे बने रहें, जिसका उन्होंने हार्दिक रूप से पक्षपोषण किया।

1908 मे चौथी बार गोखले जी को बंबई प्रेसीडेंसी एसोसिएशन की ओर से सुधार लागू किए जाने से पहले मार्ले से बातचीत और बहस करने तथा उन्हें समझाने-बुझाने के लिए इंग्लैंड जाना पड़ा। अपने देश के लिए गोखले जी ने अनथक परिश्रम किया, परंतु उस समय उस काम में सफलता पाना मानो उनके भाग्य मे नहीं लिखा था।

रचनात्मक लक्ष्यों के प्रति गोखले की दिलचस्पी में न तो देश मे व्याप्त उथल-पुथल के कारण कमी आई, न कांग्रेस में व्याप्त निष्क्रियता के कारण। वह चाहते थे कि उनका प्रारंभिक शिक्षा-विधेयक पास हो जाए और दक्षिण अफ्रीका के भारतीयो का प्रश्न हल कर दिया जाए। उन्होंने अन्य कामों की भी उपेक्षा तो नही की, परंतु अधिक बल स्थगित न की जा सकने वाली ठोस तथा वैध बातो पर ही दिया। एक लोक सेवा आयोग की नियुक्ति और उसमें उनकी सदस्यता ऐसे ही उदाहरण है।

गांधी जी गोखले जी को अपना राजनीतिक गुरु मानते थे। 1912 ई० मे गांधी जी के निमंत्रण पर ही वह दक्षिण अफ्रीका गए। वहां तीन सप्ताह रहकर इन्होंने भारतीयों की समस्याओं के समाधान का प्रयत्न किया। वहां जहां भी वह जाते, गांधी जी साथ रहते। उस समय जनरल स्मट्स और गांधी जी के मध्य की बातचीत के संबंध में गलतफहमी उत्पन्न हुई, तो विलायत के पत्रों ने गोखले जी को ही अधिक प्रामाणिक माना। यह देखकर सबका हृदय अभिमान से

फूल उठा, और विश्वास हो गया कि यह गोखले जी के निर्मल चरित्र का ही प्रभाव है। फलतः दक्षिण अफ्रीका का काम बढ़ा। महात्मा जी ने वहां युद्ध की घोषणा की और भारतवर्ष मे देशभक्त गोखले जी ने उस यज्ञ के लिए ब्राह्मणोचित भिक्षा मागना शुरू किया। साथ ही दक्षिण अफ्रीका में भारतवासियों के साथ रंगभेद के कारण जो कुव्यवहार किया जाता था उसे दूर कराने के लिए होने वाले सत्याग्रह संगाम में भी आपने विशेष योग दिया था। इसी प्रकार जब इन्होंने देखा कि विदेशों मे भारतीय श्रमजीवियों को नाना प्रकार के कष्टों द्वारा पीड़ित किया जाता है तो इन्होंने कौंसिल मे यह प्रस्ताव प्रस्तुत किया कि विदेशों में यहां से मजदूर न भेजे जाएं।

19 फरवरी, 1915 को इस महान् नेता का अल्पायु में ही देहान्त हो गया। मृत्यु पर्यन्त वह अपने सिद्धांतों पर अटल रहे और तन, मन, धन से देश-सेवा मे संलग्न रहे। वह कितने महान् थे, गांधी जी के निम्नोक्त कथन से स्पष्ट है :

"राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं के जितने गुण होने चाहिए, वह सब मैंने उनमे पाये। उनमे बिल्लौर की-सी स्वच्छता, मेमने की-सी नम्रता, शेर की-सी वीरता और दया तो इतनी थी कि वह एक प्रकार का दोष हो गई थी। गोखले राजनैतिक क्षेत्र में मेरे सबसे ऊचे आदर्श थे और अब तक हैं।"

गोखले की मृत्यु के पश्चात् लोकमान्य तिलक ने 'केसरी' में 23 जनवरी, 1915 को प्रकाशित एक लेख मे लिखा था :

"गोखले मे अनेक गुण थे। उनमें से प्रधान गुण यह था कि बहुत ही छोटी उम्र मे उन्होंने निःस्वार्थ-निष्ठापूर्वक अपने-आपको देश सेवा के लिए पूर्णत समर्पित कर दिया—प्रत्येक व्यक्ति की परख उन लक्ष्यों के आधार पर ही होती है जिनसे वह प्रेरित-स्पन्दित होता है। गोखले स्वभाव से ही मृदु थे अत. उनकी प्रवृत्ति यही थी कि नरम तरीकों से ही काम निकाल लिया जाए। हमारे सरीखे व्यक्तियों को वे तरीके अनुपयुक्त जान पड़ते थे। रोग के यथार्थ उपचार और पथ्यापथ्य के संबंध मे दो चिकित्सकों में मतभेद होने पर भी हम चिकित्सक के रूप मे गोखले का महत्त्व स्वीकार करते हैं।"

प० मोतीलाल नेहरू ने कहा था :

"गोखले को देशभक्ति से आप्लावित एक ऐसी भव्य आत्मा प्राप्त थी, जिसने और सभी भावों को पराभूत कर लिया था। जन्मजात नेता होकर भी उन्होंने अपनी मातृभूमि के विनम्रतम सेवक से अधिक बनने की आकाक्षा कभी नही की और उस स्वदेश सेवा मे उन्होंने जिस निष्ठा से काम किया वह अब इतिहास की वस्तु बन चुकी है। उन्होने अपना जीवन उसी आदर्श के प्रति समर्पित किया जो उन्होंने अपने तथा अपने देशवासियों के सामने रखा।"

लार्ड कर्जन ने निम्नलिखित उद्गार प्रकट किए थे :

"वास्तव में वह विरोधी दल के नेता थे और इस नाते मुझे प्रायः गोखले के प्रहारों को सहना पड़ता था। मैंने किसी राष्ट्र का ऐसा कोई भी और व्यक्ति नही देखा है जिसे उनसे अधिक संसदीय क्षमताएं स्वभावतः प्राप्त हों। गोखले विश्व की किसी भी संसद, यहां तक कि ब्रिटिश हाउस आफ कामन्स मे विशिष्ट स्थान प्राप्त कर सकते थे। हमारे बीच अत्यधिक मतभेद रहने पर भी मैंने उनकी योग्यता और उच्च चरित्रता को कभी अस्वीकार नही किया।"

मुस्लिम नेता एम० ए० जिन्ना ने कहा था :

"गोखले सरकार के कामो और देश के प्रशासन के निर्भीक आलोचक और विरोधी थे परंतु अपने सभी कथनों और कार्यों मे वह तर्क और सच्चे संयताचार का पल्ला बराबर पकड़े रहे। इस प्रकार वह सरकार के सहायक रहे और जनता के लक्ष्यसाधन के लिए शक्ति के स्रोत भी बन सके। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व से मिलने वाली अनेक महानतम शिक्षाओं मे से एक यह है कि उनका जीवन इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि अकेला व्यक्ति कितना अधिक काम करके दिखा सकता है, अपने देश तथा देशवासियों के भाग्य निर्माण मे कितना अधिक और सारभूत योगदान कर सकता है और उसके जीवन से लाखों लोगों को कैसी सच्ची प्रेरणा और नेतृत्व की उपलब्धि हो सकती है।"

वस्तुतः गोखले जी आधुनिक भारत के महान् निर्माताओं में से एक हैं। वह अपने सिद्धांतों पर आजीवन अटल रहे। उनका अपना यह कथन ही उनके जीवन-दर्शन का सार है, "सार्वजनिक जीवन का अध्यात्मीकरण अनिवार्य है। हृदय स्वेशानुराग से इतना ओतप्रोत हो जाना चाहिए कि उसकी तुलना में और सभी कुछ तुच्छ जान पड़ने लगे।"

महात्मा गांधी

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी एक नेता के रूप में उस समय जनता के समक्ष आये, जब प्रथम विश्वयुद्ध के फलस्वरूप भारतीय जनता अवर्णनीय आर्थिक विनाश की शिकार थी। देश में साम्राज्यवाद विरोधी भावनाओं का ज्वार-सा आ गया था। बीसवी शताब्दी के आरंभिक वर्षों में जब गांधी को राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व प्राप्त हुआ तो उन्होंने न केवल इस आंदोलन को ही अधिक व्यावहारिक रूप प्रदान किया, अपितु भारत से विदेशी सत्ता के उन्मूलनार्थ अपने कुछ विशिष्ट सिद्धांतों को व्यावहारिक रूप देने में पूर्ण सफलता प्राप्त की। उनका आंदोलन वैचारिक तथा व्यावहारिक दोनों धरातलों को छूता था। वे जिन दार्शनिक सिद्धांतों का प्रतिपादन करते थे, उन्हें स्वयं प्रयोग की कसौटी पर कसकर भी देखते थे। पराधीनता और अध:पतन के गह्वर में बिलखते हुए भारत के उद्धार में उन्होंने अपना सारा जीवन लगा दिया था। जहां राजनैतिक मुक्ति के लिए उन्होंने संग्राम के अभिनव अस्त्र शांतिमय असहयोग का आविष्कार किया, वहां उन्होंने भारत के आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और शैक्षणिक पुनरुद्धार के लिए भी अपने अनूठे आयोजनों को कार्यान्वित करने में अपनी शक्ति लगायी।

जनता की भावनाओं, धारणाओं और कल्पनाओं को गांधी जी ने एक नई दिशा प्रदान की; राष्ट्र के विचारों, संस्कारों और गतिविधियों को उन्होंने आंदोलित किया। जनता और इतिहास ने गांधी जी को महात्मा, संत, युग-निर्माता, राष्ट्रपिता आदि के विशेषणों से सम्मानित किया।

मोहनदास करमचंद गांधी का जन्म 2 अक्तूबर, 1869 ई० को काठियावाड़ की एक रियासत पोरबंदर में हुआ। इनके पिता श्री करमचंद गांधी पोरबंदर, राजकोट और बीकानेर के दीवान रहे। गांधी जी की माता का नाम पुतलीबाई था। वह बड़े साधु स्वभाव की धर्मप्राण महिला थी। परिवार में गांधी जी का सर्वाधिक प्रेम उन्हीं के प्रति था।

मोहनदास गांधी की हाईस्कूल तक शिक्षा राजकोट में हुई। आठ वर्ष की आयु में एक देहाती पाठशाला में इनकी पढ़ाई शुरू हुई। वह एक साधारण स्तर के छात्र थे।

तेरह वर्ष की अल्पायु मे ही उनका विवाह कर दिया गया। स्वभावतः ही संयम की अपेक्षा विषय-विकारों की प्रवृत्तियां जोर मारने लगी। किंतु जन्मजात संस्कारो की कृपा कहिए या विधाता द्वारा लिख दिए गये भावी उत्कर्ष की लकीरो के प्रभाव का जादू समझिए कि विकार की उस आंधी के साथ उनके अन्तःकरण मे विवेक की भी शक्तियां दिन-प्रतिदिन अपना प्रभुत्व प्रकट करने लगी। इस प्रकार भलाई व बुराई की प्रवृत्तियों के मध्य एक अनवरत संग्राम उनके मस्तिष्क में उस किशोरावस्था मे ही उठ खड़ा हुआ जिसका सजीव चित्रण उन्होंने अपनी आत्मकथा में किया है।

विकार और विवेक की प्रवृत्तियों के तुमुल सघर्ष मे आदोलित-विलोड़ित होते मोहनदास किशोरावस्था को लांघकर यौवन के द्वार की ओर बढ़े। इन्ही दिनो 1885 ई० में उनके पिता की मृत्यु हो गई।

सन् 1887 ई० मे गांधी ने मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। इसके बाद विशेष अध्ययन के लिए भावनगर के श्यामलदास कॉलेज मे भर्ती हुए। परंतु पिता के एक मित्र ने उन्हें बैरिस्टरी के लिए इंग्लैंड भेजने की सलाह दी। जाने से पूर्व गाधी को अपनी धर्मावलंबी माता के सामने यह प्रण करना पड़ा कि वह विदेश में मांस-मदिरा और परस्त्री संग से दूर रहेगा।

4 सितंबर, 1888 ई० को मोहनदास गाधी वकालत की शिक्षा के लिए विलायत रवाना हुए। युवक गांधी ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी तरह निभाई, यद्यपि इंग्लैंड जैसे देश मे इनका पालन करने मे उन्हें कम मुसीबत का सामना न करना पड़ा। वास्तव मे, आगे चलकर आत्म-संयम, त्याग, तप, सत्याचरण और आस्तिकता के जो भाव उनके चरित्र में प्रखर रूप से प्रस्फुटित होने वाले थे, उनके बीज उनके मन मे विद्यार्थी-जीवन ही मे गहराई के साथ अंकुरित हो चले थे। उन्होने एक कट्टर आस्तिक वैष्णव परिवार में जन्म लिया था, अतः उनके मन मे बचपन ही से नैतिकता-विषयक अत्यंत दृढ़ सस्कार जमे हुए थे। अतएव चारो ओर भांति-भांति के आकर्षणों के जंजाल से घिरे रहकर भी उनका आतरिक विवेक उन्हें आसपास की खाइयो से निरंतर बचा-बचाकर सत्य और अहिंसा के मार्ग पर ही लिये चला जा रहा था। अपने इस आध्यात्मिक और नैतिक विकास-क्रम मे उन्हें गीता, बाइबिल और बुद्ध-चरित तथा टाल्स्टाय एवं थियासाफी के साहित्य से बहुमूल्य सहायता मिली, जिनके प्रति इन्ही दिनों सर्वप्रथम वह आकृष्ट हुए थे।

विलायत से 10 जून, 1891 को बैरिस्टरी की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर आप भारत लौट आए। स्वदेश वापस आने पर बैरिस्टर गांधी ने बंबई मे अपनी वकालत शुरू की।

अप्रैल, सन् 1893 ई० मे एक बहुत बड़ा व्यापारी सेठ अब्दुल करीम जवेरी

अपने केस की पैरवी के लिए आपको दक्षिण अफ्रीका ले गया। उसके साथ जब आप जंजीबार पहुंचे तो वहां जीवन के सभी क्षेत्रों मे काले-गोरे का भेद देखकर आपके हृदय को भारी ठेस पहुंची। गये थे वकालत के कार्य से, लेकिन वहां के वातावरण ने आपको विद्रोही बना दिया।

अफ्रीका को समुन्नत बनाने का श्रेय भारतीयों को है, जो पहले-पहल भारत सरकार के प्रोत्साहन से मज़दूर के रूप मे वहां गये थे। कुछ भारतीय मज़दूर दक्षिण अफ्रीकन रिपब्लिक में बस गये थे। वहा बोअर लोगों का राज्य था। एशियाई लोगों के विरुद्ध वहां कानून बनने लगे। एक कानून यह बना कि पूर्व अनुमति प्राप्त किए बिना एशिया का कोई भी व्यक्ति व्यापार नही कर सकता। और अधिकारियों ने भारतीयों को अनुमति देना बंद कर दिया। तब प्रिटोरिया स्थित ब्रिटिश एजेण्ट ने भारतीयों को सलाह दी कि 'व्यापार की अनुमति प्राप्त करने की फीस सरकार के पास भेज दो। यदि वह अनुमति न दे तो ऐसे ही व्यापार शुरू कर दो।' बस, इसी सलाह से गांधी जी के मस्तिष्क मे पहली बार सविनय अवज्ञा आंदोलन की कल्पना आयी। बाद में जब भारतीय पकड़े जाने लगे तो अपने पैसे न देकर जेल जाने का निर्देश दिया। भारतीयों की चिंताजनक स्थिति को देखकर आपने वहां अपना कार्यक्षेत्र बनाया। 22 मई, 1894 ई० को नेटाल इंडियन कांग्रेस की स्थापना की।

सन् 1896 ई० मे भारत लौटकर यहा श्री रानाडे, जस्टिस बदरुद्दीन तैयब जी, सर फिरोजशाह मेहता, बाल गगाधर तिलक, गोपाल कृष्ण गोखले, रामकृष्ण भांडारकर, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि से मिले और पुनः दक्षिण अफ्रीका गए। अर्जित लोकप्रियता के कारण इस बार वकालत अच्छी चली। अवैतनिक रूप से चिकित्सा-सेवा कार्य मे रुचि ली और बोअर युद्ध के समय घायलों की जो सेवा की उससे यश फैला।

सन् 1904 ई० में इनके सहयोग से 'इडियन ओपीनियन' नामक साप्ताहिक निकला जो महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली सिद्ध हुआ। इसी वर्ष जोहासबर्ग मे भयंकर प्लेग फैला। उस महामारी में गांधी जी ने मानवोचित सेवा-सुश्रूषा की। इससे उनका सुयश और बढ़ा।

इसी प्रवासकाल मे उन्होंने श्री रस्किन की लिखी 'अन टु दिस लास्ट' नामक पुस्तक पढ़ी। उस पुस्तक के अध्ययन ने उनकी जीवन-दिशा बदल दी, उन्हें बिल्कुल नया मार्ग मिला। इस पुस्तक ने उनके जीवन मे महत्त्वपूर्ण रचनात्मक परिवर्तन किया। गांधी जी ने बाद मे उसका 'सर्वोदय' नाम से अनुवाद भी कर डाला। इस पुस्तक में लोकमंगल की भावना पर बल दिया गया है। फलस्वरूप 'फिनिक्स' नामक आश्रम की स्थापना हुई। प्रेस और पत्र के अतिरिक्त आपने निजी पौन लाख रुपये आश्रम को अर्पण किये। इसी समय 'टाल्सटाय' लिखित

'किंगडम आफ गाड इन विदिन यू' पुस्तक और भगवद्‌गीता का उन पर बहुत प्रभाव पड़ा।

सन् 1906 ई० मे जुलू विद्रोह हुआ। घायलो की सेवा करने के लिए गांधी जी अग्रसर हुए। इस सुश्रूषा कार्य से गांधी जी और प्रकाश मे आए। इसी वर्ष उन्होंने ब्रह्मचर्य के पालन का कठोर व्रत लिया।

और तब आया दक्षिण अफीका मे उनके द्वारा आरभ किए गए उस महान् स्वातत्र्य-आंदोलन का वह महत्वपूर्ण युग, जबकि ट्रासवाल सरकार द्वारा प्रवासी भारतवासियों के लिए हुलिया तथा अंगूठों की निशानी देकर परवाना लेने के घोर अपमानजनक काले कानून के जारी किए जाने पर गांधी जी ने राजनीति के क्षेत्र मे निष्क्रिय प्रतिरोध अथवा अहिंसात्मक सत्याग्रह के अद्‌भुत अस्त्र का सफल प्रयोग कर मानवीय इतिहास मे एक युगांतर प्रस्तुत कर दिया। जनता और शासकों के बीच एक अभूतपूर्व अहिंसात्मक संग्राम छिड़ गया। 6 नवम्बर, 1913 ई० के दिन सत्याग्रह के इस नए मोर्चे का श्रीगणेश कर दिया गया और एक विशाल टोली के साथ अहिंसात्मक संग्राम का यह महासेनापति बिना परवाने के क्रमश: ट्रांसवाल की सरहद की ओर बढ़ा। इसी आदोलन में गांधी जी प्रथम बार जेल गए। इन्हे दो मास का दंड मिला। इनकी गिरफ्तारी से आंदोलन तीव्रतर हो उठा और सरकार को बाध्य होकर समझौता करना पड़ा। सारे सत्याग्रह त्याग दिए गए। यही 'पैसिव रेजिस्टेंस' के लिए 'सत्याग्रह' शब्द उपलब्ध हुआ जो आगे चलकर भारतीय स्वतत्रता-सग्राम का अमोघ शस्त्र हुआ।

जनरल स्मट्स ने समझौते की अवहेलना कर काला कानून वापस नही लिया। सत्याग्रह पुनः शुरू हो गया। गांधी जी पुन. जेल गए। आंदोलन को बल मिला। इससे भारत में उत्तेजना फैली और संघर्ष उग्र हो उठा। श्री एड्रयूज और श्री पियर्सन आए। जनवरी, 1914 में समझौता हुआ। गांधी जी के सविनय अवज्ञा आंदोलन की ओर समस्त विश्व का ध्यान आकृष्ट हुआ।

सन् 1914 मे गाधी जी इंग्लैंड गये। वहा जाकर आपने भारतीय स्वयं सेवक दल की स्थापना की। स्वास्थ्य की विवशता के कारण सन् 1915 मे आप भारत लौटे। एक राष्ट्रवीर के रूप में उनका जोरों के साथ स्वागत किया गया। स्वस्थ होने पर अपने गुरु श्री गोखले के परामर्श से आपने एक वर्ष तक भारत का व्यापक दौरा किया। कुछ समय में तो इनका नाम इतना प्रसिद्ध हो चला कि अब जहां-जहां भी वह जाते उनके दर्शन के लिए लोगों की भीड़ लग जाती। सब कोई यही सोच-सोचकर आश्चर्य करते कि आखिर इस दुबले-पतले बनिए ने सुदूर अफ्रीका के उस अपरिचित विदेश मे एक सशक्त राजतंत्र के साथ बिना हथियार के लड़ाई लड़कर उसे करारी मात दी तो कैसे ! वस्तुतः चम्पारन में

गांधी जी को जो सफलता मिली उससे यह समस्त भारत में प्रसिद्ध हो उठे और प्रथम श्रेणी के नेताओं में इनकी गणना होने लगी।

इन्हीं दिनों की बात है कि कविवर रवीन्द्रनाथ ने शांति निकेतन के आश्रम-वासियों के नाम अपने एक पत्र में गांधी जी के लिए पहले-पहल 'महात्मा' शब्द का प्रयोग किया। इन शब्दों ने आपका गौरव और बढ़ा दिया और तभी से आप 'महात्मा' कहे जाने लगे।

25 मई, 1915 को आपने अहमदाबाद में साबरमती आश्रम की नींव डाली। यह जोहान्सबर्ग के फिनिक्स आश्रम के ढंग का था। आपके विचारों से सहमत कुछ नर-नारी इसमें सम्मिलित हो गये और वे आश्रमवासी बने। आश्रम में जाति-पांति का कोई भेद नहीं रखा गया।

सन् 1918 ई० में खेड़ा का सत्याग्रह शुरू हुआ। अकाल के कारण खेड़ा में कृषकों की फसल नष्ट हो जाने पर भी लगान में कमी नहीं की जा रही थी। इसीलिए सत्याग्रह का आश्रय लिया गया। आपने किसानों को भूमिकर न देने की सलाह दी। किसानों ने ऐसा ही किया। सरकार ने दमन शुरू किया, किंतु वह सफल न हुई। उसे झुकना पड़ा। गांधी जी को यह दूसरा यश मिला।

इस प्रकार पूरे भारतीय जन-मानस को आंदोलित और प्रभावित करने वाले इस व्यक्ति का आविर्भाव इस शताब्दी की एक महान् घटना है। श्री रामनाथ सुमन लिखते हैं कि :

"इसकी वाणी में कुछ अद्भुत बल था, जिसने लक्ष-लक्ष हृदयों को स्पर्श किया। एक कोने से यह वाणी उठी और देखते-देखते सब वाणियों के ऊपर छा गई।"

पं० जवाहरलाल नेहरू ने भी इस वाणी के वर्चस्व का वर्णन करते हुए लिखा है :

"· यह आवाज़ दूसरों से कुछ भिन्न थी। यह शांत और धीमी थी, फिर भी सर्वसाधारण के शोर से ऊपर सुनाई देती थी।—आज तो हम इस आवाज़ से परिचित हो गये हैं।···परंतु फरवरी-मार्च 1919 में वह हमारे लिए नई थी। हम ठीक तरह नहीं जानते थे कि इसका क्या करना चाहिए, पर हम पुलकित हो उठे। निंदा की हमारी शोरगुल-भरी राजनीति से यह कुछ एक बिल्कुल जुदा चीज़ थी—उस राजनीति से यह बिल्कुल भिन्न थी, जो सदा विरोध के निस्सार और बेअसर प्रस्तावों में, जिन पर कोई ज्यादा ध्यान न देता था, खत्म होती थी। यह क्रिया की, लड़ाई की राजनीति थी, बातचीत और विवाद की राजनीति नहीं।"

गांधी जी के राजनीतिक क्षेत्र में आगमन के साथ ही देश में तीन महत्त्व-पूर्ण घटनाएं घटीं, जिन्होंने संपूर्ण देश को एक स्वर तथा एक मत से उनके साथ

कर दिया। वे तीन महत्त्वपूर्ण घटनाएं थीं—1919 ई० में जनता की इच्छा के विरुद्ध रौलट ऐक्ट का पास होना, जलियांवाला बाग की नृशंस एव अमानुषिक घटना तथा खिलाफत आन्दोलन। जनता के आक्रोश को भलीभांति समझकर गांधी ने राष्ट्रीय कार्यवाही की एक योजना बनायी, जिसका उद्देश्य जनसंख्या के प्रत्येक भाग को—पूंजीपतियों और मजदूरों, कृषकों और कार्यालय के कर्मचारियों, महिलाओं, छात्रों, वकीलों और डाक्टरों को एकजुट करना था। उनके गतिशील नेतृत्व ने राष्ट्रीय संघर्ष को एक सच्चे जन-आंदोलन का व्यापक रूप प्रदान किया। यद्यपि गांधी साधारण अर्थ में राजनीतिज्ञ नही थे, पर उन्होंने अपने अहिंसक आंदोलनों को आरंभ करने का समय निश्चित करने मे और उसकी रूपरेखा निर्धारित करने में असाधारण बुद्धिमानी का परिचय दिया था। अंग्रेजी शासन के विरुद्ध प्रत्येक आदोलन मे उन्होंने नया प्रतीक और नये तरीके अपनाये। उन्होंने सन् 1919-20 में अहिंसक-असहयोग को अपना कर एक नई राजनीतिक तकनीक को ही जन्म दिया। इस आदोलन का उत्साह संपूर्ण देश पर छा गया। सत्य तथा अहिंसा का पूर्णरूपेण पालन न हो सकने पर भी देश हित के लिए स्वेच्छया तथा सहर्ष प्राणोत्सर्ग करने वालों की सख्या कम न थी। गांधी ने अपने कार्य को प्रचार, आंदोलन और संगठन द्वारा गतिशील बनाया। उन्होंने इस आंदोलन के समुचित प्रचार के लिए भारत के विभिन्न स्थानों का भ्रमण किया और असहयोग का संदेश भारत के ग्राम-ग्राम में पहुंचाया। स्वातन्त्र्य-आंदोलन के इतिहास मे प्रथम बार ऐसी उत्तेजक घटना घटी थी कि किसी राष्ट्रीय नेता के उपदेश को सुनने के लिए सहस्रो की संख्या मे साम्प्रदायिक भेदभाव त्यागकर जनता एकत्रित हो। भारतीय जनता ने गांधी को उस अवतार या पैगम्बर के रूप मे देखा जो भारत की स्वतंत्रता तथा उसके उत्थान के लिए प्रकट हुआ था। नारियों की जागृति एवं असहयोग आंदोलन में सक्रिय सहयोग इस युग की सबसे बड़ी विशेषता थी।

सन् 1920 ई० से स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास मे एक नए युग का समारंभ हुआ। गांधी जी ने असहयोग आंदोलन की घोषणा कर दी। इस प्रकार सरकार से लड़ने का अभिनव अस्त्र देशवासियो ने उठाया। गाधी जी के आदोलन का कार्यक्रम इस प्रकार था—1. सरकारी पदवियो एवं मान के स्थानों का त्याग। 2. सरकारी, गैर-सरकारी समारोहो में भाग न लिया जाय। 3. सरकारी, अर्द्ध-सरकारी स्कूल-कालेजों से लड़को को हटाकर राष्ट्रीय स्कूल-कालेजों में उन्हें भर्ती कराया जाय। 4. ब्रिटिश अदालतो का बहिष्कार कर आपस में झगड़ों का फैसला किया जाय। 5. मैसोपोटामिया में फौजी काम के लिए क्लर्क और मजदूर के रूप मे कोई भर्ती न हो। 6. कौंसिल-चुनाव के उम्मीदवार अपने नाम वापस

नियुक्त कर दिया। गांधी जी ने अपनी नीति के अनुरूप पहले तो वायसराय के नाम एक पत्र लिखा। किंतु उन्ही के शब्दो मे "घुटनो पर झुककर रोटी मांगने पर मिला बदले मे केवल पत्थर का टुकड़ा ही", तब युद्ध का नगाडा बजाने के अतिरिक्त कोई रास्ता नही रह गया। अतः 12 मार्च, सन् 1930 ई० के दिन 79 चुने हुए सत्याग्रहियों की एक टोली लेकर पूर्ण स्वराज्य न मिलने की घड़ी तक वापस न लौटने की भीष्म-प्रतिज्ञा कर इस महापुरुष ने अहमदाबाद के अपने आश्रम से नमक-सत्याग्रह छेडा। उन्होंने नमक-कानून भंग करने के इरादे से, पैदल ही समुद्र-तट की ओर प्रयाण किया। इस प्रकार आरभ हुई उनकी वह ऐतिहासिक 'दांडी-यात्रा' जो कि हृदय दहला देने वाली थी।

उनकी यह दांडी-यात्रा इतिहास के पृष्ठो में सदैव अमर रहेगी। उनकी इस यात्रा का उपहास ब्रिटिश वायसराय तक ने किया। किसी की समझ मे नही आता था कि नमक-कानून कैसे तोडा जायगा। पर लोगों को सत्याग्रह की जीवनी शक्ति का पता गांधी जी के इन 24 दिनों की दांडी-यात्रा में मिला। कहा तो देश निरुपाय और निश्चेष्ट पड़ा हुआ था, कहा गाधी जी की यात्रा मे उनका बढ़ता हुआ एक-एक पग राष्ट्र को अनुप्राणित कर चला। गांधी जी चलते गए और कोटि-कोटि नर-नारियों से निवसित यह महादेश क्षण-क्षण जागता, उठता और स्पदित होता गया। दांडी पहुंचते-पहुंचते सारे देश मे सविनय अवज्ञा आदोलन की अग्नि भड़क उठी। 24 दिनों मे गाधी जी समुद्र तट पर पहुचे। उन्होंने वहा नमक बनाया। सारे देश में नमक कानून भंग किया गया। नमक गैरकानूनी ढंग से बनाया और बेचा जाने लगा। नमक-कानून भंग इस काल की अविस्मरणीय घटना है।

धीरे-धीरे देश में सविनय अवज्ञा की अग्नि भड़क उठी। लाखो की संख्या मे सभाएं भरी जाने लगी। मीलों लंबे जुलूस निकलने लगे। पुनः गिरफ्तारियां, लठियों, गोलियो और सगीनों का नाटक दोहराया जाने लगा। तब दुनिया ने जाना कि इस पैगम्बर के इस नए अनुष्ठान मे कैसा जादू छिपा था। आदोलन ने जब प्रचंड रूप धारण कर लिया तो सरकार ने गाधी जी को 5 मई को गिरफ्तार कर यरवदा जेल मे नज़रबंद कर दिया। इस पर वातावरण और क्षुब्ध हो उठा। शहरों मे हड़ताल हुई और इसका प्रभाव गावों पर भी पडा। जुलूस निकले, गोलिया चली। सीमांत प्रदेश मे गढ़वाली सैनिकों ने जनता पर गोली चलाने से इनकार कर दिया। स्कूल-कालेज खाली हो गए। करोड़ों का विदेशी कपड़ा मुहरबद दुकानो मे बद कर दिया गया। धरना देने वालो के मारे शराब की दुकानों पर ताले पड़ गए, जंगलों के कानून तोड दिए गए, पुलिस की संगीनो का सामना करते हुए हज़ारो की टोली के साथ नमक-गोदामो पर धावे मारे गए, लाठियो और गोलियों की बौछार तथा मकानों की ज़ब्ती और जुर्मानों की

भरमार हुई। हर प्रकार से सरकार को पंगु बना देने का अनोखा दृश्य उपस्थित हो गया था। यह प्रतीत हो रहा था कि शासन सत्ता का किला अब टूटा, तब टूटा !

किंतु इसी समय घबराकर सरकार ने समझौते की बातचीत शुरू कर दी। सर तेजबहादुर सप्रू और श्री जयकर ने मध्यस्थता की और यरवदा जेल में नेताओं की बैठक हुई। लंदन मे गोलमेज सम्मेलन हुआ। सम्राट् ने कांग्रेस के सहयोग को आवश्यक बतलाया। कांग्रेस से प्रतिनिधि प्रतिबंध हटा और नेताओं को बिना शर्त रिहा कर दिया गया। 'गांधी-इर्विन पैक्ट' नामक प्रसिद्ध समझौता किया गया, जिसके अनुसार सविनय अवज्ञा आंदोलन बंद कर दिया गया। कुछ ही मास पश्चात् कांग्रेस की ओर से एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में द्वितीय गोलमेज परिषद् मे सम्मिलित होने के लिए गांधी जी लंदन भेजे गए।

14 सितम्बर, सन् 1931 ई० को कांफ्रेंस शुरू हुई। गांधी जी ने कांग्रेस के उद्देश्य और महत्त्व पर भाषण दिया और सबल शब्दों मे कहा कि "दुर्बल हो या सबल, सब स्वतंत्रता के अधिकारी हैं।" उन्होंने भारतवासियों की नैतिकता और आदर्श भावना के सम्बन्ध में वहा कहा कि "भारत शासकों का रक्तपात कर स्वाधीनता नही चाहता, अपितु स्वातंत्र्य अर्जन के लिए प्रयोजन होने पर हम भारतवासी अपने रक्त से ही गंगाजल को भी लाल कर देंगे।"

गांधी जी 28 दिसम्बर को निराश होकर भारत वापिस आए। यहा दमनचक्र पूर्ववत् चल रहा था। कई नेता गिरफ्तार भी हो चुके थे। गांधी जी ने तत्कालीन वायसराय से बातचीत करने की असफल चेष्टा की। बम्बई में कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक हुई। सत्याग्रह आंदोलन का नेतृत्व गांधी जी को सौंपा गया। किन्तु वे 4 जनवरी, सन् 1932 ई० को प्रात ही गिरफ्तार कर लिए गए।

गोलमेज सम्मेलन ने अस्पृश्यों को हिन्दू समाज से पृथक् कर उनके लिए स्वतंत्र मतदाता संघ की व्यवस्था दी थी। गांधी जी ने यरवदा जेल को अस्पृश्यता निवारण कार्य का केन्द्र बनाया। गौरव-प्रदर्शक 'हरिजन' शब्द प्रचलित किया। अस्पृश्यता-निवारण के सम्बंध में लोगों मे जागृति उत्पन्न करने के लिए आपने ग्यारह दिन का आमरण उपवास आरंभ किया। सरकार ने विवश हो इस व्यवस्था को बदला। उस समय सरकार ने आपको मुक्त कर दिया। कुछ समय के लिए राजनैतिक लड़ाई स्थगित कर आप हरिजनोद्धार मे लग गए। भिखारियो की तरह झोली लटकाकर उन्होंने सारे देश का इस छोर से उस छोर तक एक लंबा प्रवास किया। उन्होंने स्थान-स्थान में हिन्दू-समाज के इस घृणित कलंक को धो डालने के लिए अपनी आवाज बुलंद की। परिणामतः स्थान-स्थान पर हरिजनों के लिए मन्दिरो के कपाट खुल गए। यद्यपि कतिपय प्रतिक्रियावादी कट्टरपंथियो

ने इस सम्बंध मे उन पर कीचड़ उछालने में भी कोई कसर न रखी। उन्हें हरिजन-कार्य अच्छा नही लग रहा था। 25 जून को पूना में किसी अज्ञात व्यक्ति ने इनकी मोटर पर बम फेंकने का भी प्रयास किया, जिसमे वह बाल-बाल बचे।

साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष मे गांधी ने जिन शक्तिशाली शस्त्रों का प्रयोग किया उनमे थे—सत्याग्रह, असहयोग, सविनय अवज्ञा, कर-निषेध आन्दोलन, प्रदर्शन और बहिष्कार। उन्होंने इन साधनो द्वारा स्वाधीनता आदोलन के स्वरूप को बदल दिया। उन्होंने उसे आत्मा प्रदान की। भारतीय जनता ने भी अधिकांशतः स्वातंत्र्य-संग्राम का समर्थन किया और साम्राज्यवादियो के सुसगठित आक्रोश को दृढ़ता से खडे होकर चुनौती दी। गांधी के प्रत्येक आंदोलन का अंतिम लक्ष्य स्वराज्य से सम्बध रखता था। चरखा, अछूतोद्धार, स्वदेशी-आंदोलन, ग्रामोत्थान आदि कार्यकलापो मे उनका एकमात्र उद्देश्य स्वराज्य की एकनिष्ठ साधना करना था।

अब तक वे सत्याग्रह, असहयोग और सविनय अवज्ञा आंदोलनों द्वारा देश को नये मोड़ पर ले आये थे और अपनी लोकप्रियता एव प्रतिष्ठा की पराकाष्ठा को प्राप्त कर चुके थे। इसी समय कतिपय मतभेदो के कारण उन्होंने 17 सितम्बर, 1934 को कांग्रेस से अलग होने की घोषणा कर दी। कांग्रेस से पृथक् होकर वे पूर्णरूप से ग्रामोद्योग और हरिजनोद्धार के कार्य मे लग गए। इन्होंने अपने एक वक्तव्य में कहा—"शिक्षित कांग्रेसजनो का बहुत बड़ा वर्ग मेरे उपायों, विचारों और उन पर आधारित प्रोग्रामों से ऊब गया था। मैं कांग्रेस के विकास में सहायक होने के बजाय बाधक हो रहा था। वह संस्था मेरे व्यक्तित्व को बाध रही थी। जन्मजात लोकतंत्रवादी के लिए यह बात बड़ी अपमानजनक थी। 14 वर्षों के प्रयोग के बाद अधिकांश कांग्रेसजनों के लिए अहिंसा केवल एक नीति बनी है, किंतु मेरे लिए वह धर्म है। मैंने इस प्रयोग के लिए सारा जीवन अर्पित कर दिया है और मुझे पूर्ण तटस्थता तथा कार्य की पूरी स्वाधीनता की आवश्यकता है।"

परिषदो में प्रवेश-संबंधी प्रश्न पर स्वराज्यवादी नेताओं से परामर्श के समय उन्होंने स्पष्ट कह दिया था कि "मैं तो रचनात्मक कार्यक्रम चलाने के पक्ष में हूं। मैं परिषदों में विश्वास नही करता। यदि करता होता, तो स्वराज्य पार्टी का सबसे पहला सदस्य मैं ही होता।"

सन् 1936 मे भारत के राजनैतिक और वैधानिक इतिहास मे एक नया अध्याय आरंभ हुआ। गांधी जी ने कांग्रेस का सक्रिय नेतृत्व त्याग दिया था और अपने रचनात्मक कार्यक्रम में व्यस्त हो गये।" मध्य अप्रैल मे जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में हुए कांग्रेस-अधिवेशन में परिषदों के बहिष्कार की नीति त्याग दी गई और प्रान्तो में सत्ता प्राप्त करने के लिए चुनाव लड़ने का निश्चय लिया

गया। गांधी जी इस चुनाव-अभियान से नितांत पृथक् रहे। फिर भी जवाहरलाल के चुनाव-दौरों की सफलता पर जब श्री दुर्गादास ने उन्हें बधाई दी तो उन्होंने कहा :

"यह भूल मत करो। जहां भी मैं गया 'महात्मा गांधी की जय' के नारे से मेरा स्वागत हुआ। यह बापू का जादू है जिसकी वजह से हमें वोट मिले।" फलतः सन् 1937 के चुनाव मे कांग्रेस ने भारी बहुमत से विजय प्राप्त की तो गाधी कांग्रेसी मंत्रिमडलों के गैरसरकारी परामर्शदाता बने। इन मंत्रिमंडलों ने मद्यनिषेध, बुनियादी शिक्षा, जेल सुधार और कृषकों को सुविधाएं देने का कार्यक्रम बनाया। कांग्रेस के पद-ग्रहण से कई लोकोपयोगी कार्य हुए, जनता में स्फूर्ति उत्पन्न हुई, कांग्रेस की शक्ति बढ़ी। इसकी सदस्य संख्या, जो 1936 के प्रारंभ में पांच लाख से कम थी, 1939 के अंत तक पचास लाख हो गई। एक अन्य उल्लेखनीय घटना है सन् 1937-38 मे भारत सरकार द्वारा गांधी से अण्डमान के अनशनकारियो के विषय में सम्पर्क स्थापित करना और उन्हें अनशन समाप्त करने पर सहमत कर लेना।

सन् 1939 में राजकोट, जयपुर और उड़ीसा की रियासतों में रजवाड़ो के अधिकारों की मांग के कारण संघर्ष ने उत्कट रूप धारण किया। राजकोट के आंदोलन में तो गांधी ने स्वयं भाग लिया, पर अंग्रेजी सरकार ने मुस्लिम लीग को उनके मुकाबले खड़ा कर आन्दोलन को विफल कर दिया।

सन् 1939 मे ही द्वितीय विश्वयुद्ध आरंभ हुआ और ब्रिटिश सरकार ने भारत की केन्द्रीय धारा सभा और प्रांतों के मंत्रिमंडलों की उपेक्षा कर यह घोषणा कर दी कि भारत भी जर्मनी के विरुद्ध इस युद्ध मे सम्मिलित हो। युद्धकालीन संकट के नाम पर वायसराय और गवर्नरों का हस्तक्षेप भी अत्यधिक होने लगा था। ऐसे समय मे मजदूर वर्ग ने राष्ट्रीय आंदोलन में महत्त्वपूर्ण पग उठाये। रजनी पामदत्त लिखते हैं :

"जबकि राष्ट्रीय आंदोलन के नेतागण अभी टालमटोल करने मे ही लगे हुए थे, सबसे पहले मजदूर वर्ग ने साम्राज्यवादी युद्ध के खिलाफ़ लड़ाई का बिगुल बजाया। 2 अक्तूबर, 1939 को साम्राज्यवादी युद्ध के विरोध मे बम्बई के नब्बे हज़ार मजदूरों ने हड़ताल की।" वायसराय लिनलिथगो ने अपना भाषण किया और भारत के सभी दलों एव वर्गों से युद्ध मे सहयोग देने की अपील की। नयी स्थिति पर विचार करने के लिए 8 से 14 सितम्बर, 1939 तक वर्धा में कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक हुई। कार्यकारिणी ने एक प्रस्ताव स्वीकार किया जिसमें उसने घोषित किया :

"कार्यकारिणी ऐसे युद्ध मे सहयोग नही प्रदान कर सकती जो साम्राज्यवादी आधार पर चलाया जा रहा है और जिसका अभिप्राय भारत में तथा

अन्य देशों में साम्राज्यवाद को दृढ़ बनाना है।...इसलिए कार्यसमिति ब्रिटिश सरकार को असदिग्ध शब्दों में यह घोषित करने के लिए आमंत्रित करती है कि लोकतंत्र और साम्राज्यवाद के संबंध मे उनके युद्ध का उद्देश्य क्या है, नयी व्यवस्था कैसी होगी, ये उद्देश्य भारत पर किस रूप में लागू होंगे और वर्तमान में इन पर किस प्रकार अमल किया जायेगा। क्या उसके उद्देश्यों मे साम्राज्यवाद का अंत शामिल है और क्या भारत के साथ स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में व्यवहार किया जायेगा जिसकी नीति उसकी जनता की इच्छा के अनुसार परिचालित होगी ?"

15 सितम्बर, 1940 को काग्रेस ने व्यक्तिगत सत्याग्रह का निश्चय किया और 10 अक्तूबर, 1940 से गाधी जी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह आरंभ कर दिया। इसके प्रथम सत्याग्रही आचार्य विनोबा भावे चुने गये। वह युद्ध-विरोधी भाषण करने के अभियोग में 21 अक्तूबर को गिरफ्तार हुए। तत्पश्चात् तो इस सत्याग्रह आदोलन ने तीव्र वेग ग्रहण कर लिया और वर्ष-भर चलता रहा। इसमे 60 हज़ार व्यक्तियो ने भाग लिया, जिनमें 400 से अधिक प्रातीय तथा केन्द्रीय धारा सभाओं के सदस्य थे। गांधी को छोड प्रायः सभी कांग्रेसी नेता जेल मे थे। सन् 1941 मे सत्याग्रही कैदियों की संख्या बहुत बढ़ गयी। सयुक्त प्रात में सबसे अधिक लोगों ने व्यक्तिगत सत्याग्रह मे भाग लिया। अन्य प्रांतों मे तो वैयक्तिक सत्याग्रह सचमुच वैयक्तिक रहा; पर सयुक्त प्रांत मे यह एक जन-आंदोलन में परिणत हो गया। अन्य प्रांतों में जब गिरफ्तारी नहीं हुई तो लोग सत्याग्रह करते-करते दिल्ली की ओर चले। अंत में समझौते की भावना से दिसंबर, सन् 1941 में सरकार ने सभी सत्याग्रहियों को मुक्त कर दिया।

मार्च, सन् 1942 में सर स्टैफर्ड क्रिप्स समझौते का प्रस्ताव लेकर भारत आए परंतु विफल होकर लौट गए। इसके बाद, सीमा पर हो रहे युद्ध की विषम स्थिति देखकर गाधी जी ने अंग्रेजों के सम्मुख 'भारत छोडो' की माग रक्खी। 8 अगस्त को बम्बई में हुई महासमिति की बैठक में उन्होंने 'भारत छोडो' का नारा बुलद किया और देश को 'करो या मरो' का सदेश सुनाया। इस ऐतिहासिक बैठक में भारत की स्वतत्रता की मांग का समर्थन करते हुए अहिंसा के अद्भुत सेनानी ने कहा :

"इस संघर्ष मे आप लोगो को सर्वस्व बलिदान देना होगा। बीवी, बच्चों, बंधु, मित्र सबसे सबध तोडना होगा। यह संघर्ष नमक बनाने की सुविधाएं लेने या शराब-बंदी के लिए नही है। अब तो मैं एक ही चीज लेने जा रहा हूं, और वह है आजादी। मैं वह गांधी नही, जो कुछ चीज लेकर बीच मे से लौट आएगा। आपको तो मैं एक मत्र 'करो या मरो' का दे रहा हूं। जेल को आप भूल जाएं। आप सदा यह याद रखें कि मैं खाता हूं, पीता हूं, सांस लेता हूं तो सिर्फ़

इसलिए कि, मुझे गुलामी की जंजीर तोड़नी है। मरना जानने वालों ने ही जीने की कला सीखी है। आजादी डरपोकों के लिए नहीं। जिनमें मरने की हिम्मत है, वही जिंदा रह सकते हैं।"

उपर्युक्त प्रस्ताव के पक्ष में पं० नेहरू, मौलाना आजाद, सरदार पटेल आदि ने भी उत्तेजनापूर्ण भाषण दिए। निश्चय हुआ कि गांधी एक बार पुनः वायसराय से बातचीत करेंगे, लेकिन यह अवसर गांधी को नहीं मिला। 9 अगस्त, 1942 को प्रातःकाल बम्बई मे ही गाधी तथा अन्य प्रमुख नेता गिरफ्तार कर लिए गए और कांग्रेस संगठन को असंवैधानिक घोषित कर दिया गया। दमन-चक्र चलने लगा और जनता के रोष और क्षोभ का अकस्मात् विद्रोह के रूप मे विस्फोट हो उठा। स्थान-स्थान पर रेलवे स्टेशन, डाकघर, अदालतें, थाने आदि जला दिए गए। देखते-देखते विप्लव का दृश्य सामने आ गया। एक ओर भयंकर जन-विक्षोभ था, तो दूसरी ओर शासन की उग्रता और प्रचंडता का प्रदर्शन। सरकार द्वारा निहत्थी जनता पर गोलियों की वर्षा की गई। गांव के गांव फूक दिए गए। सामूहिक दंड दिए गए और कठोरतापूर्वक उनकी वसूली की गई। कहीं-कहीं वायुयानों से भी गोलियों की बौछार की गयी। इतिहास बताता है कि "सरकारी हिसाब के अनुसार 1942 ई० के अंतिम पांच महीनों मे साठ हजार मे अधिक आदमी गिरफ्तार हुए; अठारह हजार बिना मुकद्दमा चलाये हवालात मे रखे गये, तथा पुलिस या मिलिटरी की फायरिंग (गोली चलाने) से 949 मारे गये एवं 1930 घायल हुए।"

गांधी जी को इस बार अपने सबसे प्रिय दो जीवन-साथियों की भेंट इस युद्ध की वेदी पर चढ़ानी पड़ी—एक तो उनके हृदय-समान महान् प्रतिभाशाली श्री महादेव देसाई, जो आगा खां कोठी में नजरबंद किए जाने के सप्ताह-भर बाद ही एक रहस्यपूर्ण-ढंग से अकस्मात् इस संसार से चल बसे। दूसरी उनकी सहधर्मिणी श्रीमती कस्तूरबा जिन्हें भी इस घटना के डेढ वर्ष जेल-जीवन की कठोरताओं तथा उपचार-विषयक अव्यवस्थाओं के फलस्वरूप असमय ही सदा के लिए इस लोक से उठ जाना पड़ा। इन दोनों ही शहीदों का अंतिम संस्कार आगा खां कोठी के उस प्रांगण मे ही किया गया।

फरवरी, 1943 में गांधी जी ने ब्रिटिश सरकार के मिथ्या आरोपों का खंडन करने के लिए कांग्रेस कार्य समिति के सदस्यों से न मिलने देने के विरोध में 21 दिन का अनशन कर दिया। गांधी जी के इस ऐतिहासिक उपवास से विश्व-भर के चिंतनशील व्यक्तियों मे हलचल मच गई। वायसराय की परिषद् के तीन सदस्यों ने त्यागपत्र देकर उनकी मुक्ति की मांग की, डॉक्टरों ने उनके जीवन के विषय मे अपनी हार्दिक चिंता व्यक्त की। इस अनशन से देश में बड़ी

उत्तेजना फैली। फलस्वरूप जो आंदोलन बिल्कुल राख से ढक चुका था, वह पुनः एक बार क्षणिक रूप से सुलग उठा।

6 मई, 1944 को गांधी जी स्वास्थ्य-संबंधी कारणों से मुक्त कर दिए गए। उन्होंने आंदोलन के परिणाम तथा उसके चिंताजनक पहलू पर अपने विचार व्यक्त किये तथा तोड़-फोड़ की घोर निंदा की। साथ ही उन्होंने साम्प्रदायिक एकता के लिए भी भरसक प्रयत्न किया। वे सितम्बर, 1944 मे मुस्लिम लीग के नेता श्री मुहम्मद अली जिन्ना से भी मिले। पर यह वार्ता लीग की नीति के कारण सफल नही हो सकी। इस बीच यूरोप में युद्ध की स्थिति परिवर्तित हो चुकी थी और अंग्रेजों के पक्ष को सफलताएं प्राप्त होने लगी थी। अतः विश्व के समक्ष भारतीय नेताओं को अनिश्चित अवधि तक बंद रखने का औचित्य सिद्ध करना ब्रिटिश सरकार के लिए कठिन हो गया। फलतः मार्च, 1945 मे वायसराय को वार्ता के लिए लंदन बुलाया गया और लौटने पर लार्ड वेवल ने 14 जून, 1945 को ब्रिटिश सरकार की भारत संबंधी नीति की घोषणा की तथा 15 जून, 1945 को कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्य भी जेल से मुक्त कर दिए गए। वायसराय की घोषणा के अनुसार 25 जून, 1945 को शिमला-सम्मेलन भी आयोजित हुआ, पर कोई परिणाम नही निकला। कांग्रेस ने सम्मानपूर्ण समझौता करना चाहा, पर लीग ने रोड़े अटकाए।

दिसंबर, 1945 मे ब्रिटेन से पार्लियामेंट के सदस्यों का एक प्रतिनिधिमंडल भारत भेजा गया। 15 फरवरी, 1946 को लंदन मे यह घोषणा की गई कि भारतीय शासन विधान के निर्णय के संबध मे नेताओ से विचार-विनिमय करने के लिए ब्रिटिश मंत्रिमंडल के तीन सदस्यो का एक मिशन भारत आएगा। 23 मार्च, 1946 को इस मिशन के सदस्य भारत पहुंचे। 16 जून, 1946 को इस मंत्रिमंडल ने भारत के राजनैतिक भविष्य के संबध में घोषणा की और अंतरिम सरकार की स्थापना हेतु चर्चा की। पर्याप्त विचार-विमर्श के उपरांत कांग्रेस ने अंतरिम सरकार मे सम्मिलत होना स्वीकार कर लिया। गांधी जी ने इस गति-विधि मे पूरा योग दिया और उचित पथ-प्रदर्शन किया।

लीग ने उक्त योजना अस्वीकार कर दी और सीधी कार्यवाही का आश्रय लिया। इस कार्य से कलकत्ता में भयंकर दंगा हुआ। लाखों व्यक्ति हताहत हुए और हजारों दुकानें लूटी गईं। नोआखली में भयावह कांड हुआ। उसके प्रति-शोध में बिहार में भी साम्प्रदायिकता का दानव जाग उठा। गांधी जी ने इस पर चिंता व्यक्त की और दंगे बंद न होने की स्थिति मे आमरण अनशन की घोषणा कर दी। उसका उचित प्रभाव पड़ा और बिहार मे शांति स्थापित हो गई। गांधीजी ने इन स्थानो पर शांतिपूर्ण पद-यात्रा की और लोगों को परस्पर प्रेम से रहने और पड़ोसी का धर्म निभाने का महत्व समझाया। उन्होंने कहा—

"मूर्खतापूर्ण हिंसा यदि कोई बात निश्चित रूप से कर सकती है तो यह कि अंग्रेजों की या पराई राजसत्ता यहां और कुछ काल टिकी रह सकती है। मैं तो यही विश्वास करता हू कि अंग्रेज हमें शांतिपूर्वक स्वराज्य देना चाहते हैं। पर यदि हमें ही ब्रिटिश तोपों या संगीनों की आवश्यकता हो तो ब्रिटिश राज्य-सत्ता यहां से नही हट सकती और यदि हट भी जाए तो और कोई पराई राज्य-सत्ता हमारे ऊपर आ धमकेगी।"

"कलकत्ता में फैले हिंसा के कीटाणु सारे देश मे न व्याप्त हों इतना ही काफी है। इसकी जिम्मेदारी मुस्लिम लीग के नेताओं पर तो है ही, पर अन्य नेता भी इस जिम्मेदारी से बचे हुए नही है। उन्हें या तो विरोध करना चाहिए या अपना हाथ झुका लेना चाहिए। हाथ न उठाने का मार्ग बिलकुल सीधा-सादा है। प्रतिकार का मार्ग झंझट वाला मार्ग है। यह संघर्ष 'जैसे को तैसा' के आधार पर होगा या सबके विरुद्ध एक होगा?"

सेवाग्राम के आश्रमवासियो से विदा लेते हुए उन्होंने कहा—

"आज अपने देश मे जो ज्वालाएं भड़क उठी है उन्हें देखते अपने ध्येय के अनुसार हमारा क्या कर्त्तव्य है? लोग हमसे जिस बात की अपेक्षा करते हैं उसे पूरी करने की योग्यता अभी हममे नही आ पाई है। इसे स्वीकार करने में कोई हर्ज नही है। पर वह योग्यता प्राप्त करने के लिए हम निरंतर प्रयत्नशील हैं। जिन तत्त्वों का हम प्रतिपादन करते हैं उनका आचरण करने की यदि हममें क्षमता होती तो हम इस महान् अग्नि में जाकर खड़े हो सकते और अपने आत्म-समर्पण से इस आग को बुझाने में सफल भी हो सकते। हमे हिन्दुस्तान के किसी भी हित के लिए आत्मसमर्पण करने के लिए तैयार रहना चाहिए। आइए हम भगवान् से प्रार्थना करें कि वह ऐसा महान् त्याग करने के लिए आवश्यक पवित्रता तथा निर्भयता हमें प्रदान करे।"

इस प्रकार गांधी जी ने चार महीने तक ग्राम-ग्राम, नगर-नगर में पद-यात्रा की और जनता को अहिंसा, शांति और पारस्परिक प्रेम का सदेश दिया। उस तपोपज महापुरुष ने रक्त-रंजित कलह के गहन घटाटोप में भी, मानो कुहरे से आच्छादित तूफ़ानी सागर के बीच अटल एवं अडिग खडे एक प्रकाश स्तंभ की भांति, अपने ज्योतिर्मय प्रेम-संदेश द्वारा हमें निरंतर सच्चे मार्ग की दिशा दिखाने के अपने पुण्यकार्य मे क्षण-भर के लिए भी विराम नही लिया। यह अतिसंतोष की बात है कि आपने जिस स्वतंत्रता-प्राप्ति के उद्योग मे अपना समस्त जीवन लगा दिया था, वह आपके जीवन-काल मे ही 15 अगस्त, 1947 को भारत को प्राप्त हो गयी। नि.संदेह इसका अधिकांश श्रेय आपको है।

15 अगस्त, 1947 के दिन जब भारत के नगरों की ऊंची अट्टालिकायें अगणित दीपों से जगमगा रही थी, भारत का भाग्य-निर्माता बगाल में हिन्दू-

मुस्लिम दुखीजनों के साथ आसू बहा रहा था। यह तो ऐसा एक भारत था, जिसका कि आगन रक्त-मज्जा से लथपथ था और जिसका घर अपने ही हाथों लगाई गई आग से धांय-धांय जल रहा था। वह संत-हृदय बार-बार यही सोच रहा था, कि क्या इसी भारत का सपना अब तक हम सब देखते रहे? इसी की सिद्धि हेतु क्या इतना रक्त और पसीना बहाया गया और इसी के लिए गत तीस वर्षो से कोटि-कोटि नर-नारियों ने अपना सर्वस्व होम कर ससार के प्रांगण में रचा यह प्रचड रण-यज्ञ ?

वह प्रतिदिन प्रार्थना-सभा मे शाति का उपदेश देते रहे। परंतु रक्तपात शांत न हुआ। अतत: उन्होने 13 जनवरी, 1948 को आमरण व्रत ले लिया। तीन-चार दिन के अनशन ने जादू का कार्य किया। उपद्रव शात हो गया। परतु कुछ धर्मांध युवक गाधी जी के शत्रु हो गए। उनमे से एक नवयुवक नाथूराम गोडसे ने 30 जनवरी, 1948 को आपके सीने पर तीन गोलिया दाग दी। तीन बार 'हे राम !' कहने के पश्चात् गांधी जी ने प्राण त्याग दिए। श्री जवाहरलाल नेहरू ने देशवासियों को इस दुःखद घटना की सूचना देते हुए आकाशवाणी द्वारा सम्यक् ही कहा था कि "आज हमारे जीवन की ज्योति बुझ गई, आज चारो ओर अंधेरा ही अंधेरा दिखाई देता है। हमारे राष्ट्रपिता, हमारे परमपूज्य नेता हमारे बीच नही रहे।" संसार के सभी झडे झुक गए। देश-विदेश से श्रद्धा-जलियां अर्पित की गयी। स्टैफर्ड क्रिप्स ने कहा कि "हमारे समय मे विश्व में उनसे बडा कोई आध्यात्मिक नेता न था।" श्री फेंबर ब्रोकर ने भी कहा था कि "विश्व ने और शायद इतिहास ने अपनी महानतम हस्ती खो दी है।" उनके अंतिम दर्शनों को विश्व के कोने-कोने से अगणित नर-नारी आये। रोता-कलपता सारा देश आंसुओं की नदियां बहा रहा था। मानव-जाति को इस प्रकार अनाथ करके भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के पिता अपने राम का नाम लेते हुए उसके धाम की यात्रा पर चल दिए।

इस प्रकार भारत के स्वतंत्रता-आदोलन को गाधी जी की देन अनुपम है। भारत के राष्ट्रीय रंगमंच पर गाधी जी का एकच्छत्र आधिपत्य रहा। देश की सर्व-प्रमुख राजनीतिक सस्था कांग्रेस की गतिविधियों के प्रेरणास्रोत भी यही महात्मा थे। उनके प्रत्येक कृत्य और वक्तव्य मे स्वतत्रता-प्राप्ति के लिए संघर्षशील भारत की आत्मा पुकारती थी। उनके विद्युन्मय नेतृत्व और चुम्बकमय व्यक्तित्व ने भारत के स्वातन्त्र्य-संग्राम को एक नवीन दिशा प्रदान की। अस्त्र-शस्त्र से संपन्न विदेशी सत्ता को अहिंसात्मक असहयोग आंदोलन के द्वारा हराकर, पर-तंत्रता रूपी शृंखलाओं से ग्रस्त भारत को स्वतंत्र करा देना उनकी ऐसी उपलब्धि है, जिसका तुल्य उदाहरण विश्व के इतिहास में अप्राप्य है।

खान अब्दुल गफ्फार खान

खान अब्दुल गफ्फार खान अथवा सरहदी गांधी एक ऐसा व्यक्तित्व है जिसे न केवल भारत की जनता बल्कि सारे संसार के विचारक व बुद्धिजीवी वर्ग श्रद्धा की दृष्टि से देखते है। उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रात के लोगों ने अपने प्यारे नेता खान अब्दुल गफ्फार खान को 'सरहदी गांधी' नाम दिया है। उन्हे 'बादशाह खान' के नाम से भी पुकारा जाता है। उन्हे यह नाम इसलिए दिया गया क्योकि उन्होंने अपने पठान भाइयों को अहिंसा का सिद्धांत सिखाया। गांधी जी की तरह वे शान-शौकत से दूर रहते है और एक साधु जैसा जीवन व्यतीत करते है। वे संसार के किसी भी कोने मे रहें, चाहे वह अफगानिस्तान हो या उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत हो, उन्हें भारत से बहुत लगाव रहा है और वे अपने-आप को भारत का नागरिक कहते है। श्री सी० एफ० एंड्रयूज के शब्दों मे "ऊंचाई और व्यक्तित्व की दृष्टि से आदमियों में वह बादशाह है।"

खान अब्दुल गफ्फार खान के जीवन की कहानी एक उपन्यास की तरह बड़ी रोचक है। 1910 में मोहमंदजई कबीले के खानो के अमीर घराने में उनका जन्म हुआ। उनके पिता खान बेहराम खान पेशावर जिले मे चारसद्दा तहसील के उत्तमानजई गाव के प्रमुख खान थे। एडवर्ड मिशन हाईस्कूल में उनकी पढ़ाई हुई परतु वे मैट्रिक भी पास न कर सके। उन्होने घर पर ही रहना शुरू कर दिया। उनके बड़े भाई डा० खान साहब उच्च चिकित्सा के अध्ययन के लिए इंग्लैंड गये और पहले विश्वयुद्ध में फ्रांस मे सेवा के बाद भारतीय मेडिकल सर्विस के सदस्य के रूप में घर लौटे।

अब्दुल गफ्फार खाँ के दिल में कुछ समय तक फौज में भरती होकर जीविको-पार्जन करने की इच्छा रही परंतु एक बार उन्होंने अपनी आखों के सामने अपने एक मित्र को अंग्रेज अफसर के द्वारा बुरी तरह से अपमानित होते देखकर यह विचार छोड़ दिया। बाद में वे अलीगढ़ मुस्लिम यूनीवर्सिटी मे पढ़ने गये परंतु एक साल बाद उनके पिता ने उन्हें बुला लिया। उनके पिता चाहते थे कि वे इजीनियरी पढ़ने के लिए इंग्लैंड जायें। जहाज के सफर का पूरा प्रबंध हो गया

था परंतु माता के प्रति भक्ति इंजीनियर बनने की महत्वाकांक्षा से अधिक बलवती सिद्ध हुई। जब वे जहाज पर चढ़ने से पहले माता से विदा लेने गये तो वे सिसक-सिसककर रोने लगी और उन्होंने कहा, "मेरा एक बेटा तो पहले ही चला गया है, अब तुम भी चले जाओगे तो क्या होगा !" बेटे का दिल पिघल गया और उनकी विदेश में पढ़ाई की योजना खत्म हो गई।

अपनी मां से उन्होंने गहरी धार्मिक भावना और भक्ति पाई थी और अपने पिता से अहिंसक वृत्ति। दोनों निरक्षर थे परंतु वे भौतिक दुनिया की अपेक्षा आध्यात्मिक दुनिया में अधिक रहते थे। खान साहब ने बताया कि, नमाज़ के बाद मेरी मां अक्सर बिल्कुल शांत और स्तब्ध प्रार्थना मे निमग्न बैठी रहती। पिता ने जिंदगी-भर मित्र तो बहुतेरे बनाये पर शत्रु कोई नहीं। बदला लेने की बात वह कभी नही सोचते थे और उनका कुछ ऐसा विश्वास था कि ठगे जाने में कोई अपमान नहीं है, ठगने मे जरूर है। खान साहब के पिता बहुत सच्चे और अपनी बात के पक्के थे। लोग उनके पास अपनी बचत जमा करवा जाते थे और रसीद कभी नही मागते थे। वे कभी भी अफसरों की खुशामद नहीं करते थे। बड़े-बड़े अंग्रेज अफसर उन्हे 'चाचा' कहकर पुकारते थे और उन्हे सदा प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते थे।

6 अप्रैल, 1919 को उत्तमानजई मे एक लाख से अधिक लोगों की सभा की गई, जिसमें अब्दुल गफ्फारखां भी शामिल हुए। यह सभा रौलट एक्ट के विरोध में थी। हस्तनगर के खान एक बड़ी मस्जिद में जमा हो गये और उन्होंने कहा कि वे उनके बादशाह है। असिस्टेंट कमिश्नर सिपाही और तोपखाना लेकर आये और सारे गांव को घेर लिया। उन्होंने गांव वालों के हथियार छीन लिये और उन पर 64000 रु० जुर्माना कर दिया। छ. प्रतिष्ठित बूढ़े खानों को भी पकड़कर ले गये। इसके बाद खान साहब के बूढ़े पिता खान बेहरामखां को भी डराया गया क्योंकि वे तब तक अंग्रेजों के दोस्त थे। उनको कहा गया कि उनके बादशाह को गोली से उड़ा दिया जायगा। परंतु वे डरे नही इसलिए उनको भी पकड लिया गया। खान साहब से पूछा गया कि क्या वे पठानों के बादशाह हैं ? उन्होंने कहा, "मैं नही जानता, लेकिन इतना जानता हू कि मैं कौम का खिदमतगार हूं और यह रौलट बिल इस तरह चुपचाप बर्दाश्त नहीं कर सकता।" उनको धमकियां दी गईं परंतु बादशाह खान अपनी बात पर अड़े रहे। वे टस से मस नही हुए। खान साहब ने अपने जेल-जीवन के बारे में बताया, "मुझे हथकड़ी पहनाकर जेल ले गये और जब तक सजा काटता रहा, हथकड़ियां बराबर हाथों में रही। मैं आजकल जितना हूं, उससे दुगुना वजन तब मेरा था—220 पौंड। मेरे पैरों मे आ सके, ऐसी कोई बेड़ी नहीं थी। उन्हें खोजने पर बड़ी मुश्किल से एक बड़ी बेड़ी मिली, पर जब उन्होंने वह पहनाई

तो मेरे टखनों के ऊपर का हिस्सा लहू-लुहान हो गया। पर इससे अधिकारियों पर कोई असर नहीं हुआ। वे बोले कि मुझे बहुत जल्द आदत हो जायगी।"

खान बेहराम खां को तीन महीने बाद छोड़ दिया गया और बादशाह खान को भी छः महीने से अधिक नहीं रहना पड़ा—क्योंकि चीफ कमिश्नर की इच्छा पठानों को प्रसन्न करने की थी।

1920 में नागपुर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। उसमें खान साहब ने भाग लिया और उस समय चल रहे खिलाफत आंदोलन में भी उन्होंने प्रमुख भूमिका निभाई। वे काफी संख्या में निर्वासित तीर्थयात्रियों के दल को काबुल लेकर गये। उन्होंने यह यात्रा खिलाफत के अन्याय के विरोध में की। उन्हें इस यात्रा में बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उनके पिता बहुत वृद्ध थे इसलिए उन्हें बड़ी मुश्किल से रोका गया। 1921 में ब्रिटिश अधिकारियों ने फिर उन्हें पकड़कर जेल में डाल दिया। वे राष्ट्रीय शालाएं स्थापित करने के आरोप में पकड़े गये।

इस बार उनको तीन साल तक सख्त क़ैद की सजा दी गई। उन्हें इस जेल-जीवन में बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, जिससे उनका वजन 55 पौंड कम हो गया। उनके शरीर को बहुत-सी बीमारियों ने घेर लिया परंतु वे अपने आदर्श पर डटे रहे। उन्होंने जेल के अधिकारियों से कोई रियायत नहीं मांगी। उन्होंने जेल के अनुशासन का हंसते हुए पालन किया। जेल में उन्होंने भ्रष्टाचार के विरोध में आंदोलन शुरू किया। एक कांस्टेबल ने, जो रिश्वतखोरी के बिना अपना गुजारा नहीं कर सकता था, अपनी नौकरी से इस्तीफा दे दिया। जेल के अधिकारी डर गये और उन्होंने बादशाह खान को पंजाब में गुजरात की जेल में भेज दिया। वहां उन्हें दूसरे धर्मों के ग्रंथों को पढ़ने का भी मौका मिला। उन्होंने गीता, कुरान, ग्रंथ साहब का अध्ययन किया।

जनवरी 1931 में 'गांधी-इर्विन' समझौता हुआ। उसके बाद बादशाह खान को जेल से मुक्त कर दिया गया। पठानों ने इस समझौते को अपनी जीत नहीं माना। परंतु अधिकांश अंग्रेजी अफसर इसको अपनी हार समझते रहे और उसकी कसर निकालना चाहते थे। इसलिए इस समझौते के खिलाफ कई घटनायें हुईं और पठानों को भी चैन से नहीं बैठने दिया गया। 23 दिसम्बर को खान-बन्धुओं को चीफ कमिश्नर के दरबार में बुलाया गया। क्योंकि पठानों के साथ सरकार का व्यवहार अच्छा नहीं था इसलिए उन्होंने यह निमंत्रण अस्वीकार कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि 24 दिसम्बर की रात को गांधी जी के दूसरी गोलमेज कांफ्रेंस से लौटने के ठीक पहले परिवार के सभी प्रमुख सदस्यों

के साथ उन्हें एक आर्डिनेंस के अनुसार पकड़कर अनिश्चित काल तक जेल में रहने के लिए सरहदी सूबे से बाहर भेज दिया गया।

15 साल तक बादशाह खान अंग्रेजों से लड़ते रहे परंतु उनके दिल में अंग्रेजों के प्रति कोई द्वेष नहीं था। 1931 के 'गांधी-इर्विन' समझौते के समय उनकी भेंट राबर्ट बर्नेस से हुई। उससे उन्होंने कहा, "अंग्रेजों ने मुझे जेल में डाला है पर मैं उनसे नफरत नहीं करता। मेरा आंदोलन सामाजिक और राजनैतिक दोनों तरह का है। मैं लाल कुर्तीवालों को अपने पड़ोसियों से प्रेम करना और सच बोलना सिखाता हूं। पठान योद्धा-जाति है, अहिंसा के संदेश को अपनाना उनके लिए आसान नहीं। मैं उनको वही सिखाने की भरसक कोशिश कर रहा हूं।"

'दि नेकेड फकीर' के लेखक राबर्ट बर्नेस ने अब्दुल गफ्फार खान के बारे में अपनी डायरी में लिखा है, "ईसा मसीह की परंपरागत तस्वीर के मूर्त रूप जैसे दीखने वाले अब्दुल गफ्फार खान दयालु, सौम्य और प्यारे आदमी हैं। उन्हें और कुछ समझना वैसा ही होगा जैसे वृद्ध जार्ज लैंसबरी को खतरनाक क्रांतिकारी समझना।"

सन् 1930 और 1932 में जो दो सत्याग्रह संघर्ष हुए उस समय सरहदी सूबे में भी आतंक और दमन का बोलबाला रहा। सत्याग्रहियों को बहुत तंग किया गया। अनाज के गोदामों में मिट्टी का तेल डालकर उन्हें नष्ट कर दिया और मकान जला दिये गये। मार्शल लॉ, गोलीकांड, लाठीचार्ज, अपमान और पाशविकता की ऐसी घटनाएं हुईं जो कहीं भी नहीं जा सकती।

1934 में खान-बन्धुओं को छोड़ दिया गया। परंतु उन पर यह पाबंदी लगा दी गई कि वे सरहदी सूबे और पंजाब में नहीं जा सकते। नवम्बर के अंतिम सप्ताह में बादशाह खान गांधी जी के साथ रहने के लिए वर्धा आये। उनकी बेटी इंग्लैंड में शिक्षा पा रही थी; उन्होंने उसको वहां से बुला लिया, और उसे महिला आश्रम, वर्धा, में मीराबहन की निगरानी में रख दिया। 7 दिसम्बर को बादशाह खान को फिर पकड़ लिया गया क्योंकि उन्होंने बम्बई में यंग क्रिश्चियन एसोसियेशन के आमंत्रण पर एक व्याख्यान दिया था। इसी कारण उन्हें दो वर्ष की कैद हुई। 1936 में उन्हें जेल से छोड़ दिया गया। तब वे वर्धा में सेठ जमनालाल बजाज के अतिथि बनकर रहे। वे अपना अधिकतर समय गांधी जी के साथ सेवाग्राम-आश्रम में ही बिताते थे। जब तक उनको अपने सूबे लौटने की अनुमति नहीं मिली, तब तक वहीं उनका घर बन गया। दोनों के लिए एक-दूसरे के विचारों को समझने का यह बड़ा मूल्यवान् अवसर था। साम्प्रदायिक एकता की उत्कट इच्छा के कारण बादशाह खान गांधी जी के लिए पूरी मुस्लिम जाति के प्रतीक थे। उन जैसा सच्चा, श्रद्धावान् और

सहिष्णु मुसलमान उन्हें कहीं नहीं मिल सकता था। बादशाह खान को भी गाधी जी के नाम, यश या राजनैतिक कार्य ने आकर्षित नहीं किया था बल्कि उनकी गांधी जी में एकनिष्ठ श्रद्धा का रहस्य तो यह था कि उन्हें गांधी जी में समान आत्मा वाला व्यक्ति मिला जिसका सारा जीवन पवित्र और ईश्वर को अर्पित था, जिसने अपने-आप को पूरी तरह से ईश्वर को सौंप दिया था। बादशाह खान ने महात्मा गांधी के अहिंसा के सिद्धांत को स्वीकार किया क्यों कि उन्होंने कहा कि मुसलमानों के लिए यह कोई नया मत नहीं है बल्कि हजरत मुहम्मद साहब ने आज से 1400 साल पहले इस सिद्धांत को माना था जब वे मक्का में थे।

गाधी जी की ईश्वरभक्ति के बारे में बादशाह खान ने कहा, "जब-जब गांधी जी के जीवन में कोई बडा सवाल उठता और गांधी जी कोई अहम फैसला करते, तब सहज ही मुझे ऐसा लगता कि यह निश्चय ऐसे आदमी का है, जिसने अपने को पूरी तरह ईश्वरार्पित कर दिया है और ईश्वर निश्चय ही कभी गलत रास्ता नहीं बतलाता।"

सन् 1937 में कांग्रेस ने भारत सरकार के 1935 के शासन-विधान के अंतर्गत प्रांतों में सरकार बनाने का निश्चय किया। खान-बंधुओं पर अब भी अपने सूबे में जाने पर पाबंदी थी, इसलिए वे चुनाव में भाग नहीं ले सके। पडित जवाहरलाल नेहरू को भी सरहदी सूबे में चुनाव का प्रचार करने नहीं जाने दिया गया, जबकि भारत की मुस्लिम लीग के नेताओं को सब सुविधाएं दी गई। खान-बंधुओं और कांग्रेस के खिलाफ सरकारी अफसरों ने खुले आम प्रचार किया, तो भी डा० खानसाहब को जबर्दस्त बहुमत मिला और वह अनुपस्थित होने पर भी चुने गये। सितम्बर 1937 में डा० साहब के नेतृत्व में कांग्रेसी सरकार बनाई गई। लेकिन बादशाह खान एक सच्चे फकीर की तरह न तो चुनाव के लिए खडे हुए और न ही उन्होंने अपने भाई के मंत्रिमंडल में कोई पद ग्रहण किया। उन्हें तो गाधी जी की अहिंसा की नीति पर ही विश्वास था और वे सोचते थे कि इस रास्ते की अपेक्षा और कोई रास्ता जनता को ऊंचा नहीं उठा सकता। इसलिए उन्होंने सेवा का मार्ग चुना।

1940 में पूना में जब अंग्रेजों के युद्ध-प्रयत्नों में सशर्त सहयोग की बात कांग्रेस कार्यकारिणी ने रखी और गांधी जी अहिंसा के सिद्धांत को लेकर कांग्रेस से अलग हो गये उस समय कांग्रेस कार्यकारिणी के बादशाह खान ही अकेले सदस्य थे जो गांधी जी के साथ रहे। उन्होंने भी गांधी जी की तरह कांग्रेस कार्यकारिणी से त्यागपत्र दे दिया। चाहे गाधी जी अलग हो गये परंतु जल्दी ही कांग्रेस को गांधी जी की शरण लेनी पड़ी क्योंकि पूना में कांग्रेस का हस्तक्षेप ब्रिटिश सरकार ने अस्वीकृत कर दिया। सितम्बर 1940 में कांग्रेस ने निश्चय

किया कि युद्ध में भाग न लेने के आधार पर गांधी जी के नेतृत्व मे वह सविनय अवज्ञा आदोलन शुरू करेगी। इस आंदोलन के अनुसार बाद में सत्याग्रह शुरू हुआ। उसमे खान-बंधुओ ने पूरा भाग लिया। हजारों सत्याग्रहियों की गिरफ्तारियां हुई परतु खान-बंधुओ को नही पकडा गया। अगस्त 1942 में क्रिप्स मिशन के साथ बातचीत टूट जाने पर जो ऐतिहासिक 'भारत छोडो' संग्राम छिडा, उसमें भी बादशाह खान का पूरा योग रहा। उनको गिरफ्तार कर लिया गया और मार्च 1945 मे जब उत्तर-पश्चिम सीमाप्रांत मे काग्रेसी सरकार बनी तब उन्हें छोड़ा गया।

जिन्ना और मुस्लिम लीग ने दो राष्ट्र के सिद्धांत के आधार पर पाकिस्तान की माग 1940 से ही शुरू कर दी थी। इस सिद्धांत के अनुसार मुसलमान हिन्दुओं से अलग थे इसलिए वे अपनी अलग सत्ता स्थापित करने और अलग मातृभूमि के हकदार थे। यह भारत का वह हिस्सा था जहा मुसलमानों की सख्या अधिक थी। उसमे पंजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रात, काश्मीर, सिंध और बलोचिस्तान आते थे। यह सिद्धात और व्यवहार दोनो दृष्टियो से गलत था परतु मुस्लिम लीग और जिन्ना ने अपनी जिद नही छोडी। उसका कारण यह था कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद का पूरा समर्थन उनको प्राप्त था। खान-बंधुओ ने खुले शब्दो में 'दो राष्ट्रों' के सिद्धांत का विरोध किया। सरहदी सूबे के चुनाव मे मुस्लिम लीग बुरी तरह हार गई जिसके कारण हिंसा का प्रचार शुरू हो गया। अगस्त 1946 में कलकत्ता मे भयानक कत्लेआम हुआ। पूर्वी बंगाल के नोआखाली क्षेत्र मे बहुत हिंसा हुई। यह सब मुस्लिम लीग के साथ मिलकर ब्रिटिश अधिकारियों ने करवाया।

अक्तूबर 1946 मे गाधी जी हिन्दू-मुसलमानों के बीच फिर से मेल करवाने के लिए नोआखाली गये। नोआखाली के दंगे के बाद बिहार और देश के दूसरे हिस्सों मे भी वैसे ही साम्प्रदायिक दगे शुरू हो गये। खान-बधुओं पर इन घटनाओ का बहुत बुरा प्रभाव पडा। जनवरी 1947 मे गांधी जी नोआखाली से अपने शाति मिशन पर बिहार गये। वहां उन्होंने बादशाह खान को बुलाया। उस आधी-तूफान से भरी अंधेरी रात मे बादशाह खान की शानदार दिलेरी, सहनशीलता, पहाड़ जैसी मजबूती और श्रद्धा एक चमकते हुए मार्गदर्शक प्रकाश की तरह सामने आई।

एक पत्रकार ने खान साहब के बारे मे रिपोर्ट दी, "इस आदमी की ईमानदारी ने, जो उसके एक-एक शब्द से झलकती है, सुनने वालों पर मोहिनी मंत्र डाला है। जो कुछ उन्होने कहा, उसमें कुछ नया नही था। फिर भी जो सादा शब्द उनके दर्द-भरे दिल से निकलते, वे सुनने वालों के दिलों मे झकार पैदा कर देते थे।"

बादशाह खान ने मुंगेर मे कहा, "हिन्दुस्तान हिन्दू-मुसलमान दोनों का मुल्क है। ऐसे सूबे हैं, जहा हिन्दू अल्प संख्या में हैं, और ऐसे भी सूबे हैं, जहा मुसलमान भी उसी तरह कम तादाद मे है। जो कुछ हुआ उसकी दूसरी जगहों पर भी अगर नकल हुई और बहुसख्यक जमात अल्पसख्यको को दबाने और मारने लगी, तो देश का भविष्य अंधकारमय होगा और फिर हमेशा के लिए हम गुलामी मे पड जायेंगे।"

बादशाह खान गरीब लोगों पर होते हुए अत्याचारों को देखकर बहुत दुखी होते थे परंतु उन्होंने हिम्मत कभी नही हारी। 1945 में जब वे जेल से छूटकर आये तो उसके बाद वे खुदाई खिदमतगार आंदोलन के पुनर्गठन मे लग गये। अब उन्होने यह निश्चय किया कि वे खुदाई खिदमतगारो की टोलिया बनाकर अलग-अलग सूबों मे भेजेगे जहां वे लोग गलत रास्ते पर चलने वालों की गलतियो को सुधारेंगे। वे यह चाहते थे कि लोग प्रेम, सत्य और अहिंसा के मार्ग पर चलें जिससे कि एक अच्छे समाज का निर्माण हो।

बादशाह खान के लिए यह एक अग्निपरीक्षा का समय था। ब्रिटिश कैबिनेट प्रतिनिधि मंडल ने 16 मई के अपने वक्तव्य मे एक योजना की रूपरेखा रखी जिसमें भारत की जनता को सत्ता सौपने के अभिन्न अंग के रूप मे अलग-अलग प्रदेशों के समूहीकरण की बात थी। भारत की उत्तर-पश्चिम और पूर्वी सीमाओ पर मुस्लिम बहुसंख्या वाले प्रदेश एक अलग समूह में आते थे। इस समूह के इस विभाग के लिए अपना संविधान बनाने की व्यवस्था थी और प्रत्येक इकाई को यह हक था कि इस समूह के चुने हुए प्रतिनिधियों के बहुसंख्यक मतों से वह चाहे तो अलग हो जाय। खान-बन्धुओं ने कहा कि हमे इन गुटों के बनाने मे राजनैतिक रूप में कोई रुचि नही है। हम तो किसी भी गुट के साथ जा सकते हैं जो पठानों को अपने ढंग से पूरी तरह विकास करने की स्वतन्त्रता दे। जुलाई 1946 मे ही बादशाह खान ने घोषणा की कि वे किसी भी गुट में शामिल हो सकते हैं परन्तु इससे पहले वे यह चाहते हैं कि सब भाई-भाई की तरह मिलकर बैठें और एक-दूसरे के विचारों को समझें। कुछ लोग इसे मजहबी रंग देते है, ऐसा नही होना चाहिए। जबरदस्ती कुछ भी नही किया जा सकता।

मार्च 1947 में लार्ड माउंटबैटन भारत मे वायसराय बनकर आये। अप्रैल के मध्य तक उन्होंने हिन्दुस्तान का हिन्दू और मुस्लिम बहुसंख्यक प्रान्तो में बट-वारा करके सत्ता परिवर्तन करने की एक योजना तैयार कर ली। इसमें मुश्किल यह थी कि उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त मे बहुसंख्या मुसलमानो की थी परन्तु सरकार कांग्रेसी थी जो मुस्लिम लीग के दो-राष्ट्र सिद्धान्त के विरुद्ध थी। इस कठिनाई को दूर करने के लिए अप्रैल के अन्त में लार्ड माउन्टबैटन ने सीमाप्रात का दौरा किया। उनके दौरे से लाभ उठाकर मुस्लिम लीग के स्वयं-सेवकों ने उनके सामने

एक प्रदर्शन किया जिसमे यह दिखाया गया कि वे लोग उन्ही के मन्त्रियों के विरुद्ध कानून तोडने और अराजकता फैलाने का काम कर रहे थे। उस समय के गवर्नर सर ओलाफ़ कैरो ने एक और अनोखी बात की। उसने वायसराय से यह आग्रह किया कि वह सीमाप्रान्त मे धारा 93 लागू करके नये चुनाव करायें। उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त के अंग्रेज अफसर चाहते थे कि हाथ से निकलती हुई सत्ता पर जितना भी हो सके कब्जा करके उसे अपने आश्रित मित्र मुस्लिम लीग को सौप दें। दूसरी तरफ ब्रिटिश सरकार भारत मे अपना राज्य तो खत्म करना चाहती थी परन्तु वह बंटवारा करना चाहती थी और इसके लिए मुस्लिम लीग को अपनी तरफ कर लेना चाहती थी। इसके लिए मुस्लिम लीग की माग के अनुसार उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त को लीग को देना आवश्यक था।

बादशाह खान जब बिहार मे थे, तब उन्होंने सोचा कि वे राजनीति से पूरी तरह सन्यास ले लेंगे परन्तु अंग्रेजों की राजनीति और स्वार्थ-सिद्धि की भावना को देखकर उन्होंने यह विचार बदल दिया। उन्होंने सोचा कि ऐसी परीक्षा की घडी मे पठानों को बीच मे ही छोड़ देना अच्छा नही है। उस समय उनको ऐसा महसूस हुआ कि मुस्लिम लीग और अंग्रेज दोनों मिलकर एक बहुत बड़ा षड्यंत्र रचना चाह रहे है।

3 जून को कांग्रेस ने बंटवारे की योजना मान ली। इस पर बादशाह खान बहुत उदास हो गये। उन्होंने गांधी जी को कहा, "सरहदी सूबे में हमारा भविष्य भारी खतरे से भरा हुआ है। हमे क्या करना चाहिए, यह कुछ नही सूझता।" गांधी जी ने उत्तर दिया, "खान साहब, अहिंसा मे निराशा को स्थान नही है। यह आपकी परीक्षा की घड़ी है। आप कह सकते हैं कि पाकिस्तान आपको बिल्कुल नामंजूर है और ऐसे रुख के कारण जो मुसीबतें आयें उन्हे झेलने को तैयार रहें। 'करेंगे या मरेंगे' की प्रतिज्ञा लेने वालों को डर किस बात का है!"

बटवारे की संशोधित योजना में मुख्य बात यह थी कि नये चुनावों के बदले सीमाप्रांत में मतगणना द्वारा यह निर्णय होगा कि वह हिन्दुस्तान में मिलना चाहता है कि पाकिस्तान मे। खान-बन्धु हिन्दुस्तान या पाकिस्तान किसी मे भी शामिल नही होना चाहते थे। वे मतगणना से भी नही डरते थे परन्तु वे पठानों के लिए अपना अलग देश बनाने की छूट चाहते थे। उन्होंने कहा, "हमारी आजादी बनी रहे तो हम अपनी रूखी-सूखी रोटी और घास-फूस की झोंपड़ियों में ही सतुष्ट रहेगे। हमे महलो की गुलामी से वह ज्यादा पसंद है। आज तो हम एक ऐसा पूजीवादी शासन चला रहे हैं, जो फिजूलखर्ची से भरा है। अकेले गवर्नर पर ही लाखो रुपये खर्च किये जाते हैं। साथ ही दूसरे ब्रिटिश अफसर भी हैं, जो हमारे प्रान्तीय राजस्व का बहुत बड़ा हिस्सा ले जाते हैं। अगर यह सब फिजूलखर्ची दूर

की जाय और यह सब रकम उत्पादक योजनाओं पर खर्च की जाय तो हम अपने सूबे को निश्चित रूप से स्वावलंबी बना सकेंगे।"

बादशाह खान ने यह मांग की कि पठानों को अपने मामलों को तय करने की पूरी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। वे यह चाहते थे कि एक ऐसी इकाई बनाई जाये जिसमें सभी पीढियों के लोग रहें चाहे उनकी जाति या धर्म अलग-अलग हों और इस इकाई के लोग अपना संविधान बनायें। यह संविधान तब बनाया जाये जब हिन्दुस्तान और पाकिस्तान दोनो का संविधान बन जाये। इसके बाद वे तय करेंगे कि वे किस उपनिवेश के साथ रहेंगे। मुस्लिम लीग ने यह बात स्वीकार नही की। वे यह चाहते थे कि उन्होंने अंग्रेजों को सहयोग दिया है इसलिए वे उसके नजराने के तौर पर उन्हे उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत दे दें। लार्ड माउंटबैटन की योजना को मुस्लिम लीग स्वीकार करे इसी पर ही उसकी सफलता निर्भर करती थी। अंग्रेज भी असफलता के साथ यहां से जाना नही चाहते थे।

माउंटबैटन ने कहा कि मतगणना उनको अवश्य करवानी पड़ेगी क्योंकि वे वचन दे चुके हैं और यदि मतगणना न हुई तो यह उनके लिए प्रतिष्ठा का प्रश्न था। यह भी हो सकता था कि कांग्रेस ही आगे आ जाये। कांग्रेसी नेता बटवारा नही चाहते थे परन्तु उनको यह कड़वा घूंट पीना पड़ा और उन्हें बंटवारे की योजना को मानना पड़ा। गाधी जी के सख्त विरोध के बावजूद उन्होंने उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रात मे मतगणना की शर्तों को मान लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि खान बंधु और उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रात के खुदाई खिदमतगार जो पिछले बीस साल से स्वतंत्रता के संघर्ष मे हमारे साथ कंधे से कंधा मिलाकर लड रहे थे उन्हे हमसे अलग कर दिया गया। बादशाह खान ने कुछ समय बाद कहा था, "उन्हें भेडियों के हवाले कर दिया गया।"

उपर्युक्त घटना का गांधी जी पर बहुत बुरा असर पड़ा। वे इस चिन्ता में पड़ गये कि कांग्रेस के निर्णय ने बादशाह खान और सीमाप्रांत के लोगो की स्थिति को बिगाड़ दिया है। उसका कोई न कोई हल निकाल लेना चाहिए। उन्होंने लार्ड माउटबैटन को सुझाव दिया कि वे जिन्ना से कहें कि उन्हे पाकिस्तान तो मिल ही गया है इसलिए वे अब सीमाप्रात की जनता को यह कहे कि उनके मन्त्रि-मंडल को प्रांतीय संविधान मिल जायेगा। इस तरह से उनका विश्वास प्राप्त करके उन्हे पाकिस्तान का प्रांत बनने के लिए प्रेरित करें। माउटबैटन ने गांधी जी का सुझाव जिन्ना के सामने रखा, पर उसका कोई असर नही हुआ। गाधी जी कांग्रेसी नेताओ से मिले। उनसे सुझाव लेकर उन्होंने बादशाह खान को सुझाया कि वे स्वयं जिन्ना और मुस्लिम लीग का विश्वास प्राप्त करने की कोशिश करे। इसके अनुसार बादशाह खान जिन्ना को उनके घर जाकर मिले। उन्होंने कहा कि वे पाकिस्तान के साथ मिलने को तैयार हैं परन्तु उनकी कुछ शर्तें हैं: (1) उन्हें

बड़े सम्मानपूर्वक पाकिस्तान में मिलाया जाये। (2) पाकिस्तान आजादी के बाद यह तय करे कि वह ब्रिटिश हकूमत में रहेगा तो पठानों को बसे हुए सूबों में या कबायली इलाको मे यह हक रहे कि वे ऐसी हकूमत से अपनी मर्जी से अलग हो जायें और अपना एक अलग सूबा बना लें। (3) कबायली लोगों के सब मामले पठान खुद आपस मे तय करेंगे, बाहर के किसी तीसरे आदमी का कोई दखल या अधिकार नही होगा, जैसा कि हक आज की विधान सभा से भी उन्हें मिला हुआ है।

पहले सब प्रस्तावो की तरह वह प्रस्ताव भी ठुकरा दिया गया। गांधी जी को लगा कि अब खान-बन्धुओं पर बडी मुसीबत आ गई है। उन्होंने कहा, "बादशाह खान एक महापुरुष हैं– ऐसे व्यक्तियों की हार नही हो सकती। मुझे पूरा भरोसा है कि वह किसी भी बलिदान से पीछे नहीं हटेंगे और पठानों की सेवा करते हुए ही प्राण त्याग करेंगे।"

गांधी जी को सबसे अधिक जिस बात का डर था वही हुआ। सरहदी नेताओं के इस निर्णय से कि वे मतगणना मे भाग नही लेंगे, जिन्ना और मुस्लिम लीग के धैर्य का बाध टूट गया। यही नही, अफगानिस्तान की सरकार ने भी लगभग इसी समय सार्वजनिक रूप से यह मांग की कि अफगानिस्तान और हिन्दुस्तान के बीच की सीमा बताने वाली ड्यूरैंड रेखा को संशोधित किया जाय। इससे लाभ उठाकर लीग ने बादशाह खान के खिलाफ बुरी तरह अभियान शुरू कर दिया। उनके लिए यह कहा गया कि वे अफगानिस्तान के हाथ की कठपुतली बने हुए है। यह आरोप गलत था। गांधी जी ने भी इसका विरोध किया। उन्होंने लार्ड माउंटबैटन को एक पत्र लिखा जिसमे उन्होंने लिखा, "बादशाह खान चाहते हैं कि मैं इस तथ्य की ओर आपका ध्यान खींचू कि मतगणना को प्रभावित करने के लिए पंजाबी मुसलमान सरहदी सूबे मे खुले आम भेजे जा रहे है। इससे खून-खराबी का खतरा बढता जाता है। वह यह भी कहते है कि जो गैर-मुस्लिम शरणार्थी हजारो की सख्या मे है, उन्हे मतगणना में भाग लेने का कोई मौका नही मिलेगा। इतना ही नही, बल्कि उन्हें धमकी दी गई है कि उन्होंने अगर राय देने की कोशिश की तो उन्हे सख्त सजा दी जायगी।"

माउंटबैटन ने बादशाह खान की शिकायत को उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत के गवर्नर के पास भेज दिया। इसका भी उन पर कोई असर नही पड़ा। बादशाह खान ने गाधी जी को पत्र लिखकर उसमें अपनी सब शिकायतें बताईं कि मुस्लिम लीग वाले उन्हें काफिर कहते हैं और गालियां देते है। उन्होंने लिखा कि अफसरों और मतगणना करने वाले अफसरों के बीच में षड्यंत्र रचे हुए हैं। मुस्लिम लीग की इच्छा है कि सभी लाल कुर्ती वाले लीडरों को खत्म कर दिया जाये और पाकिस्तान बन जाने पर उन पर मुकद्दमे चलाये जायें।

इस तरह की भड़काने वाली हिंसा और अंग्रेज अफसरों और मुस्लिम लीगियो के खुले गठबंधन के वातावरण में मतगणना की गई। खुदाई खिदमतगार और उनकी पार्टी ने उसमें कोई हिस्सा नही लिया और सरहदी सूबा पाकिस्तान का हिस्सा करार दे दिया गया। 30 जुलाई, 1947 को गांधी जी कश्मीर गये और बादशाह खान अपने प्रांत को लौट गये। गांधी जी ने कहा कि उनका काम वही है, "पाकिस्तान को पाक बनाने का।" बादशाह खान ने विदा होने तक गांधी जी के साथ के आदमियों से कहा, "महात्मा जी ने हमे सच्चा रास्ता दिखाया है। जब हम नही रहेंगे तब भी बहुत बरसों तक हिन्दुओं की आने वाली पीढ़ियां उन्हें याद करेंगी भगवान् कृष्ण के अवतार की तरह। मुसलमान उन्हें मसीहा मानेंगे और ईसाई दूसरा शांतिदूत। वह हिन्दुस्तान के लिए गर्व का दिन होगा। ईश्वर करे कि वह दीर्घायु हों, जिससे हमें प्रेरणा और शक्ति मिलती रहे और हम सत्य और न्याय के लिए अन्त तक लड़ते रहें।" इसके बाद वह गांधी जी से फिर कभी नही मिले।

डेढ़ सौ वर्षों की परतंत्रता के पश्चात् 15 अगस्त, 1947 को भारत स्वतंत्र हो गया परन्तु खान-बन्धुओं के लिए नये सघर्ष का सूत्रपात हुआ। डा० खान साहब का मंत्रिमंडल बंटवारे के बाद भी जारी रहा। साधारण ढंग से तो उसे हटाया जाना मुश्किल था। अतः 21 अगस्त को पाकिस्तान के गवर्नर जनरल जिन्ना ने एक जारशाही फरमान जारी करके उसे बर्खास्त किया।

बादशाह खान इससे ज़रा भी विचलित नही हुए और पठानिस्तान के अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए जनमत को शिक्षित करने का प्रयत्न करते रहे। सितंबर 1947 के पहले सप्ताह में संसदीय दल, पठान तरुण संघ, खुदाई खिदमतगारों और कबायली इलाके के प्रतिनिधियो की एक बडी सभा हुई। इसमें उन्होंने पठानिस्तान की अपनी मांग को एक बार फिर से स्पष्ट किया। उनका मतलब था कि पठान पाकिस्तान की एक इकाई के रूप में रहें परन्तु उन्हें अपने अन्दरूनी मामलो में पूरी स्वतंत्रता रहे। इस सभा मे कई प्रस्ताव पास किये गये जिनमें पठानो के लिए जो प्रस्ताव पास किया गया वह यह था, "यह नया राज्य आज के उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत के छ: बसे हुए जिलों और उनसे लगे हुए उन हिस्सों को मिलाकर बनेगा, जिनमें रहने वाले पठान स्वेच्छा से उसमे मिलना चाहें तो इस राज्य की रक्षा, विदेशी मामले और यातायात के मामलों मे पाकिस्तान की हकूमत के साथ सबध रहेगा।"

बादशाह खान ने घोषणा की, "मैं सारी जिन्दगी पठानिस्तान बनाने के लिए काम करता रहा हूं। पठानो के बीच मेल-जोल पैदा करने के लिए ही 1929 मे खुदाई खिदमतगार का संगठन बनाया गया था। 1929 मे मेरे जो सिद्धांत थे

उन्ही के अनुसार आज भी चलता हू। मेरा रास्ता साफ है, मैं उसे कभी नही छोडूंगा, चाहे मुझे दुनिया मे अकेला ही क्यो न खड़ा होना पड़े।"

बादशाह खान को बहुत बदनाम किया गया। गाधी जी को इससे बहुत चिन्ता हुई। 26 सितंबर को प्रार्थना के बाद उन्होंने अपने भाषण में कहा कि वे सदा युद्ध का विरोध करते रहे हैं परन्तु यदि पाकिस्तान से न्याय प्राप्त करने का कोई तरीका न हो तो भारत सरकार के लिए युद्ध घोषित करने के सिवा कोई चारा नही है। कुछ अंग्रेज आलोचकों ने गांधी जी के भाषण को चर्चिल जैसा बताकर उसकी आलोचना की।

नवम्बर के महीने मे गाधी जी के पास कई खतरनाक खबरें पहुंची जिनसे उन्हें खान-बधुओं की सुरक्षा का खतरा महसूस हुआ। गांधी जी ने 17 नवंबर, 1947 को बादशाह खान को एक पत्र भेजा, जिसमे उन्हें खुले आम यह सुझाव दिया गया कि वे सीमाप्रांत छोड दें और हिन्दुस्तान से अहिंसक लडाई चलायें। उन्होंने पत्र मे लिखा, "यह काम आप यहां मेरे साथ या और किसी ढंग से कर सकते हैं। मगर और ढंग क्या होगा, यह मैं नही जानता।" इसके अलावा अन्य विकल्प यही हो सकता है कि वे जहा हैं वही रहें और पाकिस्तानी अधिकारी उन पर जो भी अत्याचार करें, उनका मुकाबला करें।

बादशाह खान ऐसी किसी अग्निपरीक्षा से भाग जाने वालों मे नही थे। जवाब में उन्होंने गाधी जी को खबर भिजवाई कि वह उनके बारे मे फिक्र न करें। उन्हें और उनके साथियो को अपना आशीर्वाद दें और उनके लिए भगवान से प्रार्थना करें। तदनुसार अपने गुरु के प्रति सच्चे साबित होने, उनकी श्रद्धा के साक्षी बनकर, अपने भाई डा० खान साहब के साथ वह वही रहे। उन्होने सिर पर मंडरा रही विपत्तियों की कोई परवाह नही की।

जनवरी 1948 मे गाधी जी, जिन्होंने बादशाह खान को प्रेरणा दी थी और जो अहिंसा के उनके पथ-प्रदर्शक थे, एक हत्यारे की गोली के शिकार हो गये। तब अहिंसा के महान् और संकटपूर्ण प्रयोग में, जो कि दोनों ने एक साथ आयोजित और संचालित किया था, सरहदी गांधी अकेले पड गये। लेकिन गाधी जी की प्रेरणा के बाद वे ऐसे चमके और इतने ऊंचे उठे, जैसा इससे पहले शायद ही कभी हुआ हो।

फरवरी 1948 में उन्होंने कराची में जाकर डोमीनियन पार्लियामेंट मे शामिल होने का निश्चय किया। ऐसा उन्होंने इसलिए किया क्योंकि पाकिस्तान के मुसलमानों मे उनके विरुद्ध गलत प्रचार किया जा रहा था। उन्होंने सभी समाचार पत्रों में अपने बयान देकर अपना पठानिस्तान-संबंधी दृष्टिकोण स्पष्ट किया। इसके बाद पठानों पर यह इलजाम लगाया गया कि पठानिस्तान की माग प्रांतीयतावादी है। इसका बादशाह खान ने विरोध किया और कहा, "इस्लाम की

मूल भावना समानता में है, न कि एक पर दूसरे के आधिपत्य में। हम पठान दूसरों के हक छीनना नहीं चाहते, मगर यह भी नहीं चाहते कि दूसरे हमारे हक छीनें। हम सब भाई-भाई हैं। हम सिर्फ यही चाहते हैं कि इनमें से कोई एक-दूसरे के मामले में दखल न दे।

6 मार्च, 1948 को पाकिस्तान डोमीनियम पार्लियामेंट में पहली बार बोलते हुए जब उन्होंने पठानिस्तान की हलचल का अर्थ स्पष्ट किया और पाकिस्तान को मजबूत और खुशहाल बनाने के लिए सहिष्णुता तथा इस्लाम की भाईचारे और समानता की सोच को व्यवहार में लाने की जोरदार अपील की तब सबकी निगाह उनकी ओर मुड़ गई।

बादशाह खान पाकिस्तान में सब पददलित और शोषित लोगों की दृष्टि में पहले ही काफी प्रसिद्ध हो चुके थे परन्तु गाधी जी के महाप्रयाण के बाद सारे प्रगतिशील और उदार तत्त्वों के केन्द्र भी यही बन गये। कराची में उनके सम्मान में दी गई एक चायपार्टी में सिंध की अल्पसंख्यक श्रेणी के एक प्रतिनिधि ने कहा कि महात्मा गांधी जब तक जिन्दा थे तब तक अपनी कठिनाइयों के समय समाधान के लिए हम हमेशा उनके पास जाया करते थे मगर अब आपके पास आया करेंगे। क्योंकि, "महात्माजी के बाद हम आपको ही मानते हैं।" यह कहकर जो कठिन समय आगे आ रहा है, उसमें अपनी रहनुमाई के लिए उन्होंने बादशाह खान से प्रार्थना की।

उन्होंने कहा कि पठान और देश के अन्य प्रगतिशील लोगों के लम्बे स्वातंत्र्य संग्राम के परिणामस्वरूप पाकिस्तान बना। अगर उन्होंने अंग्रेजों को सत्ता छोड़ने पर मजबूर न किया होता, तो पाकिस्तान का निर्माण ही नहीं होता। पर देश छोड़ते हुए अंग्रेज शासकों ने सत्ता सौंपते समय स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने वालों के हाथ में सत्ता न देकर ऐसे लोगों को दी, जिन्होंने उसके लिए कुछ नहीं किया था। यही आज की दुर्दशा का मुख्य कारण है।

उन्होंने आगे कहा कि वे देश के बंटवारे के विरुद्ध थे पर जब पाकिस्तान बन गया तो पाकिस्तान के अच्छे-बुरे को वे अपना अच्छा-बुरा समझते हैं। वे जानना चाहते हैं कि उनकी ठीक-ठीक जगह क्या होगी? क्या उन्हें बराबर के हक मिलेंगे या नहीं? उनकी इच्छा थी कि पाकिस्तान की शासन-व्यवस्था के बारे में उनसे सलाह ली जानी चाहिए।

सरहदी सूबे में लौटने पर बादशाह खान ने लोगों के सामने जमीअत-उल-अवाम का कार्यक्रम रखते हुए बताया :

"मैं पाकिस्तान की संविधान सभा का तमाशा देखकर आया हूं। मुझे इन पाकिस्तानी लीडरों और उन पुराने बरतानवी नौकरशाहों में कतई कोई फर्क नजर नहीं आया।"

13 मई को बादशाह खान ने ऐलान कर दिया कि खुदाई खिदमतगारों का आंदोलन पाकिस्तान के तमाम सूबों में फैला दिया जाएगा। उन्होंने बताया कि खुदाई खिदमतगार वालटियरों के तौर पर जनता की सेवा करेंगे, जिसके कि वह पहले मंत्री चुने गये हैं। इस पर उन्हें 'तोड़फोड़ करने वाला' कहा गया और सरहदी सूबे के बड़े वजीर खान अब्दुल कयूम ने बादशाह खान के लिए यहां तक कहा कि "वह दुश्मन हैं और पाकिस्तान की हुकूमत की जड़ खोखली करने की कोशिश कर रहे है।"

इसके तीन महीने बाद बादशाह खान को गिरफ्तार कर लिया गया और इसी दिन उनके बेटे अब्दुल वली खान को भी उनके गाव मे अपने घर से कैद कर लिया गया। उन पर बगावत करने का दोष लगाया गया। उन पर मुकद्दमा चलाया गया। बादशाह खान ने कहा कि उनका कोई कसूर नही है। परंतु सरहदी अपराध कानून की धारा 40 के अधीन उनसे तीन साल तक अपनी नेकचलनी की जमानत मांगी गई। बादशाह खान ने जमानत देने से इंकार कर दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि उन्हें तीन साल की सख्त कैद की सजा सुना दी गई।

बादशाह खान की गिरफ्तारी के बाद खुदाई खिदमतगारों से गिन-गिनकर बदले लिये गये। उन पर अनगिनत अत्याचार किये गये। 12 अगस्त, 1948 को एक गांव में खुदाई खिदमतगारों ने एक मुजाहरा किया जिस पर अधाधुंध गोलियां चलाई गईं। हजारों जानें गईं। इस इलाके में सबसे बडा कब्रिस्तान इसो गाव के पास आज भी मौजूद है।

लगभग 18 वर्ष तक बादशाह खान कारावास की यातनाओं को सहन करते रहे। उनके साथ पत्र-व्यवहार की पाबंदी थी। बीच मे पाकिस्तान की अपनी एक सद्‌भावना-यात्रा के दौरान जयप्रकाश नारायण ने एक बार उनसे मिलने की कोशिश भी की लेकिन पाकिस्तानी अफसरों ने उन्हें बड़ी चालाकी से टाल दिया। दिसंबर 1964 से उन्हे पत्र लिखने की आज्ञा मिल गई। इंग्लैंड में वे इलाज कराने के लिए गये। वहां उनका स्वास्थ्य ठीक हो गया। उसके बाद उनका विचार अमरीका जाने का था परन्तु उनको वहां जाने का वीसा नही मिला जिसके कारण उन्हे अफगानिस्तान आना पड़ा और वहां वे काफी समय बीमार रहे। जेल का वायुमडल उनकी सेहत के लिए ठीक नही था। पाकिस्तानी सरकार ने उन पर बहुत अधिक सख्ती रखी। उन्हें उस समय रिहा किया गया जब उन्हे लगा कि अब तो वे मरने वाले हैं। जेल में उनकी सेहत की तरफ कोई ध्यान नही दिया गया। इसी बीच जनरल जिन्ना के साथ बातचीत करने की कोशिश जारी रही और ऐसा लगा कि उनका रुख पठानों के प्रति कुछ बदल गया है। जिन्ना ने वायदा किया कि वह खुदाई खिदमतगारों के प्रात में जाकर उनसे मिलेंगे।

ओलाफ कैरो के बाद डण्डास गवर्नर बनकर आये। ऊंचे-ऊंचे पद सभी अंग्रेजों

और उनके पिट्ठुओं के पास ही थे। जब उनको यह पता चला कि खुदाई खिदमतगारो की जिन्ना के साथ बातचीत हुई है और कुछ समझौता होने की संभावना है तो वे डर गये। जब जनरल जिन्ना सरहदी सूबे के लोगों से मिलने के लिए आये तो अंग्रेज अफसरों ने उन्हें मिलने के लिए मना कर दिया और कहा कि उन लोगों को चार महीने का समय दिया गया था जिसके कारण उन्हे बस में करना मुश्किल हो गया है। अफसरों ने जिन्ना को डराया कि कहीं खुदाई खिदमतगार उन्हे मार न दें। अंत में अब्दुल गफ्फार खा और जनरल जिन्ना की बातचीत तय हुई परन्तु उसमें भी सफलता नही मिली। जब बादशाह खान मुस्लिम लीग से मिलने के लिए किसी तरह भी तैयार न हुए तो उनको बड़ी साजिश से गिरफ्तार कर लिया गया। उनके गांव से उनके लड़के वली को भी गिरफ्तार कर लिया गिरफ्तारी के डेढ़ महीने [illegible] ।
डा० खान साहब अ- [illegible]
खुदाई खिदमतगार इकट्ठे हो रहे थे। [illegible] म जुमे की नमाज पढने के लिए ऊंचाई पर थी, जहां एक बुजुर्ग के पीछे-पीछे सब जुलूस की शक्ल में जा रहे थे। जुलूस पूरी तरह व्यवस्थित था, औरतों ने सिर पर कुरान शरीफ उठा रखे थे। अब्दुल कयूम ने चढ़ाई पर मस्जिद मे फौजें तैनात कर रखी थी। जैसे ही जुलूस मस्जिद की चढाई पर पहुंचा उसी समय पीछे से गोलियां चलनी शुरू हो गईं। उन्हें गोलियों से भून दिया गया और कहा कि वे कुरान शरीफ पढने के हकदार नही हैं क्योंकि वे हिन्दू हैं। इसके अलावा उन्हे और भी कई वीभत्स तरीकों से सताया गया। इसके एकदम बाद डा० खान साहब और अब्दुल गफ्फार खां के दूसरे बेटे गनी को भी गिरफ्तार कर लिया गया।

बादशाह खान को जेल में रहते हुए तीन साल हो गये थे, उसी समय एक दिन उन्हें जेल के सुपरिन्टेंडेंट ने आकर कहा कि लियाकत अली के आदेशानुसार उनसे पूछा गया है कि अब वे मुस्लिम लीग में शामिल होने के लिए तैयार हैं या नहीं और बंटवारे के बारे में उनका क्या विचार है? तब खान साहब ने उत्तर दिया, "हम तो कैदी हैं, सियासी झगडों से हमारा क्या मतलब?" जहां तक लीगी हकूमत में शामिल होने का ताल्लुक था, उन्होने कहा, "लीगियों के लिए हकूमत का मकसद है जाती ताकत हासिल करना, जबकि हमारी निगाह में यह अवाम की खिदमत करने का एक जरिया है, इसलिए हम दोनों किस तरह एकजुट हो सकते हैं?"

इसी समय उनसे जेल में मिलने एक सरदार बहादुर खान गये। उन्होंने बादशाह खान को बताया कि केन्द्रीय सरकार अधिक देर उन्हें जेल में रखने के हक में नही है परंतु उन्हें यह डर है कि खुदाई खिदमतगारों के साथ जो जुल्म हुए हैं वे उनके दिल में है। इस पर खान साहब ने कहा कि वे तो अहिंसा के

पुजारी है। इसके बाद सरदार बहादुर चले गये, लेकिन थोडी देर बाद फिर आये और खान बहादुर की रिहाई का फैसला सुना गये। फैसले के बाद भी उन्हें बंगाल रेगूलेशन ऐक्ट के आधीन चार साल तक और जेल मे रखा गया। इन चार सालों मे से एक साल उन्होंने सर्किट हाउस में बिताया। इस तरह सात साल बीत जाने के बाद भी सरकार का इरादा उन्हें छोड़ने का नही था। अब उन पर यह इलजाम लगाया गया कि वे अफगानिस्तान के साथ मिलकर साजिश कर रहे है और पाकिस्तान के लोगों को भड़काते है।

जून 1956 से जनवरी 1957 तक लाहौर जेल में विचाराधीन कैदी की तरह रहने के बाद उन्हे अदालत के उठने तक की कैद और 14,000 रु० जुर्माना की सजा दी गई। उन्होंने जुर्माना देने से इन्कार किया तो उनकी जायदाद जब्त कर ली गई। अक्टूबर 1958 मे उन्हे फिर गिरफ्तार कर लिया गया और 1960 के अत तक वे जेल मे ही रहे। फिर अप्रैल 1961 मे गिरफ्तार किया गया और 30 जनवरी, 1964 को तब छोड़ा गया जब उनका स्वास्थ्य विल्कुल गिर गया। पाकिस्तानी शासक यह नही चाहते थे कि उनकी मौत जेल में हो और उससे मुल्क मे उनकी बदनामी हो इसलिए उन्हें घर में नजरबद रखा गया। अधिकारियों ने शायद समझ लिया था कि अब यह बचेगे नही, लेकिन ऐसा नही हुआ।

बादशाह खान के इस तरह लगातार जेल मे रहने के कारण दुनिया-भर की निगाह उन पर गई। एमनेस्टी इन्टर नेशनल ने तो उन्हे 'उस साल के महान् बन्दी' के रूप में चुनकर इस तथ्य को प्रकाश मे ला दिया। अन्त मे अक्टूबर 1964 में जब उनका स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया तो उन्हे इग्लैंड इलाज करवाने जाने के लिए स्वीकृति दे दी। उसके बाद 1965 में वे काबुल आ गये।

अठारह साल तक लगातार उन्होंने अन्याय के विरुद्ध अपना आदोलन जारी रखा। जेल मे रहे या जेल से बाहर उनके सामने एक ही लक्ष्य था और वह था एक करोड़ पख्तूनो की आजादी हासिल करना। वे 'करेंगे या मरेंगे' और अहिंसा का हथियार उठाकर काम करते रहते हैं।

सितम्बर 1967 में सेवाग्राम-आश्रम की एक बहन अम्तुस्सलाम, जो बचपन से ही बापू जी के पास पली थी, बादशाह खान से मिलने अफगानिस्तान गई। जाने का कारण यह था कि खुदाई खिदमतगार जिस चीज का प्रचार कबाइली इलाके में करना चाहते थे उसकी पुष्टि के लिए वहा रचनात्मक कार्य आरम्भ किया जाय। वे वहां नही मिले, बाहर दौरे पर गये हुए थे। वही वे लोग पहुंच गये। उनका पैर बहुत खराब हो चुका था। डाक्टरों ने आराम करने के लिए कहा। परंतु वे आराम कर-करके थक गये थे इसलिए घूमने निकल गये, जिसमे

पैर की सूजन स्वतः ठीक हो गई।

भारत मे गाधी जन्म शताब्दी के अवसर पर बादशाह खान को भारत आने के लिए निमंत्रित किया गया परंतु उन्होंने उत्तर दिया कि आना मुश्किल है क्योकि उनको अलग हुए बहुत समय बीत चुका है। इस बीच नेहरू अवार्ड फोर प्रोमोटिंग इण्टरनेशनल अण्डरस्टैंडिंग कमेटी' द्वारा पारितोषिक के लिए बादशाह खान को चुना गया। उनकी तरफ से आने की स्वीकृति मिल गई। बादशाह खान को यहा लाने के लिए एक विशेष विमान की सरकार की तरफ से व्यवस्था की गई। टिकट भेजने की व्यवस्था हो रही थी परंतु बादशाह खान ने मना कर दिया और पहली अक्टूबर को सुबह 9 बजे दिल्ली पहुंच गये। तेईस साल के वियोग के बाद इस तरह बादशाह खान हिन्दुस्तान पहुंचे।

भारत पधारने पर उनका बड़ी गर्मजोशी से स्वागत एवं सम्मान हुआ। अनेक संस्थाओं ने उन्हें आमन्त्रित कर पुष्पांजलियां अर्पित की। वस्तुतः उनका ऐसा हार्दिक स्वागत स्वाभाविक ही था क्योकि भारतीय लोग उन्हे दूसरा गांधी ही मानते हैं।

निष्कर्षतः स्वाधीनता-संग्राम के सुप्रसिद्ध नायक खान अब्दुल गफ्फार खान एक अद्‌भुत एवं विलक्षण व्यक्तित्व हैं। महात्मा गांधी के समान इन्हें भी लोग श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से देखते है। सीमाप्रांत के होते हुए भी वे भारतीयता से ओत-प्रोत हैं। भारतीय स्वतंत्रता-आंदोलन मे गांधी जी से प्रभावित होकर आप कांग्रेस मे सम्मिलित हुए। वहां रहते हुए आपने जिस अनन्य देशभक्ति का परिचय दिया वह भारतीय स्वतत्रता-आंदोलन के इतिहास मे सदा चिरस्मरणीय रहेगी। उनकी इस असाधारण देशभक्ति का मूल्यांकन करते हुए पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा था :

"खान अब्दुल गफ्फार खान के व्यक्तित्व में सीमाप्रांत ने एक महान गौरव-शाली मनुष्य पैदा किया है — ऐसा मनुष्य जिस पर सारा हिन्दुस्तान गौरव कर सकता है, उसने सीमाप्रात के रहने वालों को अवनति के गढ़े से निकाला और अपने अद्वितीय बलिदानो से न केवल सीमाप्रांत प्रत्युत सारे हिन्दुस्तान का सिर ऊंचा किया। उसने खुदाई खिदमतगारों की सेना तैयार करके एक महान् कार्य किया है। अहिंसा एक प्रबल शस्त्र है। इसे केवल बहादुर और दिलेर मनुष्य ही प्रयोग कर सकते है। सीमाप्रात के स्वाभिमानी लोगो ने खान अब्दुल गफ्फार खान के नेतृत्व में इस शस्त्र को पूरी बहादुरी से अपनाया है।"

इसी भांति अविभाजित भारत के विख्यात राष्ट्रवादी मुसलमान डा० सैयद महमूद कहते हैं :

"पठानों ने स्वाधीनता के लिए गोलिया खाईं, परंतु पीठ नही दिखाई। यह

भाव सीमाप्रात के पठानों मे खान अब्दुल गफ्फार खान के प्रयत्नों से पैदा हुआ है। सीमाप्रांत के पठानों के बलिदानों के कारण समस्त देश के हिन्दू और मुसलमान उन्हे सारे देश का रक्षक समझते है और सीमाप्रात के पठानों को यह गौरव उनके नेता खान अब्दुल गफ्फार खान के कारण प्राप्त हुआ है। मुसलमानों और विशेषतः पठानों को इस बात का गर्व है कि उन्होंने हिन्दुस्तान मे राष्ट्रीयता को फैलाया और इसके सबसे पहले प्रवर्त्तक भी वही है।"

विनायक दामोदर सावरकर

क्रांतिकारी सेनानी के रूप में स्वातंत्र्य वीर सावरकर का आधुनिक भारतीय इतिहास में विशेष स्थान है। मौजी और घुमक्कड़ तरुणों को संगठित करके विद्यार्थी-जीवन में ही 'मित्र-मेला' नामक संस्था की स्थापना करने वाले वे ही थे। पूना के विद्यार्थी-जीवन में विदेशी वस्त्रों की भव्य होली जलाकर लोकमान्य तिलक के स्वदेशी आंदोलन को उग्रता प्रदान करने वाले और औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग का पर्दाफाश करके देश को संपूर्ण स्वतंत्रता का मंत्र देने वाले वे ही प्रथम देशभक्त थे। अत्यल्पकाल में महाराष्ट्र के युवकों में स्वतंत्रता की अग्नि को प्रज्वलित करके सावरकर जी ने सन् 1904 में हज़ारों की उपस्थिति में 'मित्र-मेला' नामक संस्था को 'अभिनव-भारत' की संज्ञा प्रदान की। तरुणों को तलवार और संगीनों से युक्त होने का आदेश देकर उन्होंने शत्रु के प्राणों की आहुतियों से स्वातंत्र्य यज्ञ को भड़काए रखने का आह्वान किया। उनके सशस्त्र क्रांति के संदेश और मंत्र ने मद्रास और बंगाल तक क्रांति की ज्वाला भड़का दी। क्रांति संगठनों की धूम मच गई।

तरुण सावरकर ने क्रांति युद्ध का विस्तार करने के लिए इंग्लैंड गमन का ऐतिहासिक निर्णय किया। वहां भी उन्होंने क्राति का शंखनाद किया। उन्होंने स्वतंत्रता प्राप्ति मे ही देश को सहयोग नही दिया, अपितु हिंदू धर्म को एकसूत्र मे पिरोकर 'हिंदू महासभा' के नाम से स्थापित कर खडा किया। यह संस्था पहले मामाजिक और धार्मिक सस्था के रूप मे ही प्रतिष्ठित थी। सावरकर जी के नेतृत्व मे ही यह राजनीतिक प्रतिनिधि संस्था के रूप मे विख्यात हुई।

ऐसे चरित्र नायक का जन्म 28 मई, 1883 ई० को नासिक के समीप भगूर ग्राम मे एक सपन्न परिवार मे हुआ। उनका जन्म महाराष्ट्र के उस चिर-प्रतिष्ठित ब्राह्मण वंश मे हुआ था जिसमे विगत दो शताब्दियो से निरतर ऐसे महापुरुष जन्म लेते रहे है जिन्होने अपनी प्रिय भारतभूमि की स्वतंत्रता के लिए विदेशियो से जूझते हुए अपने प्राणों की आहुति देना गौरव का चिह्न समझा हे। 1857 के क्रांति युद्ध के नेता नाना साहब पेशवा, ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह करने वाले वासदेव बलवन्त फडके, पूना के अंग्रेज अधिकारियो को गोली से उडाकर प्राणदड पाने वाले चापेकर वधु और रानाडे तथा लोकमान्य तिलक भी इसी वंश मे पैदा हुए थे।

सावरकर का बचपन का नाम तात्या था। इनके पिता का नाम श्री दामोदर पंत सावरकर तथा माता का नाम राधाबाई था। इनके माता-पिता दोनों ही श्री रामकृष्ण के कट्टर भक्त एव हिंदू धर्म के प्रति निष्ठावान थे। उन्होने महाराणा प्रताप, शिवाजी. गुरु गोविंदसिह आदि की शौर्य-गाथाओ को सुनाकर बालक विनायक के हृदय मे देश-भक्ति एवं राष्ट्रीयता के अंकुर प्रस्फुटित कर दिये थे। विनायक का हृदय हिंदू जाति के गौरवमय इतिहास को सुनकर प्रफुल्लित होने लगा। वह हृदय मे कल्पना करने लगा, "मैं भी छत्रपति शिवाजी व महाराणा प्रताप की तरह वीर बनकर हिंदू पद-पादशाही की स्थापना करूंगा, विदेशी शासकों के तख्त को चकनाचूर करके स्वतत्र हिंदू राष्ट्र का नवनिर्माण करूंगा।"

बालक विनायक को गाव के एक विद्यालय मे दाखिल करा दिया गया। अपने मित्रों को इकट्ठा करके राष्ट्रीय पद्यो का गायन करना, धनुष-बाण चलाना, तलवार चलाना, वीर रस के निर्माण करने वाले खेल खेलना, पूर्वजो के इतिहास की जानकारी करना आदि कार्य उन्होंने उसी समय प्रारंभ कर दिये। पूना मे हुए चापेकर बंधुओ के बलिदान से प्रेरित होकर उन्होंने 14-15 वर्ष की अवस्था मे कुलदेवी के सम्मुख देश की स्वतत्रता के लिए आमरण संघर्षरत रहने की भीपण प्रतिज्ञा की। "मैं भारतमाता की दास्य शृंखलाएं तोड़ने के लिए अपना जीवन अर्पण करता हू। मैं गुप्त सस्थाए खोलूगा, शस्त्र बनाऊंगा ओर समय आने पर भारतमाता की स्वतत्रता के लिए लड़ता-लड़ता मरूगा।"

युवकों के हृदय मे राष्ट्रभक्ति की भावनाएं प्रज्वलित करने के लिए विनायक ने छात्र-जीवन मे ही आग उगलने वाले पोवाड़े की रचना प्रारंभ कर दी थी। उनके पोवाड़े शिवाजी, महाराणा प्रताप, गुरु गोविंदसिंह आदि महापुरुषों की वीरता से संबंधित होते थे। देशभक्ति से ओतप्रोत पोवाड़ों को सुनकर किशोरों की बांहें फड़कने लगती थी। इससे जनमानस में स्वाधीनता के प्रति नवचेतना का जागरण होने लगा। 'नासिक वैभव' पत्र मे प्रकाशित विनायक के 'हिंदुस्तान का गौरव' शीर्षक लेख की कालेज के प्राध्यापकों व अन्य लोगों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की। उनके इन पोवाड़ों ने अनेक समाचार-पत्रों मे खूब ख्याति प्राप्त की। अंग्रेज सरकार ने इन पोवाड़ों को अपने शासन के विरुद्ध भड़काने वाला बताकर जब्त कर लिया था।

कुछ बड़े होने पर उन्हें पढ़ने के लिए नासिक भेजा गया। सन् 1900 मे वहां आपने 'मित्र-मेला' नाम से एक संस्था बनाई। पुलिस विवरणों के अनुसार यह अपने प्रारंभ से ही एक क्रांतिकारी संस्था थी और इसका उद्देश्य सशस्त्र क्रांति द्वारा स्वतत्रता प्राप्त करना था। यह संस्था अपना कार्य गुप्त और प्रकट दोनों प्रकार से करती थी। धीरे-धीरे इसकी शाखाएं संपूर्ण भारत मे व्याप्त हो गई थी। इस संस्था मे भाग लेने के लिए युवकों को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि देश को स्वाधीन करने के लिए वे अपना तन, मन, धन सभी कुछ अर्पित करने को सदैव तैयार करेंगे। सदस्यों में देशप्रेम की भावनाएं भरने के लिए लोकमान्य तिलक द्वारा प्रकाशित 'केसरी' और ऐसी ही अन्य पत्र-पत्रिकाएं मंगाई जाती थी। इस संस्था द्वारा महाराष्ट्र के प्रमुख नगरों मे 'गणेशोत्सव' और शिवाजी महोत्सव आदि कार्यक्रमों को आयोजित कर जनता में राष्ट्रीयता की ज्योति जगाई जाती थी। सार्वजनिक सभाओं मे क्रांतिकारी सिद्धांतों का प्रचार किया जाता था। विनायक इस सभा को 'राष्ट्रीय शिक्षणालय' के नाम से पुकारते थे। इस शिक्षणालय ने नासिक नगर को इस तीव्रता से परिवर्तित कर दिया था कि सरकार ने इस पर कड़ी निगरानी रखने के लिए विशेष आज्ञायें घोषित की थी। फिर भी युवको की शक्ति तथा हिम्मत दिन-प्रतिदिन बढ़ती रही। उसके सदस्य सावरकर को अपना नेता मानते और उनके आदेश पर सिर कटवाने के लिए भी तैयार रहते। इस प्रकार राष्ट्रीयता की दृष्टि से वह भारत मे सर्वप्रथम विद्यापीठ था जिसमे न केवल भूतकाल मे स्वतंत्रता के लिए बलिदान हुए देशभक्त और वीरों का इतिहास ही पढ़ाया जाता था, अपितु भारत वसुंधरा की मुक्ति के लिए उनके समान देशभक्त बनकर, उनकी-सी वीरता दिखाकर हंसते-हंसते मरना भी सिखाया जाता था।

विनायक के मन में विदेशी सरकार के प्रति पूर्णतया आक्रोश उभरने लगा था। 22 जनवरी, 1901 को जब इंग्लैंड की महारानी विक्टोरिया का देहान्त हो

गया तो अंग्रेजी सरकार ने समस्त देश में शोकसभाओं का आयोजन किया। सावरकर ने 'मित्र-मेला' की बैठक मे इसका सख्त विरोध करते हुए कहा, "इंग्लैंड की रानी हमारे दुश्मन की रानी है। अतः हम शोक क्यों मनाएं ? यदि अपने को गुलामी की बेड़ियों में जकड़ने वाली रानी की मृत्यु पर हम शोक मनाते हैं तो यह हमारी गुलाम वृत्ति का परिचायक ही होगा।"

यह समाचार सारे अखबारों मे प्रकाशित हुआ। अंग्रेज सरकार कुपित हो उठी। सावरकर को फर्ग्युसन कालेज से निष्कासित कर दिया गया। उन्ही दिनों महाराष्ट्र में लोकमान्य तिलक भी जनता मे राष्ट्रीयता की भावनाएं जाग्रत् करने में लगे हुए थे। 'केसरी' का सपादन भी वे इसी विचार से करते थे। उन्होंने जैसे ही यह समाचार सुना, उनके मुख से अनायास ही निकल पडा, "लगता है महाराष्ट्र मे शिवाजी ने पुनः जन्म ले लिया है।"

कुछ समय पश्चात् तिलक ने स्वयं सावरकर को अपने पास बुलवाया और उनके राष्ट्रीय विचारों की खूब प्रशसा की। सावरकर ने भी तिलक के चरण स्पर्श किए और उनसे आशीर्वाद मांगा। तिलक ने उन्हें उठाकर गले लगा लिया और पूर्ण सहयोग देने का वचन दिया।

सन् 1905-1906 में देश मे होने वाले स्वदेशी आदोलन मे भी सावरकर ने उत्साहपूर्वक भाग लिया। इस आंदोलन का मुख्य उद्देश्य लोगो में राष्ट्रीय भावनाओं को जाग्रत् करने के लिए तथा स्वदेशी प्रचार को बढाने के लिए विदेशी कपड़ो की होली जलाना था। सावरकर ने महाराष्ट्र-भर में अपने ओजस्वी भाषणों द्वारा स्वदेशी प्रचार पर बल देना शुरू कर दिया। उन्होंने विदेशी वस्तुओ के प्रति घृणा के भाव भरने शुरू कर दिए। एक सभा मे जनता का आह्वान करते हुए उन्होंने कहा था—"विदेशी वस्त्रों को घृणित और अपवित्र समझकर अग्नि की भेंट कर दो और इस पवित्र अग्नि को साक्षी रखकर आज और अभी से स्वदेशी का व्रत धारण करो।"

इस आह्वान का जनता ने सहर्ष स्वागत किया। होली जलाने के लिए लोगों ने कोट, पैंट, टाई आदि विदेशी कपड़ो को दासता का चिह्न समझकर उतार फेंका। 22 अगस्त, 1906 को लोकमान्य तिलक की अध्यक्षता में पूना शहर के मध्य एक विशाल मैदान में विदेशी वस्त्रों के ढेर पर अग्नि प्रज्वलित की गई। उसकी ऊंची-ऊंची लपटों से चारों ओर खड़ी जनता उत्साहित और प्रवाहित हो उठी। धू-धू करती इस भयकर आग को देखकर स्वयं तिलक ने कहा था, "यह आग विदेशी साम्राज्य को भी इसी प्रकार भस्म करके दम लेगी।" भारत में विदेशी वस्त्रों की यह सर्वप्रथम होली थी, जिसका सारा श्रेय सावरकर को था। इस समाचार को समाचार-पत्रों ने मुखपृष्ठ पर प्रकाशित

किया। यह समाचार शीघ्र ही समस्त संसार में फैल गया। समस्त देश में अंग्रेजों की दासता के प्रति घृणा और तीव्र हो उठी।

फर्ग्युसन कालेज से निष्कासित हो जाने पर उनको बंबई विश्वविद्यालय से बी० ए० की परीक्षा देने की अनुमति मिल गई। उन्होंने बी० ए० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। बी० ए० पास करते ही उन्होंने भारत की स्वाधीनता हेतु सशस्त्र क्रांति करने के लिए, अनेक राष्ट्रीय संस्थाओं की एक गुप्त सभा में 'अभिनव भारत' नाम से एक क्रांतिकारी संस्था की स्थापना की। इस संस्था के प्रत्येक सदस्य को निम्नलिखित प्रतिज्ञा लेनी पडती थी :

"छत्रपति शिवाजी के नाम पर, अपने पवित्र धर्म के नाम पर और अपने प्यारे देश के लिए पूर्व पुरुषों की कसम खाते हुए मैं यह प्रतिज्ञा करता हूं कि अपने राष्ट्र की पूर्ण स्वतंत्रता के लिए अंतिम सांस तक संघर्ष करता रहूंगा। मैं न तो आलस्य करूंगा और न अपने उद्देश्य से हटूंगा। मैं 'अभिनव भारत' के नियमों का पूर्णरूपेण पालन करूंगा और संस्था के कार्यक्रम को बिल्कुल गुप्त रखूंगा।"

सावरकर ने युवकों में अपने ओजस्वी भाषण से देशभक्ति की भावना भरनी शुरू कर दी। उनके ओजस्वी भाषणों ने महाराष्ट्र-भर में तहलका मचा दिया। उन्होंने पूना की एक सभा में स्वदेश के प्रति प्रेम को जाग्रत् करने के लिए अपने उग्र भाषण में सशस्त्र क्रांति पर बल देते हुए कहा, "छत्रपति शिवाजी की सन्तानो! जिस प्रकार शिवाजी ने मुगल साम्राज्य को विध्वंस किया, सदाशिव राव भांड ने मुगल तख्त को चकनाचूर किया। उसी प्रकार तुम्हें अब भारत मां को दासता की बेडियों में जकडने वाले अंग्रेजों के अत्याचारी साम्राज्य को चकनाचूर करके स्वाधीन हिंदू राष्ट्र की स्थापना करनी है। सशस्त्र क्रांति के बल पर इस विदेशी साम्राज्य का तख्ता पलटना है।"

सन् 1906 में सुप्रसिद्ध देशभक्त प० श्यामजी कृष्ण वर्मा की शिवाजी छात्रवृत्ति प्राप्त कर सावरकर बैरिस्टरी पढने के लिए इंग्लैंड गए। पं० वर्मा के लंदन स्थित 'भारत भवन' में उनका एक वीर के रूप में शानदार स्वागत किया गया। उनको वहीं ठहराया गया। उन्होंने अपने ध्येय की सिद्धि के लिए सावधानी से कार्य आरंभ किया। अल्पकाल में ही 'भारत भवन' भारतीय क्रांति का केन्द्र बन गया। लंदन में 'अभिनव भारत' की एक शाखा की स्थापना करके उन्होंने भारतीय क्रांति युद्ध को अंतर्राष्ट्रीयता प्रदान की। वे प्रति सप्ताह लंदन के विभिन्न क्षेत्रों में सभाओं का आयोजन कर भारतीय युवकों को इटली, फ्रांस, अमरीका आदि देशों के द्वारा की गई क्रांतियों का उदाहरण देकर उनको भारत में भी क्रांति मचा देने के लिए प्रेरित करते। उन्होंने प्रथम बैठक में भारतीय युवकों को सम्बोधित करते हुए कहा, "अंग्रेजी साम्राज्य को भारत से तभी समाप्त

किया जा सकता है जबकि भारतीय युवक हाथों मे शस्त्र लेकर मरने-मारने को कटिबद्ध हो जाये। सशस्त्र क्रांति के द्वारा ही भारत की स्वाधीनता संभव है। अतः हमे भारतीय युवकों को इसके लिए तैयार करना है। उनकी शस्त्रास्त्रों से सहायता करनी है।"

उनकी प्रेरणा से हेमचंद्र दास और सेनापति बापट ने रूसी क्रांतिकारियों की सहायता से बम विद्या सीखकर भारतीय स्वातंत्र्य युद्ध मे बम युग का तेजस्वी अध्याय जोड़ा। अत्यंत युक्ति से लंदन से पिस्तौलों के पार्सल भेजकर उन्होंने भारतीय क्रांति वीरों को शस्त्रों की आपूर्ति की। क्रांति की आग फैलाने के लिए 'सत्तावन का स्वातंत्र्य समर' और 'मैजिनी' नामक दो ग्रंथों की उन्होंने रचना की। प्रकाशन के पूर्व ही दो देशों द्वारा जब्त आदेश होने पर भी प्रथम पुस्तक का प्रकाशन कराकर उन्होंने अंग्रेज शासन को मात दे दी। इस ग्रंथ से उनकी तेजस्वी अलौकिक बुद्धि, तीक्ष्ण संशोधक वृत्ति, विद्वत्ता एवं काव्यप्रतिभा का परिचय मिलता है। काव्यमय वर्णनों, अलौकिक बलिदानों की उत्तेजक कथाओ, श्रेष्ठतम ध्येयवाद के स्वातंत्र्य सूत्रों से अलकृत यह ग्रंथ भारतीय क्रांति के वेद या गीता की प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ। राष्ट्र की अस्मिता को जाग्रत् करके असंख्य भारतीयों को राष्ट्रभक्ति की दिव्य प्रेरणा देने वाले इस ग्रंथ का प्रसिद्ध क्रांतिकारी भगतसिह नित्य पाठ करते थे। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने तो इसे आजाद हिंद सेना मे पाठ्य ग्रंथ के रूप में ही स्वीकार किया था। दोनों ने इसे भारी सख्या में छपवाकर जनता में मुफ्त बंटवाया। इसी ग्रंथ से प्रेरणा पाकर सुभाष बीर सावरकर से मिले थे और उनकी प्रेरणा से ही विदेश जाकर आज़ाद हिंद सेना का सगठन किया था। इस ग्रंथ के प्रचार से भारतीय यौवन स्वाधीनता के लिए मचल उठा था। इस सबका श्रेय सावरकर की सशक्त लेखनी को दिया जा सकता है जिन्होंने 1857 की क्राति का उद्धरण प्रस्तुत कर भारतीय जनता के सामने इसी को दोहराने के लिए कटिबद्ध कर दिया था।

भारतीय सैनिकों में स्वदेश-प्रेम की भावना जाग्रत् करने के लिए सावरकर ने छोटे-छोटे पत्रक सैनिक भर्ती के मुख्य केन्द्रो मे गुप्त रूप से भेजने शुरू कर दिये। उन पत्रकों में सैनिको को हिंदुत्व व मातृभूमि की महत्ता बताकर गुलामी के कलंक से मुक्ति की प्रेरणा दी जाती थी। परंतु ब्रिटिश सरकार को जब इन पत्रकों का पता चला तो उन्होंने इस पर प्रतिबंध लगा दिया। सावरकर की इन गतिविधियों को देखकर ब्रिटिश सरकार उन पर एवं 'अभिनव भारत' पर सतर्कतापूर्वक निगरानी रखने लगी। उनका कहना था "यह भारतीय युवक ब्रिटिश शासन के विरुद्ध भारी भयंकर षड्यंत्र रच रहा है।"

उन्होंने रूस, फ्रांस, चीन, अमेरिका एवं जर्मनी आदि के समाचार-पत्रो मे स्वाधीनता के पक्ष में तर्कसगत लेख लिखे। उनके इन लेखों से प्रभावित होकर

विदेशियों ने भारत की स्वाधीनता के लिए समर्थन किया। इंग्लैंड के अनेक पत्रकारों ने भी अपने पत्रों में लिखा, "भारतीयों को स्वाधीन होने की मांग बिल्कुल न्यायोचित है। अब उन्हें अधिक समय तक पराधीन नहीं रखा जा सकता।"

भारतीय भवन पर भी गुप्त सभाएं करना असंभव हो गया। अब प्रत्येक भारतीय युवक का घर ही 'भारत-भवन' बन गया। सब लोग प्रतिदिन रात्रि को एक स्थान पर एकत्र होते और अपनी राजनीतिक प्रतिज्ञाओं को दोहराते थे। वे ज़ोर-ज़ोर से कहते थे, "भारत स्वतंत्र होकर रहेगा। भारत अवश्य एक राष्ट्र बनेगा। भारत अवश्य लोकसत्तात्मक होगा। भारत में एक भाषा और एक लिपि होगी। लिपि देवनागरी और भाषा हिंदी होगी। लोकसत्ता में चाहे राजा रहे अथवा जनता द्वारा चुना हुआ राष्ट्रपति, परंतु वह तभी तक सत्ताधारी रह सकेगा जब तक भारतीय जनता द्वारा निर्वाचित होगा।" इस उद्धरण से स्पष्ट है कि क्रांतिकारी लोग केवल ध्वंसात्मक कार्य ही नहीं करते थे, अपितु वे भारत के भावी शासन-विधान की रूपरेखा भी बना रहे थे।

विद्यार्थी सावरकर के क्रांतिकारी कार्यों से अंग्रेज़ी साम्राज्य दहल गया। लंदन में कर्ज़न वायली को मदनलाल धींगरा ने और नासिक मे कान्हेरे ने जैक्सन को गोलियों का निशाना बनाया। दमन-चक्र में सैकड़ों क्रांतिकारी पिस गए। विनायक सावरकर के ज्येष्ठ बंधु बाबाराव सावरकर को अंडमान भेजा गया। लंदन में साम्राज्य की छाती पर बैठकर अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सूत्रों को हिलाने वाले तरुण सावरकर को फंसाने के लिए भी प्रबंध पूरा कर लिया गया। *अस्वस्थ होने पर भी वे पेरिस से लौटते ही लंदन स्टेशन पर पकड़े गए।* उन पर निम्नलिखित पांच अभियोग लगाये गये :

(1) भारत के अंग्रेज़ी शासन के विरुद्ध षड्यंत्र रचना।

(2) ब्रिटिश सम्राट् को प्रभुसत्ता से वंचित कराने का प्रयास करना।

(3) अवैध शस्त्रास्त्रों का संग्रह, वितरण करना तथा 'जैक्सन व कर्ज़न वायली की हत्या की प्रेरणा देना।

(4) लंदन में शस्त्रों का सग्रह तथा भारत को निर्यात।

(5) भारत में जनवरी, 1906 से मार्च 1906 तक तथा लंदन में 1908 से 1909 तक राजद्रोहात्मक भाषण देना।

भारतीय दंडविधान की 121 अ का अभियोग इन पर लगाया गया। इसके बाद इन्हें ब्रिस्टन जेल भेज दिया गया। इनके मित्रों ने इन्हें मुक्त कराने के लिए अनेक षड्यंत्र रचे, परंतु वे सब असफल रहे। मुकदमा चलाने के लिए उन्हें भारत भेजने का निश्चय किया गया। ब्रिस्टन जेल में नज़रबंद वीर सावरकर ने अपनी

पूज्या भावज को अपने अंतिम पत्र के रूप मे 'मृत्युपत्र' लिखा। उस ऐतिहासिक पत्र का एक अश द्रष्टव्य है :

"मातृभूमि ! तेरे चरणों पर मैं अपना मन अर्पण कर चुका हूं। मेरा वक्तृत्व, वाग्वैभव, मेरी नई कविता सभी तेरे चरणो में अर्पित करता हूं। मेरे लेखों मे भी कोई अन्य विषय नही। तेरे स्थंडिल पर प्यारे मित्र सघ को डाल चुका हूं, अपना तन, मन, धन, यौवन सभी दे चुका हूं। तेरा कार्य ईश्वरीय कार्य है, इसीलिए तेरी सेवा में भगवान की सेवा दिखाई दी। प्रज्वलित अग्नि मे अपनी भावज, पुत्र, कांता और अग्रज को भी भेंट कर चुका हूं और मैं स्वयं अपना शरीर चढाने के लिए प्रस्तुत हूं। यही क्या, यदि हम सात भाई भी होते तो उनका बलिदान तेरे चरणो मे होता। इस भारत-भूमि की तीस करोड संतान हैं। जो मातृ-भक्ति में लगे हुए हैं वे धन्य है। हमारा कुल भी उनमे ईश्वरीय अंश के समान है। निर्वंश होकर भी हमारा वश अखंड हो गया। वश चाहे अखंड हो चाहे न हो, पर मातृ-भूमि ! हमारे उद्देश्य पूरित हो। प्रज्वलित अग्नि में माता के बंधन तोडने के लिए अपना सर्वस्व जलाकर हम कृतार्थ हो गए हैं।"

अंग्रेज सरकार ने 1 जुलाई, 1910 को इस महान् देशभक्त को 'मेरिया' नामक जहाज़ मे बैठाकर भारत भेज दिया। लंदन से भारत को प्रस्थान होने से पूर्व सावरकर ने वहा के सक्रिय क्रांतिकारियो के नाम लिखित सदेश मे कहा, "जिस प्रकार एक भारतीय नाटक के सभी पात्र मृत और जीवित भी, एक समय अंत मे मिलते हैं, उसी तरह इस संघर्ष नाटक के हम सभी असंख्य पात्र भी कभी इतिहास के रंगमच पर अवश्य मिलेंगे और तब मानवतारूपी दर्शक हमारा हर्ष से स्वागत करेंगे। तव तक के लिए मित्रो ! विदा-विदा !

"मेरी लाश कही भी गिरे, चाहे अंडमान की अंधेरी काल-कोठरी मे, अथवा गंगा की परम पवित्र धारा मे, वह हमारे संघर्ष को प्रगति ही देगी। युद्ध मे लडना और गिर पडना भी एक प्रकार की विजय ही है। अत. प्यारे मित्रो ! विदा !"

जहाज पर इनकी देखरेख के लिए सख्त पहरा था। समुद्र की भयानक लहरों से गुजरता हुआ जहाज तीव्रगति से भारत की ओर बढ़ रहा था। सशस्त्र पुलिस के पहरे में बैठे सावरकर अपने विचारों मे मग्न थे। उन्हे जेल की वह घटना अचानक स्मरण हो आई, जब एक अंग्रेज ने उन्हे सूचना दी थी कि "सावरकर, तुम्हारे दोनो भाई भी जेल के सीखचों में बंद कर दिये गये है।" उन्होंने हंसते हुए उत्तर दिया था, "मेरा यह सौभाग्य है कि हमारा सारा परिवार अपनी मातृभूमि की परतंत्रता की बेड़िया काट देने के लिए सर्वस्व लुटा देने को तैयार है।"

वह अंग्रेज पत्रकार सावरकर की देशभक्ति को देखकर मुग्ध हो गया।

उनके विचारो का उस पर इतना प्रभाव पड़ा कि उसने अपने समाचार-पत्रों मे भारत की स्वतंत्रता के समर्थन मे बहुत-से लेख लिखे। परिणामतः ब्रिटिश सरकार ने उसे सावरकर के साथ ही जेल में डाल दिया।

यही सब कुछ याद करते-करते सावरकर के मस्तिष्क में छत्रपति शिवाजी द्वारा औरंगजेब के कारागार से चतुरता से मुक्त होने की योजना घूम गई। उन्होंने विचार किया कि विदेशी साम्राज्य की जेलों मे यातनाएं सहन करने की अपेक्षा मुक्त होकर मातृभूमि को स्वाधीन कराने में योगदान देना कही अच्छा है। फांसी पर चढने की अपेक्षा अंग्रेज अधिकारियों से दो-दो हाथ करते हुए शहीद हो जाना कही अधिक उचित है। उन्होंने गोरों के चंगुल से मुक्त होने का निश्चय कर लिया। मार्ग मे मार्सेल बन्दरगाह के निकट अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण होते ही वे विकल हो गए। स्वातंत्र्य लक्ष्मी का स्मरण कर जहाज के पोर्ट होल से फ्रांस के अथाह सागर में छलांग लगाकर, गोलियों की बौछार में तैरकर उन्होंने फ्रांस की भूमि पर पदन्यास किया। पर लोभी फ्रेंच पुलिस ने उन्हे अंग्रेज अधिकारियों को सौंप दिया। अंग्रेज पुलिस ने उन्हें हथकड़ी, बेडियों से जकड़कर जहाज़ पर चढाया और भारत की ओर चल पड़े। सावरकर के अदम्य साहस की यह रोमांचकारी घटना सारे ससार में बिजली की तरह फैल गई। विश्व के सभी प्रमुख समाचार-पत्रों ने मुख-पृष्ठ पर प्रमुख रूप से इस घटना को प्रकाशित किया।

भारत में उन पर पुनः मुकदमा चला। 6 अक्तूबर, 1910 को मुकदमे का नाटक प्रारंभ हुआ। सावरकर ने एक प्रार्थना-पत्र दिया कि जब तक फ्रांस व ब्रिटेन के अधिकार का मामला विचाराधीन है, मुकदमा स्थगित रहे। किंतु अदालत ने यह मांग अस्वीकार कर दी। ब्रिटिश सरकार ने सावरकर को फ्रांस को लौटाने से साफ इंकार कर दिया। विवाद को शांत करने के लिए यह मामला हेग के अंतर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण को सौंपा गया। हेग के अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय में अंत में फ्रांस ने अंग्रेजों से दबकर सावरकर को मुक्त कर देने की मांग वापस ले ली।

सावरकर के वकीलो ने गवाहो के आरोपो की धज्जियां उड़ा दीं। किंतु सावरकर ने अदालत के समक्ष कोई वक्तव्य देने तथा प्रमाण प्रस्तुत करने से इंकार करते हुए कहा, "मेरे ऊपर जो अभियोग लगाए गए हैं, उनके बारे में मैं कुछ नही कहना चाहता। मैंने लंदन मे चले मुकदमे में भाग लिया क्योंकि वहा की अदालतें जनतांत्रिक पद्धति की है जिनसे न्याय की आशा की जा सकती है जबकि भारत की अदालतो में जनतंत्र व न्याय नाम को भी नही है। अतः ऐसी अविश्वसनीय व निकम्मी अदालत के समक्ष कोई वक्तव्य देना या अपना पक्ष प्रस्तुत करना मैं व्यर्थ समझता हूं।"

अदालत ने सावरकर को ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विद्रोह की प्रेरणा देने व

बम आदि शस्त्रास्त्र बनाने के आरोपों में आजीवन कारावास का दण्ड सुना दिया। सावरकर व अन्य क्रांतिकारियों ने 'स्वातन्त्र्य लक्ष्मी की जय' के उद्घोषों के साथ निर्णय का स्वागत किया।

जैक्सन की हत्या के दूसरे आरोप में भी उन्हें आजन्म कालापानी की सजा मिली। जज ने निर्णय में कहा—"सावरकर जैसे खूख्वार अपराधी को दो आजन्म अर्थात् 50 वर्ष तक कालापानी में रखा जाये।"

अदालत के बाहर सावरकर जी के मुकदमे का निर्णय सुनने के लिए सहस्रों व्यक्ति एकत्रित थे। सावरकर जी ने तब एक साथी से कहा था—"तप, बलिदान एवं त्याग से ही स्वातंत्र्य लक्ष्मी प्रसन्न होगी। भारतीयों को अब अपना सर्वस्व मातृ-भूमि के चरणों में न्यौछावर कर देना चाहिये, तभी हम अंग्रेजी साम्राज्य को ध्वस्त करने में सफल होंगे।" युवक सावरकर को ऐसा कठोर दंड दिये जाने पर समस्त देश में क्षोभ की लहर दौड़ गई। सरकार के पास कई हजार विरोध-पत्र भेजकर उन्हे मुक्त करने की मांग की गयी। किंतु अंग्रेज सरकार अपने निर्णय से टस से मस न हुई।

सावरकर को अण्डमान भेजने से पूर्व डोंगरी कारागृह में बंद कर दिया। वहां उन्हें उसी ऐतिहासिक बैरक में रखा गया, जिसमें लोकमान्य तिलक को दो बार रखा गया था। एक दिन अचानक उनकी पत्नी उनसे भेंट करने आ गई। भावावेश में आकर उसकी अश्रुधारा प्रवाहित हो उठी। वीर सावरकर अपनी पत्नी की तीव्र मनोव्यथा का अनुभव कर रहे थे। पर वे स्थितप्रज्ञ हो बोले—

"धीरज रखो! केवल संतान पैदा करना और खाना-पीना, मौज करना यही मात्र मानव-जीवन का उद्देश्य नहीं है। ऐसा जीवन तो पशु-पक्षी भी बिता रहे हैं। हमें तो समाज और देश की दुर्दशा को मिटाना और भारतमाता की गुलामी की बेड़ियां चूर-चूर करना है। इसी उद्देश्य से हमने अपने व्यक्तिगत सुखोपभोगों का त्याग कर यह कंटकाकीर्ण मार्ग स्वेच्छा से अपनाया है। हमने स्वयं अपने हाथों अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को तिलाजलि दे दी है, ताकि भारत के करोड़ों लोगों के कष्ट दूर हों। इसलिए चिन्ता न करो और धैर्य के साथ आने वाली आपदाओं को सहर्ष सहन करो। वही सच्ची मानवता है। इसी में सच्चा पुरुषार्थ है।"

तरुण पत्नी ने अपने वीर पति के मुख से उपर्युक्त वीरतापूर्ण शब्द सुने तो उसका हृदय गर्व से उछलने लगा। उसने लोहे की सीखचों में हाथ देकर अपने पूज्य पति के चरण-स्पर्श किये। वीर पत्नी ने दृढ़ता से कहा—"आप चिंता न करें। मुझे क्या यह कम सुख है कि मेरा वीर पति मातृभूमि की सेवा के लिए कठोर साधना कर रहा है।"

डोंगरी जेल से सावरकर जी को भायखला जेल ले जाया गया। वहां से उन्हें

थाने के बंदीगृह में भेज दिया गया। वहां के कष्टों का वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है—"थाने के बंदीगृह में मुझे जिस कमरे में रखा गया था, उस पर दुष्टों में प्रख्यात मुसलमान वार्डर रखे गए थे। एकदम एकांत। भोजन आया, कौर भी निगल न सका। बाजरे की बेकार रोटी, न मालूम कैसी खट्टी तरकारी! मुंह में रखना भी कठिन। रोटी का टुकड़ा काटा जाय, थोड़ा चबाया जाय, ऊपर घूंट भर पानी पिया जाय और उसी के साथ कौर निकल लिया जाय। इसी रीति से कुछ कौर निगल पाता।"

अंततः एक दिन 'महाराजा' नामक जलयान से वीर सावरकर को अण्डमान निकोबार भेज दिया गया। जब उन्होंने जेल में अपना कदम रखा उस समय ब्रिटिश जेल के सुपरिंटेंडेंट ने व्यंग्यपूर्ण शब्दों में पूछा—"ऐ युवक! क्या तुम इतनी लंबी अवधि की सज़ा भुगतने के पश्चात् जीवित रूप में वापिस जाने की आशा रखते हो?" इसका प्रत्युत्तर देते हुए सावरकर ने कहा—"जेलर साहब! क्या आप समझते हैं कि उस समय तक ब्रिटिश सरकार भारत में कायम रहेगी?"

कालापानी का दंड कोई साधारण दंड नहीं होता था। कितने ही कैदी उस सज़ा से घबराकर आत्महत्या कर लेते थे। ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा दिये गये कष्टों से वहा के कैदी अपनी सजा पूरी करने से पूर्व ही दम तोड़ देते थे। आशुतोष लाहिड़ी, भाई हृदयराम सिंह और भाई परमानंद जैसे अनेक क्रांतिकारियों को पोर्ट ब्लेअर की इसी काल कोठरी में रखा गया था।

सावरकर जी ने अपनी आत्मकथा में कालापानी के जेल-जीवन की कुछ झांकियां दी हैं, जिन्हें पढ़कर लगता है कि स्वतंत्रता के दीवाने अपने देश से परतंत्रता की जड़ उखाड़ फेंकने के लिए कितने कष्ट हंसते-हंसते झेलते रहे। उन्होंने 'माझी जन्मठेप' में लिखा है—

"हमें तेल का कोल्हू चलाने का काम सौंपा गया, जो बैल के ही योग्य काम माना जाता है। जेल में सबसे कठिन काम कोल्हू चलाना है—सवेरे उठते ही लंगोटी पहनकर कमरे में बंद होना तथा शाम तक कोल्हू का डंडा हाथ से घुमाते रहना। कोल्हू में घानी के पड़ते ही वह इतना भारी चलने लगता कि हृष्ट-पुष्ट शरीर के व्यक्ति भी उसकी बीस फेरियां करके रोने लग जाते। राजनीतिक कैदियों का स्वास्थ्य खराब हो या अच्छा, ये सब सख्त काम उन्हें दिये जाते थे। सवेरे से दस बजे तक लगातार चक्कर लगाने से सांस लेना भारी हो जाता और प्रायः सभी को चक्कर आ जाता और कुछ तो बेहोश भी हो जाते। दोपहर को भोजन आते ही दरवाजा खुल पड़ता, कैदी थाली भर लेता और अंदर जाता कि दरवाजा बंद। यदि इस बीच कोई अभागा कैदी यह कोशिश करता कि हाथ-पैर धो ले, या बदन पर थोड़ी धूप लगाले तो नंबरदार का पारा चढ़ जाता था। वह

मां-बहन की सैंकडों गालिया देना शुरू कर देता। हाथ धोने को पानी नही मिलता था। पीने के पानी के लिए ही नंबरदार के सैंकड़ों निहोरे करने पड़ते।"

"सौ मे एकाध ही ऐसा होता जो दिन-भर कोल्हू मे जुतकर तीस पौंड तेल निकाल पाता। जो कोल्हू चलाते-चलाते थककर हाय-हाय करते उन पर जमादार की मार पड़ती। तेल पूरा न होने पर ऊपर से थप्पड़ पड़ रहे है, लाठियां बरस रही है, आखों से आंसुओ की धाराएं बह रही है।"

सावरकर ने अंडमान के बंदियों मे राजनीतिक जागृति उत्पन्न करने के लिए उन्हें भारत व विश्व के इतिहास से परिचित कराने के लिए 'स्वाध्याय मंडल' की स्थापना की थी। इस मंडल मे वे कैदियों को इतिहास, साहित्य, दर्शन, राजनीति तथा हिन्दू धर्म के विषय मे जानकारी देते थे। वे प्रतिदिन अपने बंदी साथियों को प्रेरणा देते थे कि मातृभूमि के लिए कुर्बान होते समय हमारे चेहरे मुस्कान से खिले रहने चाहिए।

जब मुसलमान वार्डर अंग्रेज अधिकारियों के कहने पर हिन्दुओं पर मनमाने अत्याचार करने लगे तब सावरकर ने भी हिन्दुओं को प्रेरित किया कि वे भी कायरों की तरह चुपचाप बैठे न रहें, डटकर बदला लें। पठान मुसलमानों ने जब सहानुभूति दिखा कर हिन्दुओं को मुसलमान बनाना शुरू किया तो प्रत्युत्तर मे सावरकर शुद्धि के कार्य से मुसलमान हिन्दू को पुनः हिन्दू बना लेते थे। मुसलमानों के इन कारनामों ने ही सावरकर के हृदय मे हिन्दू राष्ट्र की ज्योति को और अधिक प्रज्वलित करने मे सहयोग दिया।

सावरकर जब भी किसी को पत्र लिखते तो पुस्तकें भेजने का आग्रह अवश्य रहता। उन्होंने जेल में लगभग 25 हजार पुस्तकें एकत्रित कर ली थी। कालकोठरी मे भी उनकी प्रतिभा फूली-फली। टूटी कील, कोयला या नाखून से कोठरी की दीवार पर उन्होंने सहस्रों पंक्तियों की सुंदर-भव्य रचना की। उन्हें स्वयं कंठस्थ करके एक मुक्त होने वाले सहबंदी को कंठस्थ कराकर उन्होंने कारागार के बाहर भेजा। सरस्वती की ऐसी अनुपम आराधना किसी अन्य व्यक्ति ने संभवतः ही की हो।

वीर सावरकर 'अनशन' व 'सत्याग्रह' जैसी रीति पर किंचित भी विश्वास नही करते थे। अडमान की अमानवीय यातनाओं से त्रस्त होकर इन्दुभूषणराय ने आत्महत्या कर ली, उल्हासकर दत्त पागल हो गये। जब भाई परमानन्द एवं श्री आशुतोष लाहिडी ने जेल-यातनाओं के विरुद्ध आमरण अनशन प्रारभ कर दिया तो सावरकर ने भाई परमानंद जी को समझाते हुए कहा —"यदि कोई कार्य ही करना है तो शत्रुपक्ष की हानि अधिक हो ऐसा कार्य करो। स्वयं भूखा रहकर प्राण त्यागने से क्या लाभ ?" भाई जी मान गये और अनशन त्याग दिया। सावरकर की ही प्रेरणा से इलाहाबाद के प्रसिद्ध क्रांतिकारी एवं 'स्वराज्य'

के संपादक होतीलाल, जिनको कि दस वर्ष की काले-पानी की सजा मिली थी, ने अंडमान में क्रांतिकारियों पर हुए अत्याचारों का कच्चा चिट्ठा लिखा था जिसके बंगला-समाचार में छपने पर विधान-सभा में काफी गर्म चर्चा हुई थी।

राजनीतिक कैदियों के अतिरिक्त जेल में बहुत से चोर, डाकू और कातिल भी रहा करते थे। ये लोग अधिकतर अनपढ़ थे। सावरकर रिक्त समय में इन सबको संगठित किया करते थे। उन्होंने वहां प्रौढ़-शिक्षा का कार्यक्रम भी आरंभ किया। वे उन्हें अक्षर-ज्ञान के साथ-साथ देशभक्ति की भावनाएं भरने वाली कहानियां भी सुनाया करते थे।

यद्यपि सावरकर अपने देश से 600 मील दूर काल कोठरी में बंद थे तथापि भारतीयों ने अपने इस वीर देशभक्त को एक दिन के लिए भी नहीं भुलाया था। उनके साहसिक कृत्यों की जनता में सर्वत्र प्रशंसा की जाती थी। समाचार-पत्रों एवं सार्वजनिक सभाओं में इनकी शीघ्र रिहाई के लिए अनवरत प्रयत्न किये जाते रहे। इनकी मुक्ति के लिए एक 'सावरकर सप्ताह' मनाया गया और लगभग सत्तर हजार हस्ताक्षरों से एक प्रार्थना-पत्र सरकार के पास भेजा गया। उस समय तक किसी नेता की रिहाई के लिए इतना बड़ा आंदोलन कभी भी नहीं हुआ था।

विवश होकर सरकार ने 21 जनवरी, 1921 को वीर सावरकर को काला-पानी से भारत के लिए रवाना कर दिया। भारत आने पर उन्हें महाराष्ट्र के रत्नगिरि नगर में नजरबंद कर दिया गया। उन पर राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने, वक्तव्य व भाषण देने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। सरदार भगतसिंह ने यहां ही उनसे भेंट की थी। उन्होंने 1857 के 'स्वातंत्र्य समर' ग्रंथ को पुनर्मुद्रित करवाने की उनसे अनुमति मांगी थी।

रत्नगिरि में उन्होंने हिन्दू-राष्ट्रीयता सम्बन्धी साहित्य-रचना का कार्य प्रारंभ किया। उन्होंने छोटे भाई श्री नारायण राव सावरकर को प्रेरणा देकर 'श्रद्धानंद' व 'हुतात्मा' नामक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित कराए। सावरकर जी ने स्वयं छद्म नामों से लेख व रचनाएं पत्रों में दीं। उनकी ओजस्वी रचनाओं से युवकों ने देशभक्ति की महान् प्रेरणा प्राप्त की। 'हिंदुत्व' 'हिंदू पद पादशाही' 'उःशाप' 'उत्तर-क्रिया' 'सन्यस्त-खड्ग' आदि प्रमुख ग्रंथ उन्होंने रत्नगिरि में ही लिखे।

अंडमान से स्वदेश आने के बाद अनेक प्रतिबंधों के होते हुए सावरकर जी अगस्त, 1924 में नासिक ले जाए गए। वहां डॉ० मुंजे व जगतगुरु शंकराचार्य, डॉ० कुर्तकोटि जैसे प्रख्यात नेताओं की उपस्थिति में एक विशाल सभा में उनका हार्दिक अभिनंदन किया गया। नासिक के प्रायः सभी हिंदू नेता व हजारों नागरिक कालेराम मंदिर में उनके स्वागत के लिए उपस्थित थे। उन्हें अभिनंदन पत्र भेंट करते हुए कहा गया था—"आपकी उत्कट देशभक्ति एवं देश के लिए

उठाये हुए आपके कठिन कष्टों के लिए महाराष्ट्रीय जनता के हृदय में आपके प्रति अत्यंत आदर है।"

सावरकर जी ने हिंदी भाषा के प्रचार व प्रसार के लिए रत्नगिरि में ही 'भाषा-शुद्धि' आंदोलन प्रारंभ किया। उन्होंने भाषा-शुद्धि नामक विस्तृत लेख में लिखा "अपनी हिंदी भाषा को विशुद्ध बनाने के लिए हमें सबसे पहले हिंदी भाषा में घुसाये गये अंग्रेजी व उर्दू के शब्दों को निकालकर बाहर करना चाहिये। संस्कृतनिष्ठ हिंदी ही हमारी विशुद्ध राष्ट्रीय भाषा है। हिंदी में अंग्रेजी व उर्दू शब्दों के मिश्रण से वह वर्णसंकरी भाषा बन गई है।" उन्होंने एक हिंदी शब्दकोष की भी रचना की। उन्होंने हिंदू युवकों को शस्त्र संचालन की शिक्षा भी दिलवाई। उन्हीं की प्रेरणा से ही मस्जिद के सम्मुख बाजा बजाने से रोकने वाले मुसलमानों से हिंदू युवकों ने डटकर मुकाबला किया। मुसलमानों ने जब गांधी जी से यह कहा कि यदि 'भाषा-शुद्धि' आंदोलन न बंद किया गया तो वे स्वाधीनता आंदोलन से हट जायेंगे। तब गांधी जी ने सावरकर जी को मुसलमानों की बात मानने की सलाह दी। उस समय सावरकर जी ने गांधी जी को उत्तर दिया—"मुसलमान तो स्वाधीनता आंदोलन से पहले ही दूर हैं। हम उन्हें प्रसन्न करने के लिए अपनी जाति का ह्रास कदापि स्वीकार नहीं कर सकते।"

16 वर्ष तक निरंतर नजरबंद रखने के बाद सन् 1937 में उन्हें पूर्णतया मुक्त कर दिया गया। रिहाई का समाचार बिजली की भांति सर्वत्र फैल गया। सहस्रों की संख्या में उन्हें बधाई के संदेश आने लगे। अब आप बम्बई में रहने लगे और हिंदू महासभा का कार्य करने लगे। सन् 1937 में अहमदाबाद में हुई बैठक में आप अध्यक्ष चुने गये। तब से वे लगातार छः बार अध्यक्ष चुने गये। उनके काल में 'हिंदू महासभा' एक महत्त्वपूर्ण अखिल भारतीय संस्था के रूप में अवतीर्ण हुई। आपने इस सभा को राजकीय कार्यों में भाग लेने को प्रवृत्त किया और देश के विभिन्न भागों का दौरा कर खूब प्रचार किया।

विभिन्न राजनीतिक दलों ने उन्हें अपने दल में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित किया। कांग्रेस के प्रमुख नेता पं० जवाहरलाल नेहरू ने भी एक विशेष वक्तव्य द्वारा सावरकर का अभिनंदन किया और उन्हें कांग्रेस में सम्मिलित होने पर ऊंचा पद देने का प्रलोभन भी दिया। उन्हीं दिनों नेताजी सुभाषचंद्र बोस कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये थे किंतु महात्मा गांधी के अनुरोध से उन्होंने त्यागपत्र दे दिया था। सावरकर की रिहाई का समाचार सुनते ही उन्होंने इस महान् देश-भक्त को संदेश भेजा कि वे कांग्रेस का नेतृत्व स्वीकार कर लें। सावरकर ने स्पष्ट शब्दों में मना कर दिया। उन्होंने कहा कि "मैं अहिंसा के सिद्धांतों में विश्वास नहीं करता। मैं सशस्त्र क्रांति के द्वारा ही स्वतंत्रता प्राप्त करने

समर्थक हूं। अत: मैं किसी ऐसे दल से संबंध नहीं रखना चाहता जो मेरे सिद्धांतों के विपरीत हो।"

सुभाष जी पर उनके विचारों का इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने प्रतिज्ञा की कि वे अब सशस्त्र क्रांति के द्वारा जनता में स्वाधीनता प्राप्त करने की भावना भरेंगे। 22 जून 1940 को सावरकर से उनकी ऐतिहासिक भेंट हुई। उनसे प्रेरणा पाकर वे विदेश चले गये और आजाद हिंद फौज का संगठन किया। सावरकर जी के सैनिकीकरण आंदोलन के कारण ही हिंद सेना को प्रशिक्षित सैनिकों की पूर्ति होती थी। स्वयं नेताजी ने अपने एक आकाशवाणी से दिए भाषण में उनके प्रति धन्यवाद और आभार प्रकट करते हुए इसे स्वीकार किया।

सावरकर जी ने सदैव पाकिस्तान योजना का विरोध किया। उन्होंने जनता को चेतावनी देते हुए कहा था—"पाकिस्तान मेरी लाश पर बनेगा" की घोषणा करने वाले नेता एक दिन मुसलमानों को प्रसन्न करने के लिए, पाकिस्तान की योजना को स्वीकार कर लेंगे। अत. हिंदुओं को इनके आश्वासनों में नहीं फंसना चाहिये। उनकी यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई। सन् 1944 में राजगोपालाचार्य ने गाधी जी को कुछ शर्तों के साथ भारत-विभाजन के समर्थन के लिए तैयार कर लिया। समस्त भारतवासी इस समाचार को सुनकर क्षुब्ध हो उठे। वीर सावरकर ने हिंदू महासभा के तत्त्वावधान में अनेक सभायें करके पाकिस्तान-योजना का विरोध किया। देश का दुर्भाग्य था कि हिंदू मतदाता कांग्रेस के झूठे आश्वासनों के भ्रम में फस गये। कांग्रेस चुनाव जीत गई। कांग्रेसी शासन ने मुस्लिम लीग के सम्मुख घुटने टेककर पाकिस्तान स्वीकार कर लिया। 15 अगस्त, 1947 को भारत का विभाजन होकर रहा। इस महान दुर्दैव घटना से यद्यपि सावरकर जी को गहरी ठेस लगी फिर भी वे इस बात से प्रसन्न थे कि किसी प्रकार भी भारत को चिरवांछित स्वतंत्रता का लाभ मिल गया।

स्वतंत्रता के बाद उनका दिल टूटकर रह गया। वह समय-समय पर भारत सरकार को चेतावनी देते रहे परंतु भारत सरकार ने उनकी बातों पर ध्यान नहीं दिया। सन् 1965 के भारत-पाकिस्तान संघर्ष के बाद उनका स्वास्थ्य दिन प्रति-दिन गिरता गया और ताशकंद समझौते से तो उन[illegible] को गहरा आघात लगा। आजन्म शौर्य और [illegible] से मृत्यु को [illegible] सावरकर ने अंत

ऐतिहासिक महत्त्व है। साथ ही राष्ट्र के मंत्रदृष्टा के रूप मे भी उनका महत्त्व उससे कम नही। 'हिंदू को राष्ट्र मानकर हिंदुत्व ही राष्ट्रीयता है' इस सिद्धांत को उन्होने प्रस्थापित किया। राष्ट्रवाद की नीव पर उन्होंने समाज-सुधार का अमूल्य कार्य किया। स्वतंत्र राष्ट्र के लिए भाषा के महत्त्व को समझकर सर्व-प्रथम सावरकर जी ने ही भाषा और लिपि शुद्धि के आंदोलन का श्रीगणेश किया। समय-समय पर राष्ट्र को भावी संकटों से आगाह करके उन्होंने पहले ही उन सकटों को टालने के लिए उपयोगी संदेश दिए।

देशभक्ति सावरकर जी के जीवन का स्थायी भाव था। उनका जीवन शौर्य, साहस, धैर्य और सहनशीलता का प्रतीक है। अपने महान ध्येय की सिद्धि के लिए मानव दुःख, कष्ट, यातनाओं, उपेक्षाओ और अपमान का हलाहल कहां तक पचा सकता है, इसका उदाहरण सावरकर जी का पवित्र जीवन है। उन्होने आजीवन कष्ट और यातनाएं झेलते हुए भी विशाल अमर साहित्य का सृजन किया। साहित्य के सभी क्षेत्रों मे उनकी प्रतिभा ने चमत्कार दिखाया। वे वक्ता भी बेजोड थे। अपार जनसमूह को अपने पीछे खीच लेने की अद्भुत शक्ति उनमे थी।

वस्तुतः स्वातंत्र्य वीर सावरकर भारत के जीवित हुतात्मा है जिन्होंने अपने कार्यों द्वारा भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के उस काल मे देश के युवकों को मातृ-भूमि की वेदी पर सब कुछ न्योछावर करने की प्रेरणा प्रदान की थी, जबकि इसकी देश के लिए अत्यधिक आवश्यकता थी। सशस्त्र क्रांति द्वारा अंग्रेजो की क्रूर सत्ता को सदा के लिए उखाड़ फेकने के दृढ संकल्प को लेकर वीर सावरकर ने अपने जीवन तक की परवाह नही की। इस प्रकार स्वराज्य और स्वधर्म इन दो मूल उद्देश्यों को लेकर इस महान वीर ने जीवन-भर संघर्ष किया। इस महान आत्मा के प्रति भारतीयों के मन मे अपार श्रद्धा है।

स्वामी श्रद्धानंद

साहस के अवतार, निर्भीक राजनीतिक नेता, देश-प्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता, कांग्रेस सेवक, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के संस्थापक, संयम के उपासक, स्वाभिमान की मूर्ति, स्वदेशाभिमान की प्रतिमा, राष्ट्रीयता की ज्योति, भारतीय संस्कृति के पुंज और भारत के अमर शहीद स्वामी श्रद्धानद का नाम भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के इतिहास में सदा अमर रहेगा। जब भारत में विदेशी शासन की जड़ें हिलने लगी थी, जब प्रथम स्वातंत्र्य-संग्राम के क्रांतिकारी सेनानी नर्मदा के तट पर तांत्याटोपे, स्वामी दयानद, नाना फड़नवीस आदि अंग्रेजों की गुलामी की जंजीरों में जकड़ी हुई भारतमाता के माथे पर स्वतंत्रता का ताज रखने की तैयारियां कर रहे थे, उसी पावन क्रांतिकारी वेला मे आपका जन्म हुआ था।

ऋषि दयानंद की क्रांतिकारी विचारधारा से प्रभावित होकर उन्होंने इस तथ्य को हृदयंगम कर लिया था कि अंग्रेजी शासन से भी अधिक खतरनाक यह

अंग्रेजियत है जो विदेशी भाषा, विदेशी आचार-विचार और विदेशी संस्कृति के माध्यम से इस देश की संतति को मानसिक दृष्टि से गुलाम बना रही है। मन गुलाम होने पर तन की गुलामी भी नही अखरती। देश मे केवल राजनैतिक पराधीनता को समाप्त करने का स्वप्न देखने वाले भी बहुधा मानसिक पराधीनता की उपेक्षा करते रहे। परंतु मानसिक पराधीनता से मुक्ति पाए बिना केवल राजनीतिक स्वाधीनता कारगर नही हो सकती। स्वामी श्रद्धानंद ने अपना समस्त जीवन इसी ध्येय की पूर्ति के लिए लगा दिया। उन्होंने जहां वैदिक-धर्म और वैदिक-संस्कृति की रक्षा के लिए कार्य किया, वहां मानसिक पराधीनता से मुक्ति के लिए उनके कार्यों का योगदान भी कम नही है। गुरुकुल कागड़ी की स्थापना इसका जीता-जागता प्रमाण है। साथ ही उन्होंने एक महान क्रांति का बीजवपन किया था। उन्होंने वर्तमान भारत को प्राचीनतम से जोड़कर भारतीय राष्ट्रीयता का सच्चा मार्ग दिखाया था। अपने साहसपूर्ण कार्यों, देशभक्तिपूर्ण विचारों एवं समाज-सुधारक कार्यों के कारण उनके व्यक्तित्व का प्रभाव उत्तर-भारत मे जादू की तरह फैल गया। वे शीघ्र ही राजनीतिक तथा सामाजिक आंदोलन की जीती-जागती प्रतिमा बन गये। वस्तुत: वीरता के साथ जब सात्विक विवेक का मिश्रण हो जाए तो लोकमानस पर उसका असाधारण प्रभाव पड़ता है। स्वामी दयानंद की ज्योति से स्वय ज्वाला बनकर प्रज्वलित होने वाले अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानद में इन दोनों का अद्भुत सम्मिश्रण हुआ था।

ऐसे महापुरुष का जन्म सन् 1856 ई० में पजाब के जिला जालंधर मे तलवन नामक ग्राम मे हुआ था। माता-पिता ने आपका नाम मुन्शीराम रखा और संन्यास न लेने तक आप इसी नाम से प्रसिद्ध रहे। मुन्शीराम अपने छ: भाई-बहनों मे सबसे छोटे थे और इसीलिए अपने माता-पिता के लाड़ले भी। उनके पिता श्री नानकचंद ने 1857 के विद्रोह के दिनो में अंग्रेजी सरकार की सेवा कर पुलिस विभाग मे उच्च-पद प्राप्त कर लिया था। भगवद्-भक्ति उस कुल की परंपरागत विभूति थी। वीरता, सज्जनता, उदारता, निर्भीकता, स्पष्टवादिता आदि सब गुण बालक मुन्शीराम को विरासत में प्राप्त हुए थे।

मुशीराम की बाल्यावस्था का अधिकांश भाग पिताजी की नौकरी के बराबर स्थानातरण के कारण खेल-कूद तथा स्वच्छंदता में ही व्यतीत हुआ। यह अवस्था लाड़-लड़वाने तथा आवारागर्दी में ही व्यतीत हुई। इस लाड़-प्यार का उनके जीवन पर पर्याप्त दुष्प्रभाव पड़ा। बचपन के समान यौवन भी रंगरेलिया मनाने मे ही व्यतीत हुआ। कुश्ती, गदका तथा लाठी चलाने का अभ्यास उन्होंने इसी अवस्था मे किया। बनारस एवं बरेली मे रहकर गुण्डों का-सा वेष धारण करना, हुक्केबाजी, शराब-भाग पीना, मांस-भक्षण, जुआ एवं शतरज खेलना तथा मुशायरे

और उपन्यास पढ़ने के व्यसन आपको लग गए थे। अपने आत्म-चरित्र में स्वामी जी ने अपने जीवन के प्रति तीव्र घृणा व्यक्त की है।

प्रतिभा-सम्पन्न एवं कुशाग्र-बुद्धि होने से बालक मुंशीराम सुना हुआ बहुत-सा कंठस्थ कर लिया करते थे। परंतु कुसंगति में पड़ने के कारण उसे अनेक बार परीक्षाओं में असफलता मिली। उनकी प्रारंभिक आयु असफलताओं की लम्बी कहानी है। 27 वर्ष की अवस्था तक उन्होंने केवल दशम श्रेणी और मुख्तारी की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। एफ० ए० की परीक्षा में कई बार असफल हुए परंतु धैर्य कभी नहीं त्यागा। आपने गृहस्थ होने के बाद एक लड़की के होने पर भी कानून की परीक्षा पास की थी।

बड़ी धूमधाम से विवाह होने पर भी मुंशीराम को तनिक भी संतोष नहीं हुआ। उसका हृदय और मस्तिष्क अंग्रेज़ी उपन्यासों के रंग में रंगा हुआ था। उपन्यासों की नायिकाओं के सर्वगुणों से सम्पन्न स्त्री के साथ आनंदमय भावी जीवन व्यतीत करने के स्वर्णमय विचार इन्द्रधनुष की भांति उसके नेत्रों के सामने देदीप्यमान हो रहे थे, पर विवाह के पश्चात् पता चला कि वह सब स्वप्नावस्था की सृष्टि थी। कारण यह था कि उनकी पत्नी शिवदेवी अभी बाल्यावस्था में ही थी और शिक्षा का तो उसमें सर्वथा अभाव ही था। परंतु उसने सहोदरा-बहन के प्रेम; आदर्श पत्नी की भक्ति, स्नेहमयी माता की ममता की पवित्र भावनाओं के प्रभाव से कल्पनालोक के वासी मुंशीराम को वास्तविकता का ज्ञान करवाया। ऐसी साध्वी स्त्री का चार सन्तानें छोड़कर 31 अगस्त 1891 को अचानक देहांत हो गया। इस आघात ने और विशेषतया पत्नी के अंतिम संदेश ने उनका जीवन ही बदल दिया। पत्नी का अंतिम संदेश यह था—

"बाबूजी ! अब मैं चली। मेरे अपराध क्षमा करना। आपको तो मुझसे अधिक रूपवती और बुद्धिमती सेविका मिल जायेगी, किंतु इन बच्चों को मत भूलना। मेरा अंतिम प्रणाम स्वीकार करें।" पति-अनुरक्ता पत्नी के इन अंतिम शब्दों ने मुंशीराम के हृदय में एक अद्भुत शक्ति का संचार कर दिया। अपने संबंधियों एवं मित्रों द्वारा लाख विवश करने पर भी पुनः विवाह नहीं किया और बच्चों के लिए माता का स्थान भी स्वयं पूरा करने का दृढ़-संकल्प किया।

बार-बार परीक्षा में असफल होते देखकर पिता ने पुत्र को ऊंची पढ़ाई के अयोग्य समझकर नायब तहसीलदार बनवा दिया। लेकिन स्पष्टवादी एवं स्वाभिमानी होने के कारण वह तीन मास से अधिक चाकरी नहीं निभा सके। उन्होंने विदेशी प्रभुओं की इच्छा पर न नाच सकने के कारण सरकारी पद को छोड़ दिया। तब पिता ने पुत्र के स्वभावानुसार स्वतंत्र आजीविका के लिए उसे वकालत पढ़ने का आदेश दिया। मुंशीराम जी ने वकालत पास करके इस व्यवसाय में असाधारण सफलता पाई।

जब स्वामी दयानंद बरेली पधारे तो उन्हें प्रभावशाली व्याख्यान सुनने का सुअवसर हाथ लगा। स्वामीजी का उन पर जादू-सा प्रभाव पड़ा और उनके जीवन मे आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ। अब तो ऋषि-दर्शन के लिए मुशीराम पागल हो गये। घोर नास्तिक और महापतित मुशीराम को महात्मा मुशीराम और स्वामी श्रद्धानद बनाने का श्रेय महर्षि दयानद सरस्वती को ही है। उनके दर्शनो और उपदेशों ने आपके जीवन में क्रांति मचा दी। वस्तुत: ऋषि दयानंद के विचारो एवं सिद्धांतो का जिन कतिपय लोगों ने सफल प्रचार किया तथा उन्हें अपने जीवन मे घटाकर दिखाया, उनमे से मुशीराम जी का स्थान प्रमुख है।

मुशीराम को वकालत की परीक्षा के लिए प्रायः लाहौर जाना पड़ता था। वहा उनका आर्यसमाज से संपर्क हुआ। आप आर्यसमाज बच्छोवाली, लाहौर के सन् 1888 मे सभासद् बन गये। समाज के अधिकारियों ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए समाज मे एक नवयुवक के प्रवेश की घोषणा की। नवयुवक ने अपने अंतरात्मा के सात्त्विक भावों को उडेलते हुए कहा—"हम सबके कर्त्तव्य और मतव्य एक होने चाहिये। जो वैदिक धर्म के एक-एक सिद्धांत के अनुकूल अपना जीवन नही ढाल लेगा, उसको उपदेशक बनने का साहस नही करना चाहिए। भाड़े के टट्टुओं से धर्म का प्रचार नही हो सकता। इस पवित्र कार्य के लिए स्वार्थ-त्यागी पुरुषो की आवश्यकता है।"

तब वहां के प्रधान लाला साईंदास ने अपने अन्य आर्यसमाजी मित्रों से कहा था—"आर्यसमाज मे यह नई स्पिरिट (स्फूर्ति) आई है। देखें, यह आर्यसमाज को तारती है या डुबो देती है।"

जालंधर के आर्य भाइयो को जब इनके आर्यसमाजी बनने का समाचार पहुचा तो उनमें नवजीवन का समावेश हो गया। सुप्रसिद्ध श्री देवराज जी ने मुशीराम जी को लिखा कि ये उनको जालंधर आर्यसमाज का प्रधान पद सौंपकर स्वय मंत्री हो गये हैं। नवीन उत्साह ने, प्रधान पद की इस जिम्मेदारी ने तथा प्रचार की धुन ने मुशीराम को दृढ़ आर्य बनाने मे लगा दिया। ऋषिकृत ग्रंथों का स्वाध्याय होने लगा तथा उसी के अनुसार आचरण का प्रयत्न भी। इस स्वाध्याय ने गर्हित संस्कारों की जड़ काटने मे तथा मास भक्षण जैसे दुर्व्यसन को समूल नष्ट करने मे अपूर्व सहायता की।

तब से लेकर मृत्युपर्यंत आपने आर्यसमाज का तन, मन एवं धन से प्रचार एव प्रसार किया। इसमे उन्हें पारिवारिक, सामाजिक एवं राजनीतिक संकटो का पग-पग पर सामना करना पड़ा। पारिवारिक संघर्ष मे सनातनी पिता और आर्य-समाजी पुत्र के विचारो एवं सिद्धांतों का संघर्ष सर्वोपरि है। परंतु दृढ़ पुत्र के सत्याचरण ने वृद्ध पिता पर भी प्रभाव डाला और उन्हें ही अपने विचारों में परि-वर्तन करना पड़ा। सामाजिक क्षेत्र मे अन्य धर्मावलम्बियों से शास्त्रार्थ तथा आर्य-

समाज के दो दलों में विरोधभाव को शांत करना सम्मिलित हैं। राजनीतिक संघर्ष में तत्कालीन शासकों द्वारा आर्यसमाज की गतिविधियों में विघ्न-बाधाए डालना आता है।

मुंशीराम जी को आर्यसमाज का अंधाधुंध प्रचार अभीष्ट नहीं था। वे आर्य-समाज के प्रचार के साथ-साथ लोगों के जीवन को भी उन्नत बनाने के दृढ़ अभिलाषी थे। आपने अपनी शक्ति, साधना तथा समय का सदुपयोग समाज के मंडनात्मक अथवा रचनात्मक कार्य के लिए ही किया था। आपने जालधर आर्य-समाज, पंजाब प्रतिनिधि सभा तथा सार्वदेशिक सभा के प्रधान पद का दायित्व कई वर्ष तक सम्भाले रखा। आपकी दृष्टि मे आर्यसमाज का राजनीति के साथ सम्बंध न पाकर उसे केवल मात्र धर्मोपदेशक संस्था मानना सबसे बड़ी दुर्बलता है।

वकालत के व्यवसाय की परवाह न करते हुए आप बड़े उत्साह के साथ आर्य-समाज का कार्य करने लगे। प्रभातफेरी निकालते, मुहल्लों मे रात्रि को 'सत्यार्थ प्रकाश' की कथा करते और रविवार को देहात-प्रचार के लिए जाते। जालंधर पौराणिको का गढ़ था। मुंशीराम ने शास्त्रार्थों द्वारा इस गढ़ की दीवारो को तोड दिया। रहतियों की शुद्धि का कार्य किया, जिसका सिखों और पौराणिकों ने विरोध किया। अपनी पुत्री का विवाह जात-पांत तोडकर किया। उन्हें जाति-बहिष्कृत किये जाने की धमकी दी गई पर वह अपने सिद्धांतों पर दृढ़ रहे। अंततः बिरादरी को पराजय माननी पड़ी। उन दिनों लड़कियों का पढ़ना अच्छा नहीं समझा जाता था। मुंशीराम जी ने इस दिशा में पहल की। उन्होंने कन्याओं की पाठशाला खोल दी, जो इस समय 'कन्या महाविद्यालय' के नाम से समस्त देश मे प्रसिद्ध है। यह उनका ही प्रभाव था कि उर्दू के गढ़ पंजाब में हिन्दी का प्रेम उमड पड़ा। हिन्दी के प्रति जो उत्कट प्रेम आज पजाब के हिन्दुओ मे जाग्रत हुआ दिखाई देता है, वह विशुद्ध राष्ट्रीय और सास्कृतिक आधार पर है। उसमे सांप्रदायिकता की छाया देखने वाले पंजाब के इतिहास से अपरिचित हैं। पंजाब मे पंजाबी और उर्दू को छोडकर हिन्दी के प्रति श्रद्धा जाग्रत करने का श्रेय स्वामी श्रद्धानंद को ही है।

प० गुरुदत्त की युवावस्था में मृत्यु और पं० लेखराम आर्यपथिक की हत्या के फलस्वरूप आर्यसमाज के आंदोलन मे शिथिलता आने का भय हो गया था पर आपने प्रतिनिधि सभा की बागडोर संभालकर प्रचार कार्य मे प्रबल उत्साह भर दिया।

मुंशीराम जी तप और त्याग की मूर्ति थे। वे सत्य के निर्भीक सेनानी थे। जिन आदर्शों की प्राप्ति को उन्होंने जीवन का लक्ष्य बनाया, उन्हे प्राप्त करने के लिए जीवन का सब कुछ लुटा दिया। उनके इस आर्यजीवन का जनता पर गहन

प्रभाव पडा। लोगों ने इनकी इस तन्मयता को देखकर स्वतः इन्हें 'महात्मा' की उपाधि से अलकृत कर दिया। तब से आप महात्मा मुशीराम के नाम से समस्त आर्यजगत् मे विख्यात हो गये।

महात्मा मुंशीराम की शक्ति अंग्रेजी शासन से भी अधिक शोषक, अंग्रेजियत को नष्ट करने मे लग गयी। इसलिए उनका कार्यक्षेत्र केवल राजनीतिक न होकर सामाजिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक हो गया। उनका विश्वास था कि विदेशियों के शासन-तंत्र से मुक्ति पाकर ही भारत का कल्याण नही होगा। विदेशी शासन से भी अधिक अहितकर विप है विदेशी भाषा, विदेशी संस्कृति और सामाजिक कुरीतियां। इनकी दासता से मुक्ति पाये बिना राजनीतिक स्वतंत्रता उद्देश्यहीन हो जाएगी। अतएव उन्होंने असीम तप और त्याग से अर्जित शक्ति का उपयोग भारत को विदेशी भाषा, विदेशी धर्म, विदेशी संस्कृति की दासता से मुक्त कर भारतीयता को गौरवान्वित और तेजस्वी बनाने में किया।

देश को अंग्रेजियत या किसी भी विदेशी दासता से मुक्त कराने का सबसे प्रभावशाली कार्य स्वामी जी ने गुरुकुल कांगडी की स्थापना से किया था। गुरुकुल की स्थापना मुशीराम के जीवन का बहुत पुराना स्वप्न था। उस स्वप्न को पूरा करने के लिए आपको ग्राम-ग्राम भ्रमण कर गले मे भिक्षा की झोली डालकर चालीस हजार रुपया एकत्रित करना पडा। उसके मुख्य आचार्य और मुख्याधिष्ठाता होकर उसको पालने-पोसने और आदर्श शिक्षालय बनाने का सब कार्य भी आपको ही करना पडा। अपनी फलती-फूलती वकालत को लात मारकर अपने स्वास्थ्य को मिट्टी में मिलाकर तथा अपनी सम्पत्ति भी गुरुकुल को प्रदान कर अपने को गुरुकुल के साथ इस प्रकार तन्मय कर दिया था कि आपके व्यक्तित्व और गुरुकुल के अस्तित्व को एक दूसरे से पृथक करने वाली किसी स्पष्ट रेखा का अंकित करना संभव नही था। वस्तुत. कांगडी का गुरुकुल आपके अदम्य साहस और असीम शक्ति का फलस्वरूप है। वह उनका हृदय की संतान होने से 'हृदयादाधि जायसे' उनका एकमात्र वशधर स्मारक है।

प्रारभ मे जब उन्होंने हरिद्वार में गंगा के दूसरे किनारे पर भयंकर और बीहड जगल मे गुरुकुल की नीव डाली तो अधिकांश व्यक्ति स्वामी जी के प्रयास की सफलता में सदेह कर रहे थे। कुछ तो कहते थे—भला कौन अपने बालकों को इन जंगलों मे लाकर साधु बनायेगा; रीछो, शेरों और हाथियों के उस वन मे कौन अपने बच्चों को पढ़ने के लिए भेजेगा ! परतु जब महात्मा मुंशीराम जी ने सर्वप्रथम अपने कलेजे के दो टुकड़े इंद्र और हरिश्चंद्र उस वन मे भेजे तो आर्यजगत् वाह-वाह कर उठा। तब गुरुकुल में शिक्षा पाने के लिए भारत ही नही, बाहर के देशो से भी ब्रह्मचारी आने लगे। आगे चलकर पं० इंद्रविद्या वाचस्पति दिल्ली के

सुप्रसिद्ध पत्रकार और राजनीतिक नेता बने। हरिश्चंद्र जी स्नातक बनने के कुछ दिन बाद विदेशों में स्वाधीनता की अलख जगाने चले गये।

स्वाधीन भारत में अभी तक भी अंग्रेजी वायुमंडल में पालित-पोषित लोग यह कहते मिलेंगे—जब तक विज्ञान और तकनीकी ग्रंथ हिंदी में न हों, तब तक कैसे हिंदी में उच्चशिक्षा दी जाय? जबकि महात्मा मुंशीराम स्वाधीनता से भी चालीस वर्ष पूर्व गुरुकुल कांगड़ी में हिंदी के माध्यम से विज्ञान जैसे गहन विषयों की शिक्षा दे रहे थे। ग्रंथ हिंदी में थे और अध्ययन कराने वाले भी हिंदी के थे।

जहां चाह होती है, वहीं राह निकलती है। एक दीर्घकाल तक अंग्रेज गुरुकुल कांगड़ी को भी राष्ट्रीय आंदोलन का अभिन्न अंग मानते रहे। इसमें संदेह भी नहीं कि गुरुकुल के स्नातकों में स्वाधीनता की अद्भुत तड़प थी। स्वामी श्रद्धानंद जैसा राष्ट्रीय नेता जिस गुरुकुल का संस्थापक हो और शिक्षा का माध्यम हिंदी हो, वहां राष्ट्रीयता नहीं पनपेगी तो कहां पनपेगी।

सरकार को संदेह था कि गुरुकुल में यत्नपूर्वक ऐसे राजनीतिक ब्रह्मचारियों की सेना तैयार की जा रही है जिसका लक्ष्य सरकार के अस्तित्व के लिए भयानक संकट उत्पन्न कर देना है। अतएव सरकार की वक्र-दृष्टि इस संस्था पर बनी रहती थी। सरकारी गुप्तचर इसकी रिपोर्ट भेजते रहते थे। एक गुप्तचर ने गुरुकुल के संबंध में अपनी डायरी में लिखा था—

"गुरुकुल की दीवारों में ऐसे चित्र लगे हुए हैं जिनमें अंग्रेजी राज्य से पूर्व के भारत की अवस्था और अंग्रेजों के कलकत्ता आने की अवस्था दिखाई गई है। लखनऊ के सन् 1857 के राजद्रोह के चित्र भी लगाये गये हैं। बिजनौर के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट मि० एफ० फोर्ड ने जान आक आर्क का वह बड़ा चित्र भी गुरुकुल में लगा देखा था जिसमें वे अंग्रेजों के विरुद्ध सेना का संचालन कर रहे हैं।"

इस प्रकार सरकारी लोगों को गुरुकुल की प्रत्येक दीवार के पीछे से राजद्रोह की गंध आती थी। बड़े-बड़े सरकारी अफसर लुक-छिपकर गुरुकुल का भेद लेने की बराबर चेष्टा करते थे।

"क्या हवा का रुख यह नहीं बतला रहा कि वास्तव में भारतवर्ष का वर्तमान इतिहास बनाने वाला आर्यसमाज ही है; फिर यदि गवर्नमेंट के कर्मचारी व्याकुल होकर आर्यसमाज पर झूठे दोषारोपण करें तो आश्चर्य क्या है?" ये शब्द हैं जो महात्मा मुंशीराम जी ने आर्यसमाज पर सरकारी कोप के कारणों की मीमांसा करते हुए लिखे थे। वस्तुतः आर्यसमाज एक उठती हुई संगठित शक्ति था, जिससे सरकार का भयभीत होना स्वाभाविक था।

परंतु गुरुकुल में कुछ ऐसी विशेषताएं थीं कि वह न केवल आर्यसमाजियों के

लिए अपितु सनातनी, ईसाई, मुसलमान और यूरोपियन सबके लिए आकर्षण का केंद्र बन गया। डॉ० असारी और बैरिस्टर आसफ अली जैसे निष्पक्ष मुसलमान, पादरी मि० मिलवर्न, दीनबंधु एण्ड्रयूज और टैम्जे मैक्डॉनल्ड जैसे वहां पधारे और उसकी भूरी-भूरी प्रशंसा की। महात्मा मुंशीराम से मिलने देश के प्रमुख राष्ट्रीय नेता भी गुरुकुल आते रहते थे। दक्षिण अफ्रीका से लौटने के बाद जब मोहनदास करमचंद गांधी प्रथम बार गुरुकुल कांगड़ी के उत्सव में पधारे, तब महात्मा मुंशीराम ने ही उन्हें 'महात्मा' की उपाधि प्रदान की। तब से ही गांधीजी महात्मा कहलाने लगे। महात्मा गांधी ने गुरुकुल के संबंध में यह सम्मति दी थी—"आर्यसमाज के कार्य का सर्वोत्तम परिणाम गुरुकुल की स्थापना है। यह सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय संस्था है, जिसका शासन और प्रबंध सब स्वायत्त है।"

अंग्रेज सरकार ने कई बार प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से गुरुकुल को सहायता देने का प्रस्ताव किया। परंतु देशभक्त और महर्षि के सजग अनुयायी मुंशीराम सदा इस प्रस्ताव को ठुकराते रहे। वह भली भांति जानते थे कि विदेशी सरकार से प्राप्त सहायता गुरुकुल की स्वतंत्र और स्वच्छंद आत्मा के लिए घातक होगी।

सन् 1902 से 1917 तक पंद्रह वर्ष स्वामी श्रद्धानंद जी ने महात्मा मुंशीराम के नाम से गुरुकुल कांगड़ी के यज्ञ मे अपने जीवन की आहुति दे दी। श्री सत्यकाम विद्यालंकार के शब्दों में—"गुरुकुल कांगड़ी ही उनका मंदिर था और जीवन का एकमात्र श्रद्धा केंद्र था। आपके ही प्रचंड साहस और महर्षि दयानंद के आदर्शों को मूर्त रूप देने के अटल निश्चय के कारण गुरुकुल कांगडी ने न केवल भारत मे एकमात्र राष्ट्रीय सस्था होने का गौरव प्राप्त किया, बल्कि विदेशों के शिक्षाशास्त्रियों के हृदय मे भी गुरुकुल के प्रति अद्वितीय प्रतिष्ठा का भाव जागृत कर दिया।"

इस प्रकार महात्मा मुंशीराम ने हृदय की संपूर्ण ममता के साथ गुरुकुल को पालित-पोषित किया। 12 अप्रैल सन् 1917 को कनखल की मायापुर वाटिका मे आपने संन्यास आश्रम मे प्रवेश किया। उपस्थित नर-नारियो के सम्मुख उन्होने अविचल भाव से खड़े होकर घोषित किया—

"मैं सदा सब निश्चय परमात्मा की प्रेरणा से श्रद्धापूर्वक ही करता रहा हूं। सन्यास भी श्रद्धाभावना से प्रेरित होकर ही लिया है। अतः मैं आज से अपने नये नाम 'श्रद्धानंद' को धारण कर रहा हूं। आप सब प्रभु से प्रार्थना करें कि—सर्वसमर्थ प्रभु, मुझे अपने नये व्रत को पूर्णता से निभाने की शक्ति दें।"

इस भांति आर्य जनता के महात्मा मुंशीराम, सन्यासाश्रम मे प्रवेश करने के

पश्चात् स्वामी श्रद्धानंद बनकर मनुष्य मात्र के हो गये। सब बंधनों एवं एषणाओं से मुक्त होकर आपने लोकोपकार में अपना जीवन अर्पित कर दिया। आपने इस काल मे धर्म-यात्राएं कर अस्पृश्यता-निवारण और दलितोद्धार का कार्य बड़े जोरों से किया। आर्यसमाज में परस्पर द्वेष को मिटाने तथा साम्प्रदायिकता की भावना को दूर करने का आपने भरसक प्रयत्न किया।

मुंशीराम जी को स्वामी श्रद्धानंद होने के बाद महात्मा गांधी 'सत्याग्रही' बनाकर राजनीतिक क्षेत्र मे ले आते हैं। जब रौलेट एक्ट के विरुद्ध गांधी जी के सत्याग्रह को सुना तो स्वामी जी ने सत्याग्रह की प्रतिज्ञा पर हस्ताक्षर किये और महात्मा गांधीजी को तार दिया — "अभी-अभी सत्याग्रह की प्रतिज्ञा पर हस्ताक्षर किये हैं। इस धर्म-युद्ध में सम्मिलित होने में मैं बहुत प्रसन्न हूं।"

दिल्ली में रौलेट एक्ट का जो विरोध हुआ उसकी रीढ आप ही थे। हकीम अजमल खां, डाक्टर अंसारी और दिल्ली के दूसरे इसी तरह के राष्ट्रीय नेता स्वामी श्रद्धानंद के नेतृत्व मे दिल्ली में कंधे से कंधा लगाकर स्वतंत्रता का आदोलन चला रहे थे। तीस मार्च का वह दिन जब दिल्ली मे चांदनी चौक के घंटाघर पर स्वामी जी आजादी के दीवानो का एक विशाल जुलूस लेकर जा रहे थे सदा स्मरणीय रहेगा। उसमे हिंदू-मुसलमान सभी सम्मिलित थे। लाल किले की ओर अंग्रेजों की सैनिक टुकड़ी रास्ता रोके खड़ी थी और फतेहपुरी की ओर से समुद्र की तरह ठाठे मारता हुआ यह जलूस आगे बढ़ रहा था। घंटाघर पर सैनिको ने जलूस को रोकने के लिए इधर अपनी संगीनें संभाल ली, उधर स्वामी जी ने अपनी छाती तान ली। आपने राष्ट्रीय आंदोलन के नेता के रूप में गोरखों की संगीनों का सामना किया। आपने उन्हे ललकार कर कहा—"लो मेरी छाती खुली है, हिम्मत है तो चला लो गोलियां"—स्वामी जी की इस निर्भीकता पर सेना के जवान हक्के-बक्के रह गये, 'अब करें तो क्या करें' जुलूस के लोग भी स्वामी जी के इस दृढ निश्चय पर आज कुछ कर गुजरने को कृत-संकल्प थे। उनका कहना था — स्वामी जी को गोली मारना बहुत दूर की बात है, किसी ने हाथ भी लगा दिया तो आज यहां लाशें बिछ जायेंगी। अब तो उस दृश्य की कल्पना करना भी कठिन है। अंततः अंग्रेज अधिकारी को सद्बुद्धि आ गयी और सिपाहियों को अपनी बंदूकें नीची करनी पड़ी।

सत्याग्रह की व्याख्या करते हुए महात्मा श्रद्धानंद ने बतलाया कि यह आंदोलन राजनीतिक रूप का नही, अपितु धार्मिक रूप का । सत्याग्रह सबधी व्याख्यान दिल्ली मे ही नही, बंबई, सूरत और ने । इन्ही मे से एक व्याख्यान की चर्चा से भी निम्नलिखित शब्दो मे की थी

"आंदोलन तेजी पर है।

रख लिया है, गांधी के इस आंदोलन मे एक हो गया है। यह बहुत पुराना धार्मिक नेता है, तथा समाज-सुधार के नाते भी उसने बहुत नाम पैदा किया है। अब मालूम होता है कि राजनीतिक आंदोलन के नाते भी यह नाम पैदा करना चाहता है। कष्ट सहन करने का जब समय आएगा, तब मालूम होगा कि उसमें सहनशक्ति कितनी है। उसका बडा पुत्र 'ब्यूनो एरिया' में कभी सुप्रसिद्ध मेहमान था। उसका छोटा लड़का देहली में सरकार विरोधी देशी भाषा का गरम दैनिक पत्र निकाल रहा है, देखें क्या होता है ?"

वर्षों तक स्वामी श्रद्धानद दिल्ली के बेताज बादशाह माने जाते थे। उनके संकेत दिल्ली वालों के लिए आदेश का कार्य करते थे। दिल्ली मे चार अप्रैल सन् 1919 का वह दिन भी ऐतिहासिक दिन ही था, जब दिल्ली की जामा मस्जिद के तख्त पर खडे होकर स्वामी जी ने भाषण दिया। 'त्व हि ना पिता वसो त्वं माता शतक्रतो' यह वेद-मंत्र पढकर जब स्वामी जी ने अपनी सिंह-गर्जना की, तो घंटो तक टकटकी लगाये लोग स्वामी जी का भाषण सुनते रहे। स्वामी जी प्रथम गैर-मुस्लिम थे, जिन्हे मुसलमानों ने यह आदर दिया।

अमृतसर कांग्रेस अधिवेशन के स्वागत समिति के अध्यक्ष पद का जिस प्रकार आपने सफलतापूर्वक निर्वाह किया, उससे स्पष्ट हो गया था कि राजनीति के क्षेत्र में भी आप क्या कुछ कर सकते थे। कांग्रेस अधिवेशन से पूर्व अमृतसर के जलियांवाला बाग मे वह ऐतिहासिक नरमेध हो चुका था, जिसकी याद आज भी रोंगटे खडे कर देती है। लोग इतने भयभीत थे कि कोई साहस करके तैयारियों में लगने को उद्यत नही हो रहा था। उस समय वहा कोई कांग्रेस अधिवेशन की कल्पना भी नही कर सकता था। आखिर सबने एक स्वर से यह तय किया कि स्वामी श्रद्धानंद यदि इस अधिवेशन की बागडोर अपने हाथ मे ले लें तब ही बात बन सकती है। नेताओं की प्रार्थना से आप स्वागताध्यक्ष बने। सर्वत्र निराशा और आतंक के वातावरण में भी अमृतसर मे सूरत के इतिहास की पुनरावृत्ति न होने देने मे स्वामी जी का बहुत अधिक हाथ था। आपने अध्यक्षीय भाषण मे कहा—"यदि जाति को स्वतंत्र देखना चाहते हो तो स्वयं सदाचार की मूर्ति बनो।" उन्होंने सबको विदेशी खानपान, वेशभूषा व भोग-जीवन को तिलांजलि देने का संदेश दिया। उनके इस भाषण से पहली बार कांग्रेस के मच पर हिंदी सुनने को मिली थी। तब वहां बैठे किसी नेता ने कहा था—"आज लगता है हम भारतीय कांग्रेस के अधिवेशन में बैठे हैं।"

एक ऐसा भी समय रहा जब लाला लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानंद, भाई परमानंद आदि आर्यसमाज के नेता राष्ट्रीय आंदोलन के मंच पर भी वैसे ही सक्रिय थे, जैसे आर्यसमाज में। उन दिनों स्वातंत्र्य-संघर्ष में आर्यसमाज का संगठन द्वितीय रक्षा पंक्ति का कार्य कर रहा था। समाज-सुधार के साथ-साथ राज-

नीतिक चेतना जगाने मे आर्यसमाज के इन नेताओं का योगदान सरलता से नही भुलाया जा सकेगा। हिंदी, हरिजन समस्या का समाधान और खादी तीनों के लिए आर्यसमाज अर्पित-सा हो गया था।

परंतु दलितोद्धार और असहयोग-आंदोलन पर कांग्रेस से मतभेद होने के कारण आपने उससे त्यागपत्र दे दिया। आपकी राजनीति पर धर्म का आवरण चढा हुआ था, जिससे कांग्रेस की शुष्क राजनीति पर विश्वास रखने वाले नेताओं के साथ आपका घनिष्ठ संबंध-निर्वाह होना कठिन था। परंतु आपने राजनीतिक क्षेत्र में हिंदू धर्म की चेतना को पुनर्जीवित कर तथा स्वातंत्र्य-संग्राम मे निर्भीक योद्धा की भूमिका निभाकर देश को जो प्रेरणा दी, वह भारत के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगी।

समाज-सुधार आदोलन को भी इस निर्भीक संन्यासी ने नयी दिशा दी। हरिजन समस्या के समाधान में तो कई स्थानो पर संघर्ष का भी सामना करना पड़ा। गुरुकुल कांगड़ी में छात्रावासों और भोजनालयों मे बिना किसी भेदभाव के हर जाति के विद्यार्थी रहते और खाते-पीते थे। स्वामी जी का कहना था—मनो से छुआछूत की भावना मिटाने मे आवासीय शिक्षण-संस्थाओ का अच्छा योगदान रह सकता है। चौबीसों घटे एक साथ मिलकर जब वह रहेंगे, खेलेंगे-कूदेंगे और पढ़ें-लिखेंगे तो कहां तक छूत-अछूत की दीवार खड़ी रह जायेगी। आवासीय पद्धति पर आश्रित ऐसे गुरुकुल उन्होंने हरियाणा में इन्द्रप्रस्थ और कुरुक्षेत्र, गुजरात में सोनगढ़ और सूपा में भी खोले।

हिंदू-समाज मे अछूत जातियों को पृथक करके उसको दो भागों मे विभाजित कर देने की सरकार की जिस गूढ चाल को महात्मा गांधी जी सन् 1931 में द्वितीय गोल मेज सभा में भांप पाये थे, स्वामी जी ने अमृतसर कांग्रेस के स्वागताध्यक्षीय भाषण में ही उसकी ओर संकेत कर दिया था। सरकार की ऐसी नीतियों को निरर्थक बनाने के लिए ही दिल्ली मे आपने दलितोद्धार-सभा की स्थापना की थी। शुद्धि के संबंध में आपकी वृत्ति कुछ उग्र थी, इसलिए कांग्रेस, साधु-महामंडल तथा हिंदू-महासभा से निराश होकर स्वतंत्र रूप में आपको कार्य करना पड़ा। 'मलकानो की शुद्धि' आपका एक देशव्यापी प्रभाव डालने वाला कार्य था। स्वामी जी के प्रयत्नो से सर्वत्र शुद्धि सभाओ का जाल बिछ गया और दिल्ली में अखिल भारतीय हिंदू-शुद्धि सभा की स्थापना होकर 'शुद्धि-समाचार' मासिक पत्र भी निकलने लगा।

शुद्धि आंदोलन के प्रचार के कारण धर्मान्ध मुसलमानो की आंखो में स्वामी श्रद्धानंद कांटे की तरह खटकने लगे। धमकियो के पत्र प्रतिदिन प्राप्त होते थे, परंतु स्वामी जी ने न तो पुलिस और न ही अपने सेवको को रक्षा के लिए रहने दिया। अतत: 23 दिसम्बर, सन् 1926 को एक उकसाये हुए मतांध मुसलमान

अब्दुल रशीद ने दर्शन करने के बहाने रुग्ण-शैय्या पर लेटे स्वामी जी के पास जाकर पिस्तौल की तीन गोलियां चला दी, जिससे वे वीरगति को प्राप्त हुए।

दिल्ली में जब स्वामी जी का बलिदान हुआ, तब गोहाटी में उसी समय अखिल भारतीय कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन चल रहा था। स्वामी श्रद्धानंद की मृत्यु का समाचार सुनते ही अधिवेशन स्थगित कर दिया गया। शोक प्रस्ताव पर बोलते हुए अपने भाषण में गांधी जी ने कहा था—"काश ! यह शानदार मौत मुझे भी मिली होती।" वह बेचारा अब्दुल रशीद, जिसको इस संसार से मिटाने आया था, वह सदा के लिए अमर बन गया। डॉ० हरिशंकर शर्मा के शब्दों में—

"त्याग-तपस्या मूर्तिधन्य, श्री श्रद्धानंद महान् हुए,
धर्म-धीरता ध्रुवता की वर-वेदी पर बलिदान हुए।
उनका विमल विवेक विश्व में भव्य भाव भर जायेगा,
पावन पुण्य चरित्र जगत् में जीवन-ज्योति जगायेगा।
आज अमर जिसकी सुकीर्ति है, भला कहीं वह मरता है,
उसका तो आदर्श चरित कल्याण त्राण नित करता है।"

महात्मा गांधी जी की उनके प्रति यह श्रद्धांजलि भी महत्त्वपूर्ण है—"वे वीरों की भांति जिए और वीरों की तरह मरे।"

कवींद्र रवींद्रनाथ ने अपनी श्रद्धांजलि इस प्रकार प्रकट की थी—"सत्य के प्रति निष्ठा रखने का आदर्श स्वामी श्रद्धानंद इस दुर्बल देश को दे गये हैं। अपनी साधना का परिचायक (संन्यास आश्रम का द्योतक) जो नाम उन्होंने ग्रहण किया था वही नाम (श्रद्धानंद) उनके जीवन में सार्थक हो गया। सत्य में उनकी असीम श्रद्धा थी। इस श्रद्धा में सृष्टि-शक्ति है। उस शक्ति द्वारा अपनी साधना को उन्होंने मूर्त रूप दिया और उसे सजीव किया है। इसलिए उनकी मृत्यु ने आलोक के समान प्रज्वलित होकर उनकी श्रद्धामयी, भयहीन, कीर्तिमयी अमृत छवि को उज्ज्वल करके प्रकाशित किया।"

शेरे पंजाब लाला लाजपतराय ने इस अवसर पर कहा—"स्वामी जी की हड्डियों से यमुना के तट पर एक विशाल वृक्ष उत्पन्न होगा जिसकी जड़ें पाताल में पहुंचेगी। शहीदों के खून से नये शहीद पैदा होते हैं।"

आपने साहित्य द्वारा आंदोलन करने में भी कोई कसर न रखी थी। प्रत्येक समस्या पर आप अपने ही दृष्टिकोण से विचार करते थे, इसलिए आपके लेखों में ऐसी मौलिकता रहती थी, जो पाठकों के हृदय की गहनता में सीधा पहुंचकर वहां अपना घर बना लेती थी। यद्यपि 'अर्जुन' और 'तेज' में भी स्वामी जी समय-समय पर लेख लिखते रहते थे तथापि उनके सार्वजनिक जीवन का पहला

विश्वासपात्र साथी 'सद्धर्म-प्रचारक' पत्र था। उनको आर्यसमाज का अप्रतिद्वंद्वी नेता बनाने मे इस पत्र का महत्त्वपूर्ण भाग था। उनके द्वारा होने वाली आर्य-समाज की सेवा का वह प्रधान साधन रहा था। इन स्वतंत्र लेखों के अतिरिक्त आपने 'आर्य पथिक लेखराम की जीवनी', 'ऋषि दयानंद का पत्र-व्यवहार,' 'आदिम सत्यार्थ-प्रकाश' आदि बहुत से ग्रंथ और ट्रैक्ट भी प्रकाशित किये थे।

उर्दू का ओजस्वी लेखक होते हुए भी आपके हृदय में हिंदी-प्रेम अद्वितीय रूप में विद्यमान था। महात्मा गांधी के पत्र का उत्तर देते हुए आपने यह भी लिखा था कि—"जो व्यक्ति हिंदी को देश की भाषा बनाना चाहता है, उसको कोई अधिकार नही कि वह दूसरी भाषा में पत्र-व्यवहार करे।" इसी से महात्मा गांधी जी आपको हिंदी मे पत्र लिखने लग गये थे।

पंजाब में आर्यसमाज द्वारा हिंदी का प्रारंभिक दिनों में जो प्रचार हुआ था, उसका सब श्रेय आपको ही है। 'सद्धर्म-प्रचारक' को सहसा उर्दू से हिंदी मे परिवर्तित करना और गुरुकुल में प्रारंभ से अंत तक सब शिक्षा का माध्यम हिंदी ही रखना, *हिंदी की सेवा मे किये गये आपके इन महत्त्वपूर्ण कार्यों* से प्रभावित होकर ही आपको भागलपुर में हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का सभापति बनाया गया था।

इस प्रकार एक नेता, महात्मा तथा संन्यासी मे जो सद्गुण होने चाहिए प्रायः वे सब आपमे विद्यमान थे। अपनी पक्षपातरहित तथा तटस्थ नीति के कारण ही उन्हें मुसलमानों की जामा मस्जिद की वेदी तथा कांग्रेस के मंच से समान रूप से भाषण देने का अवसर मिला था। दृढ़-सिद्धांतवादी होना आपके व्यक्तित्व की विशेषता थी। धर्म के सिद्धातों मे आप समझौते के सर्वथा विरोधी थे। उन्होंने लोगों की वाह-वाही पर अपने सिद्धांतों का बलिदान कभी नही किया। वे एक सुधारक थे, कर्मवीर थे। उनमे निर्भीकता की आश्चर्यजनक मात्रा थी। उन्होंने जीवन-पर्यंत देश, धर्म और जाति के लिए सर्वस्व बलिदान किया और अंतिम क्षणों मे अपना भौतिक शरीर भी राष्ट्र को अर्पण कर दिया। वस्तुतः वे उन महापुरुषों में से थे जो जाति अथवा देश का नेतृत्व कर उसको घोर निराशा, गहन अंधकार और भयानक संकट से बचाकर सदा प्रकाश का मार्ग दिखाने के लिए उत्पन्न होते है। वे वास्तविक अर्थों के प्रेरणा के स्रोत थे।

लाला लाजपतराय

किसी राष्ट्र की सम्पत्ति उसकी धनराशि नहीं होती, बल्कि उस देश के निवासी युवकों का स्वस्थ शरीर, उनकी सशक्त रक्त-धमनियां, उनका विशाल हृदय और सच्चरित्र ही उस देश की वास्तविक संपत्ति है।

—महात्मा प्रेमभिक्षु

स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर बलिदान देने वाले, देशभक्त, पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय का नाम वर्तमान भारत के निर्माताओं में बहुत ऊंचा है। वे जितने बड़े कांग्रेस-भक्त थे, उतने ही परोपकारी और समाज-सुधारक भी थे। राजनैतिक क्षेत्र में उनकी अनवरत रुचि और समाज-सेवा ने पंजाब में ही नहीं, समस्त देश में उनका सबसे ऊंचा स्थान बना दिया था। भारत के राष्ट्रीय संग्राम में आपकी सेवाओं का इतिहास स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। जीवनभर वीरतापूर्वक निर्भयता से लड़ने के कारण ही आपको देश ने 'पंजाब का शेर' कहा था। आपने

देश को यह पाठ सिखाया था कि स्वतंत्रता मांगने से नहीं, लड़ने से, बलिदान से, खून देने से मिलेगी।

राष्ट्र के नव-जागरण का संभवतः ही कोई ऐसा क्षेत्र था जिसमें आपने सक्रिय भाग न लिया हो। धार्मिक नव-जागरण का क्षेत्र हो या सामाजिक सुधार और पुनरुत्थान का क्षेत्र, शिक्षा का क्षेत्र हो या देश-भक्ति और राष्ट्रीयता का, लाला लाजपतराय किसी मे भी किसी से कम नही रहे। वे राष्ट्र, समाज व जाति की चेतना के साथ एकाकार हो गये थे।

ऐसे महान पुरुष लाला लाजपतराय का जन्म 28 जनवरी, सन् 1865 ई० को पंजाब के जिला फ़िरोजपुर के एक छोटे से गांव ढोडीग्राम में हुआ था। यह उनका ननिहाल था। वैसे वह जिला लुधियाना के जगरांव नामक एक कस्बे के निवासी थे। उनके पिता श्री राधाकृष्ण एक स्कूल में अध्यापक थे। लक्ष्मी की कृपा से वंचित होने के बावजूद उन पर सरस्वती की अपार कृपा थी। वे अरबी, फारसी और उर्दू के विद्वान् थे। वे देश के सार्वजनिक आंदोलन से सदैव प्रेम रखते थे। आप पर पहले इस्लाम धर्म का प्रभाव था, परंतु स्वामी दयानंद के सदुपदेश से आप आर्यसमाजी बन गये। आपकी माता गुलाबदेवी अनपढ़ अवश्य थी, परंतु वह अत्यंत धर्मात्मा, उदार और सरल स्वभाव की थी। उनमे आदर्श महिला के सभी गुण थे। वह आर्यसमाजी थी।

बालक लाजपतराय के व्यक्तित्व पर अपने माता-पिता का गहन प्रभाव पड़ा था। उन्होंने स्वयं लिखा है—

"दान, आतिथ्य, उदारता के गुण मुझमें माता से आए। मेरे व्यक्तिगत चरित्र का निर्माण बहुत कुछ मेरी माता ने किया।"

"अपने व्यक्तित्व के लिए मैं पिता का कम आभारी नही। आपने मेरे धार्मिक विचारो को बनाया, मुझमें विद्या का व्यसन पैदा किया और मुझे देश-भक्ति के पाठ पढ़ाए। जो बीज अंत में फल लाए, वे उन्ही के बोए हुए थे।"

लाजपतराय की प्रारंभिक शिक्षा पिता की देखरेख मे हुई। बचपन से ही लाजपतराय की स्मरणशक्ति और बुद्धि अत्यत कुशाग्र थी। स्कूल भर मे वह सबसे छोटी आयु के थे और कक्षा मे सर्वप्रथम रहते थे। 13 वर्ष की आयु मे आपने मिडिल पास कर लिया। आपकी योग्यता के कारण आपको छात्रवृत्ति मिलने लगी। यद्यपि लालाजी के पिता ऋषि दयानद के सच्चे अनुयायी थे तथा आर्यसमाज के सिद्धांतो के अनुसार बाल-विवाह के विरुद्ध थे। परंतु इच्छा न होते हुए भी विवश होकर दबाव में उन्होंने 13 वर्ष की अल्पायु मे बालक लाजपतराय का विवाह कर डाला।

सन् 1880 में मैट्रिक पास करने के बाद लालाजी कालेज की पढ़ाई के लिए

लाहौर आये। वहां आपने इंटरमीजिएट और कानून की पढ़ाई एक साथ की। सन् 1885 मे आपने वकालत की अंतिम परीक्षा पास कर ली।

विद्यार्थी-जीवन मे ही लाजपतराय पर आर्यसमाज के संस्कार पड चुके थे। पिताजी के सार्वजनिक आंदोलन से संबंधित होने के कारण वह विद्यार्थी-जीवन से ही देश की सार्वजनिक प्रगति का अध्ययन करने लगे थे। मुशी राधाकृष्ण जी स्वयं काग्रेस के अनुयायी थे। उन दिनों विशेष देशभक्तों में सर सैयद अहमद खा का नाम था। राधाकृष्ण भी उनके भक्त थे लेकिन जब सर सैयद के विचारों ने पलटा खाया और वे साम्प्रदायिकता के संकुचित क्षेत्र मे फसकर कांग्रेस पर आक्षेप करने लगे तो राधाकृष्ण ने उनके नाम 'कोहनूर पत्र' मे एक बड़ा ही तर्कपूर्ण खुला पत्र प्रकाशित कराया। उसमें उनकी काग्रेस-विरोधी कार्रवाइयो तथा राजनीतिक क्षेत्र में गिरगिट की तरह उनके आकस्मिक रूप परिवर्तन की कड़ी आलोचना की थी। पिता के इन समस्त गुणों का प्रभाव उनके सुपुत्र पर पड़ा। वे विद्यार्थी-जीवन में ही इन सब कार्यों में रुचि लेने लगे। आर्यसमाज के प्रति उनके हृदय में अपार श्रद्धा उत्पन्न हो गई। वे विद्याध्ययन करते समय ही समाज-सेवा में लग गये। पिता राधाकृष्ण के शब्दों मे—

"यद्यपि यह उस समय वकालत पढता था लेकिन ज्यादातर समय हिंदी-उर्दू के झगड़े और आर्यसमाज के प्रचार मे खोकर लैक्चरबाजी करता फिरता था।"

18 वर्ष की अवस्था मे ही लालाजी ने लुधियाना, अम्बाला और दिल्ली मे आर्यसमाज विषयक कई प्रभावशाली व्याख्यान दे डाले थे।

वकील बन जाने के बाद कुछ दिनो तक आपने हिसार के जिला न्यायालय मे वकालत की। अल्प समय में ही आप प्रसिद्ध वकील हो गये। उन्होने धन और नाम खूब कमाया। म्युनिसिपल कमेटी के अवैतनिक मत्री के रूप मे सर्वप्रथम आपने सार्वजनिक क्षेत्र मे पदार्पण किया। वकालत के साथ-साथ वे अपना अधिक समय आर्यसमाज के कार्य मे व्यतीत करते थे। यही से उनकी दिन प्रतिदिन प्रवृत्ति सार्वजनिक कार्यों की ओर अग्रसर होती गई। उन्होंने राजनीति, शिक्षा, धर्म, दीन-दुःखियों की सेवा आदि विभिन्न प्रकार के सार्वजनिक कार्यों मे योग देना आरंभ किया। उन्होंने तन, मन और धन इन कार्यो के लिए अर्पित कर दिया। वे आर्यसमाज के उद्देश्यो के प्रचार व प्रसार मे खूब रुचि लेने लगे। उनको धार्मिक कृत्यों और अनुष्ठानो मे प्रचलित प्राचीन विचारधारा के स्थान पर आर्य-समाज की नवीन स्वस्थ, वैज्ञानिक और प्रगतिशील विचारधारा अधिक पसंद आयी। आप सदैव आर्यसमाज को अपनी माता और ऋषि दयानद को अपना गुरु कहा करते थे।

आर्यसमाज का प्रभाव उनके दिल और दिमाग पर गहन पडा। उनका मन अनाथो की ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ। आर्यसमाजियों में वे प्रथम

भारतीय थे जिन्होंने ईसाइयों के ढंग पर संगठित रूप से अनाथों के लिए अनाथालयों की स्थापना की। हिसार में उन्होंने अनाथो के लिए एक उद्योगशाला भी स्थापित की थी। जब हिसार का यह 20-22 वर्षीय युवक बंबई में प्रथम कांग्रेस अधिवेशन में शामिल होने पहुंचा, तो पं० मदनमोहन मालवीय जैसे नेताओं ने उसका स्वागत किया।

उन्होंने नियमानुसार जब छोटी अदालत मे ट्रेनिंग समाप्त कर ली तो वह सार्वजनिक और अदालती कार्य के लिए लाहौर जाने का मोह-संवरण न कर पाये। सन् 1892 में आप लाहौर चले आये। कुछ ही दिनों में आप वहा के विख्यात वकील माने जाने लगे। आपकी आय बढ़ी, पर धन-संग्रह लालाजी की प्रवृत्ति न थी। वे अपनी आय का अधिकांश भाग आर्यसमाज को दे दिया करते थे। लाहौर मे उन दिनो आर्यसमाज का आंदोलन बड़े जोरों से चल रहा था। ये वे दिन थे, जबकि स्वामी दयानंद द्वारा संस्थापित आर्यसमाज रूपी पौधे को सींचकर पं० गुरुदत्त विद्यार्थी एवं महात्मा हंसराज जैसे अनेक उत्साही उत्तराधिकारी पजाब मे सामाजिक तथा धार्मिक अभ्युत्थान के महान कार्य को अग्रसर कर रहे थे। फलतः लाहौर उत्तरी भारत में जन-जागृति और सुधार का एक महत्त्वपूर्ण पीठस्थान-सा बन गया था। इस जागृति की बाढ़ के साथ स्वभावतः ही लाजपतराय भी नैसर्गिक भावावेग एवं मातृभूमि के उत्थान विषयक अपने सहज अनुराग के कारण तुरंत साथ हो लिये। उन्होंने आर्यसमाज की उस वेदी पर से शिक्षा, समाज-सस्कार, दलितोद्धार आदि के संबंध में उन दिनों अनमोल सेवा कार्य किया।

आपके जीवन ने एक नवीन दिशा तब प्राप्त की जब आप आर्यसमाज के सक्रिय सदस्य बन गये। गुरुदत्त के उत्साहवर्धन एवं पथ-प्रदर्शन से इनमें सेवा का भाव बढ़ता गया। लाहौर में 'दयानद एंग्लो वैदिक कालेज' की स्थापना मे आपने पर्याप्त हाथ बंटाया। आप उसकी मैनेजिंग कमेटी के सदस्य भी रहे। उसके निर्माणार्थ उन्होने गांव-गांव घूमकर बहुत सारा धन एकत्र किया और उसको विशाल रूप दिया। आपने पूर्ण निष्ठा एवं लगन के साथ उसकी उन्नति और वृद्धि के कार्य मे अपने आपको लगा दिया। उसमे अध्यापकी तक का कार्य करते हुए उसे प्रांत का एक प्रमुख शिक्षालय बना दिया।

जिस समय आप लाहौर मे थे यह शहर बड़ी तेजी से बढ़ रहा था। राजनीति का तो यह मच बन गया था। लालाजी ने जनसेवा के लिए वकालत का पेशा छोड़ दिया। अब उसकी निस्वार्थ सेवा आर्यसमाज तक ही सीमित नही रही, उन्होंने राजनीति में भी प्रवेश किया। वे स्वय लिखते है कि "मेरे अन्य कार्यों मे सन् 1893 में पंजाब मे होने वाले कांग्रेस अधिवेशन की स्वागत समिति का कार्य तया सार्वजनिक सभाओं में उपस्थिति शामिल थी। स्वागत समिति मे बिभिन्न

विचारवालों के झगड़ों का निपटारा, निरतर बकवाद तथा नीर मंथन मे मेरा काफी समय चला जाता था।"

उन्हें इस प्रकार बडा परिश्रम करना पड़ता था। इससे उनका स्वास्थ्य खराब हो गया। उन पर निमोनिया का प्रकोप हुआ और दोनो फेफड़े दुर्बल हो गये। वे लगभग दो महीने तक बिस्तर पर पड़े रहे और उनके जीवन की आशा जाती रही। लाजपतराय ने लिखा है "डॉक्टर बेलीराम बड़े स्नेह से मेरी चिकित्सा तथा देखभाल करते रहे। उन्होंने मेरी प्राण-रक्षा का भरसक प्रयत्न किया। जीवन-भर उनका आभारी रहूंगा।"

लालाजी की राजनीतिक साहित्य मे प्रारभ से ही रुचि थी। आपने उर्दू मे देशभक्त मेजनी तथा गैरीबाल्डी का जीवन-चरित्र लिखकर पजाब के नवयुवको में स्वदेश-भक्ति का बीजारोपण किया था। आपने भारतीय नवयुवकों का अपनी मातृभूमि की सेवा के लिए आह्वान किया। उन्होने युवकों को इन शब्दों मे ललकारा—"भारत के नौजवानो, आज आपकी भारतमाता इसलिए पददलित पडी है कि आपको अपने पर और अपने देशवासियों पर भरोसा नहीं रहा है। इसलिए अपने आत्मबल को जगाओ, देश की कोटि-कोटि जनता, जो खेतो मे अपने हाड़ पेरती है और दो वक्त भोजन भी नही पाती, उसमे इतनी बड़ी ताकत है, जो दुनिया की बडी से बड़ी हुकूमत का मुकाबला कर सकती है। इस ताकत को जगाना आपका काम है।"

उस समय भारतीय जनता की जिह्वा पर तीन महान सेनानियों का नाम था – लाल, बाल, पाल। लाला लाजपतराय, लोकमान्य बाल गगाधर तिलक और देश-सेवक विपिनचद्र पाल। इन्ही नेताओं ने वस्तुतः राष्ट्रीय पिता महात्मा गांधी के लिए अनुकूल पृष्ठभूमि तैयार की थी।

इसी बीच सन् 1888 मे इलाहाबाद के चतुर्थ कांग्रेस अधिवेशन मे सम्मिलित हो वह राजनीति के क्षेत्र मे और भी आगे बढ़े। अल्पायु मे ही उक्त अधिवेशन में कौंसिल-सुधार विषयक एक प्रस्ताव पर बोलकर आपनी अपने प्रकांड वक्तृत्व-शक्ति की मानो एक पूर्व झलक दे दी थी। यहां इस बात का वर्णन अप्रासंगिक न होगा कि कांग्रेस के मंच से अपनी यह प्रथम वक्तृता उन्होंने हिंदुस्तानी भाषा मे ही दी थी।

जिस समय आप लाहौर आर्यसमाज के प्रधान थे, दुर्भाग्य से उस समय समाज के ही दो दलों म मतभेद हो गया। खंडित आर्यसमाज को अखंड करने के लिए उन्होंने कितना प्रयत्न किया, सदस्यों की बैठकों के साथ-साथ सार्वजनिक सभायें की इसकी कोई गणना नहीं है। सभाओं मे लालाजी के सारपूर्ण भाषणो का बड़ा अनुकूल प्रभाव पड़ा। उनके एक भाषण का एक अंश इस प्रकार है—

"समाज सिद्धांतों का नाम है, न कि ईंट तथा पत्थर का। हम जनता की सेवा तथा अपने जीवन-सुधार के लिए समाज में सम्मिलित हुए हैं, न कि मकानों पर अधिकार जमाने अथवा उन पर लडने-झगडने के लिए। निःसंदेह आप लोगों ने काफी धन तथा समय के व्यय से मंदिर निर्माण किया है, परंतु आप में धर्म की भावना प्रबल है तो आप इससे अधिक शानदार भवन बना सकते हैं। मैं तो लड़ाई-झगड़े, पुलिस बुलाने अथवा न्यायालय की सहायता लेने के सर्वथा विरुद्ध हूं।"

लाला लाजपतराय की इस अपील से आर्यसमाज की अवस्था में सुधार हुआ। धीरे-धीरे दोनों दलों का संघर्ष और मतभेद ठंडा पड़ गया।

लाजपतराय ने देश-स्वतंत्रता हेतु आंदोलन उस समय आरंभ किया जब भारत की अवस्था अत्यंत शोचनीय थी। उस समय स्वतंत्रता के लिए संगठन करना एक अत्यंत जटिल एवं दुष्कर कार्य था।

उन्नीसवी शती के अंत में भारतवर्ष में अनावृष्टि, अकाल और महामारी का एक साथ प्रकोप हुआ। सन् 1896-97 में लगभग पूरे भारत में सूखा पड़ गया, जिसने दुर्भिक्ष के रूप में समस्त देश में त्राहि-त्राहि मचा दी। लोग उससे छूटने के उपायों में ठीक से लग भी न पाये थे कि तब तक प्लेग फूट पड़ी। प्रकृति के इन प्रकोपों से प्रलय का सा दृश्य उपस्थित हो गया। जनता और जन-नेताओं की कौन कहे सरकार तक के हाथ-पांव फूल गये। ऐसे भयानक समय में लाला लाजपतराय ने जिस साहस, तत्परता और जन-सेवा की भावनाओं का प्रमाण दिया उससे देश की जनता ने उन्हें सिर-आंखों पर उठा लिया।

लालाजी ने आपत्तिग्रस्त जनता की जो अवस्था देखी, वह बड़ी हृदयविदारक थी। उन्होंने देखा कि सहस्रों मानव दाने-दाने को तरस कर अकाल मृत्यु मर रहे हैं। प्लेग से प्रभावित लोग कीड़े-मकोड़ों की तरह मर रहे है। एक विशाल समूह अनाथों और निराश्रितों की तरह मर रहा है। समाज की इस शोचनीय अवस्था को देखकर लाला लाजपतराय रो उठे। किंतु उससे भी अधिक दुःख उन्हें यह देखकर हुआ कि उसी समाज में ऐसे नर-पशु भी थे जो मनुष्यों की उस विवशता का लाभ उठा रहे थे।

ईसाई मिशनरी भूखी जनता को थोड़ा-सा भोजन देकर उनका धर्म-परिवर्तन कर रहे थे। भ्रष्टाचारी, कालाबाजारिये और मुनाफाखोर भयंकर रूप से उस भूखी जनता का शोषण कर रहे थे। नर-पिशाच विवश नारियों के शील का सौदा कर रहे थे। मानवता पर इस प्रकार अमानवीय अत्याचार देखकर लाला-जी का हृदय टुकड़े-टुकड़े हो गया। उन्होंने उस आपत्तिग्रस्त जनता की सहायता में अपने प्राण तक न्यौछावर करने का संकल्प कर लिया। उन्होंने अकालपीड़ित क्षेत्रों में अंधाधुंध दौरे करने शुरू कर दिये। पीड़ितों के पास से वे जनता में आकर सभायें करते थे। अन्न, वस्त्र और धन-जन के लिए अपीलें निकालते थे।

समाचार-पत्रों में सहायता के लिए प्रेरणादायक लेख लिखते थे। साथ ही वे अकाल और आपत्ति से लाभ उठाने वाले नर-पिशाचो की निंदा भी करते थे। लालाजी की इन प्रेरक और मार्मिक अपीलो ने देशभर में एक हलचल मचा दी। हृदय से निकली हुई उनकी बातें सीधे लोगो के हृदय पर चोट करती थी। सोते हुए लोगों मे जागरण का वातावरण छा गया और उनकी मनुष्यता अपने भाइयो की सेवा-सहायता करने के लिए मचल उठी।

लालाजी की इस तत्परता और सेवा-भावना का फल यह हुआ कि देश-विदेश से अकाल-पीड़ितों की सहायतार्थ सामग्री आने लगी। पं० मदनमोहन मालवीय और गोखले जैसे चोटी के नेता भी जन-सेवा के क्षेत्र मे सक्रिय रूप से उतर आये और उन्होने लालाजी का नेतृत्व सहर्ष स्वीकार किया। किंतु सरकार अभी तक अपने कर्तव्य मे उदासीनता प्रकट कर रही थी। लालाजी के प्रयत्नों से 'दुर्भिक्ष कमीशन' की स्थापना हुई। कमीशन की रिपोर्टो मे लालाजी ने अपनी योजनाओ का समावेश कराया और सरकार से हर प्रकार की सहायता प्राप्त की। उन्होंने सन् 1901 ई० के 'दुर्भिक्ष कमीशन' के सामने एक महत्त्वपूर्ण गवाही भी दी। इसमे उन्होने अकाल के समय ईसाई-मिशनरियो द्वारा की जाने वाली धर्म-परिवर्तन-विषयक धाधलियों के प्रति ध्यान आकर्षित करते हुए अनाथ बच्चो की रक्षा के संबंध में एक महत्त्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किया। वास्तव मे उन्ही के प्रयत्नों से उत्तरी भारत मे सर्वप्रथम सुसंगठित रूप से आधुनिक ढंग के अनाथालयो की प्रस्थापना हुई थी। इस प्रकार उस समय लगभग दो हजार असहाय बच्चों की विधर्मियो के हाथों में पड़ जाने से उन्होंने रक्षा की थी। पीड़ितों की सहायता पहुचाने का जो यह अद्वितीय सेवाकार्य लालाजी ने किया उसका आभारपूर्वक उल्लेख सरकार तक ने सन् 1911 की अपनी जनसंख्या रिपोर्ट में किया।

इन परोपकारी कार्यों से लालाजी ने राजनैतिक क्षेत्र के साथ-साथ समाज-सेवा के क्षेत्र में भी गौरवपूर्ण स्थान बना लिया। इन दिन-रात के सेवा-कार्यों में उन्होने न केवल अपने धन का ही उत्सर्ग किया अपितु स्वास्थ्य की भी अपार क्षति की। स्वास्थ्य हानि पर खेद प्रकट करने वालों से लालाजी ने संतोषपूर्वक यही कहा—"अपनी थोड़ी-सी शारीरिक अथवा आर्थिक हानि करके यदि पीड़ित मानवता की सेवा की जा सकती है तो मैं इसे सस्ता सौदा ही समझता हूं। यदि इस परमार्थ मे मेरे प्राण भी चले जाते तो भी मैं अपने को धन्य ही मानता।"

सन् 1905 मे कांग्रेस ने एक शिष्ट-मडल इंग्लैंड भेजा ताकि वह वहां के ससद सदस्यो के समक्ष भारतीय स्थिति में सुधार के प्रस्ताव रख सके। श्री गोखले के साथ आप इस शिष्टमडल में भेजे गए। वहा आपने एक मास मे 40 सभाओ मे व्याख्यान दिये। समाचार-पत्रों में लेख लिखे और प्रतिष्ठित सदस्यो से मिले।

परंतु वहां आपको सर्वत्र निराशा ही दिखाई पड़ी। स्वदेश लौटने पर आपने जनता को बता दिया कि भिक्षावृत्ति से काम नही चल सकता। हमें अपने पैरों पर स्वयं खड़ा होना होगा।

वैसे तो लाला लाजपतराय सन् 1888 से ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से संबंधित थे, पर बीसवी सदी के प्रारंभ में आप कांग्रेस के उच्चकोटि के नेताओं की श्रेणी में आ गये थे। उस समय कांग्रेस दो दलों में बंट गयी थी — एक तिलक दल (उग्रपंथी) और दूसरा गोखले दल (उदारपंथी)। लालाजी के व्यक्तित्व की सर्वाधिक विशेषता यह थी कि वे 'आराम हराम है' के सच्चे प्रतीक थे। उनकी स्पष्टवादिता खतरों को चुनौती दे-देकर अपने पास बुलाती थी। पाखंड, छल, कपट, धोखेबाजी, मक्कारी से उन्हें सख्त घृणा थी। वे केवल राजनीतिज्ञ ही नहीं, अपितु एक ही साथ दार्शनिक, अर्थशास्त्री, समाज-सेवक, लेखक, पत्रकार, धार्मिक कार्यकर्ता, शिक्षाशास्त्री आदि भी थे। इन्ही गुणो के कारण लालाजी को उस समय के कांग्रेस के दोनों दलो का विश्वास प्राप्त था। परंतु बाद मे लालाजी का झुकाव कांग्रेस के उग्रपंथी दल की ओर ही रहा।

सन् 1906 मे बंग-भंग आंदोलन तीव्र गति से चल रहा था। बंग-भंग का बंगालियों ने एक स्वर मे विरोध किया, पर उनकी पुकार पर कुछ भी ध्यान न दिया गया। निराश होकर उन्होंने सत्याग्रह प्रारंभ कर दिया। सत्याग्रह का मन्त्र स्वराज्य, स्वदेशी एवं बहिष्कार बनाया गया। लालाजी ने बंगाल के प्रति सहानुभूति प्रकट की। भारत के अनेक स्थानों पर आपने भाषण दिये। विदेशी बहिष्कार के आंदोलन को उठाया। उन्होंने इस तूफान को जगाने एवं राष्ट्र-शक्ति के उभरते हुए मोर्चे को सबल बनाने के महान् अनुष्ठान मे कोई कम महत्त्व का भाग न लिया। उन्होंने अपनी ओजस्वी वाणी और निर्भीक राजनीति द्वारा दमन-पथ पर आरूढ़ नौकरशाही का दिल दहलाते हुए जोरों के साथ जनता को अपने निजी पैरों पर खड़ा होने के लिए उकसाना शुरू किया। गोखले की अध्यक्षता मे होने वाले कांग्रेस-अधिवेशन मे बंग-भंग विषयक मुख्य प्रस्ताव पर बोलते हुए आपने स्पष्ट शब्दों में यह उद्घोषित कर दिया कि "गिड़गिड़ाते रहने की नीति अब हमने छोड़ दी है।···वस्तुतः अंग्रेज स्वयं किसी भी बात से इतनी घृणा नही करते जितनी कि भिक्षावृत्ति से, और मेरा भी दृढ़ मत है कि भिखारी सच ही इसी योग्य होता है कि उससे नफ़रत की जाय। अतः हमारा यह कर्तव्य है कि हम अंग्रेजों को यह दिखा दें कि अब हम पहले के से भिखारी नहीं रहे।" निश्चय ही उस युग को देखते हुए इस प्रकार की आवाज उठाना बड़े साहस का कार्य था। यह केवल नर-केसरी लालाजी के बूते की बात थी, अन्यथा सुरेन्द्रनाथ, गोखले, मालवीय जी आदि हमारे नेता उन दिनों पग-पग पर ब्रिटिश सत्ता के प्रति लालायित दृष्टि से देखते हुए उसके प्रति वफ़ादारी की

दुहाई देते हुए थकते नहीं थे। फलतः ब्रिटिश सत्ता को लोकमान्य तिलक के बाद लालाजी सबसे खतरनाक व्यक्ति दिखाई देते थे। सरकार उनके कार्य देखकर दंग रह जाती थी।

इन्ही दिनों पजाब में लगान आदि के प्रश्न पर असंतोष की आग भभक उठी। इनको भड़काने वालों मे अग्रणी सरदार अजीतसिंह थे। सरकार अप्रत्याशित हलचल देखकर शंकित हो उठी। सरकार ने अजीतसिंह और लालाजी पर विद्रोह की आग भड़काने का आरोप लगाकर उन्हे गिरफ्तार कर लिया। इन कांटों को अपनी राह से उखाड फेंकने के लिए उन्हें देश-निर्वासन का दंड दे दिया गया। इस घटना से समस्त भारत मे असतोष की आग फिर सुलग उठी। पंजाब मे प्रबल आदोलन उठ खडा हुआ। सरकार ने उन दोनों को बर्मा के मांडले जेल मे नजरबद कर दिया। वहां लालाजी ने अपनी विख्यात पुस्तक 'मेरे देश-निष्कासन की कहानी' (द स्टोरी आफ माई डिपोर्टेशन) लिखी। मातृभूमि के लिए निर्वासन के इस कठोर दंड के प्रहार ने लालाजी के व्यक्तित्व को अपने देशवासियों की दृष्टि मे और भी ऊंचा उठा दिया। डॉ० पट्टाभि सीतारमैया ने लिखा है, "उस वर्ष की घटनाओं मे वह एक तरह से प्रधान केंद्र बन गए, जिसके कि चारों ओर तात्कालिक सारा राजनीतिक चक्र घूमा था।" उनके इस अन्यायपूर्ण देश-निकाले के प्रश्न को लेकर न केवल भारत के राजनीतिक आंगन ही मे प्रत्युत ब्रिटिश ससद तक मे प्रतिरोध की जोरदार आवाज उठाई गई थी। लालाजी की गिरफ्तारी कुछ ऐसा रंग लायी कि सारे देश में विद्रोह की आग भभक उठी। सरकार का तख्त उलट देने को भारत का बच्चा-बच्चा जोश से भर उठा। सरकार को अपने इस कदम के लिए पछताना पड़ा। अंततः सरकार लालाजी को मुक्त करने के लिए विवश हो गयी। उन्हें 18 नवंबर 1907 को मुक्त करके बर्मा से लाहौर पहुचा दिया गया। जनहृदय उनके स्वागत के लिए वहां उछल पडा था।

अब लालाजी ने समस्त भारत का दौरा किया। बिना लाउडस्पीकरो के हजारों की भीड़ उनके जोशीले भाषणों को सुनकर मत्रमुग्ध रहती थी। उसी समय आपने यह नारा बुलंद किया—"अगर कोई ऐसा आदमी है, जो अपने देश और जाति की सेवा अपना कर्तव्य नही समझता तो उससे कह दो कि तुम्हें मनुष्य शरीर तो मिला है, पर तुम अभी मनुष्य नही बन पाये।"

जनता ने हर स्थान पर लालाजी का हृदय से स्वागत किया। इसी समय यह 'पंजाब केसरी', 'हिंद केसरी' बना। सरकार को यह भली भांति विदित होने लगा कि उसने एक शेर की पूंछ को हाथ लगा लिया था।

सन् 1908 में भारत की स्थिति बड़ी भयंकर हो गई। बगाल के कुछ नवयुवकों ने बम बना डाले। मुजफ्फरनगर में बमबाजों के बम से दो अंग्रेजों की

हत्या हो गई; जिसके कारण सरकार ने बड़े जोर से दमन आरंभ कर दिया। इस दमन की चपेट में कई नेता पकड़े गये।

इस राजनीतिक निराशा और अंधकार के घटाटोप के वातावरण से एक प्रकार से खिन्न होकर लालाजी कुछ समय के लिए इंग्लैंड चले गए, परंतु विलायत के अपने इस प्रवासकाल का भी उपयोग उन्होंने स्वदेश के हित के लिए ही किया। वहां जाकर आपने भारत विषयक लेख लिखने आरंभ कर दिये। वहां आपने प्रवासी भारतीय युवकों में जागरण का मंत्र फूंकने का स्तुत्य कार्य किया। वहां से सन् 1909 ई० में आप भारत लौटे।

उस समय गांधी जी के नेतृत्व में दक्षिण-अफ्रीका का इतिहास-प्रसिद्ध सत्याग्रह-संग्राम अपने पूरे बल पर था। गोपालकृष्ण गोखले द्वारा सहायता अपील की जाने पर लालाजी ने अपने प्रांत से लगभग पचीस हज़ार रुपये एकत्रित कर भिजवाए।

कांग्रेस की ओर से सत्याग्रह के संबंध में जब एक शिष्टमंडल विलायत भेजने का निश्चय किया गया, तो उसके सदस्य के रूप में वह पुनः इंग्लैंड गये। जब यह शिष्ट-मंडल वापस स्वदेश लौटा तो लालाजी उसके साथ न आकर वहीं रुक गए। वहां ठहरकर उन्होंने 'आर्यसमाज' नामक एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक अंग्रेजी में लिखी, जो पर्याप्त समादृत हुई।

सन् 1913 में लालाजी जापान और अमेरिका गए। वह अमेरिका में थे तभी प्रथम विश्वयुद्ध छिड गया। महायुद्ध छिड़ जाने के कारण आपको भारत वापस आने की अनुमति नहीं मिली। अतः 1919 के अंत तक आपको अमेरिका में ही रहना पड़ा। अमेरिका प्रवास का समय लालाजी ने यों ही नहीं खोया। उन्होंने वहां भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम से संबद्ध विपुल साहित्य का सृजन किया। उन्होंने अनेक लेख लिखे और अमेरिकी जनता के समक्ष भारत की वास्तविक स्थिति को रखने के लिए अनेक भाषण दिये। उन्होंने भारत की सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं पर पत्र-पत्रिकाओं में कई गवेषणापूर्ण लेख लिखकर मातृभूमि के हितार्थ जो प्रबल प्रचार किया उसका संयुक्तराष्ट्र की जनता पर गहन प्रभाव पड़ा। सन् 1916 में आपने अमेरिका में 'इंडियन होम-रूल लीग' नामक संस्था की स्थापना की। लालाजी लीग के अध्यक्ष हुए और मि० हार्डीकर प्रधानमंत्री। इस प्रकार स्वदेश-सेवा के लिए अमेरिका में भी लालाजी ने सुसंगठित आंदोलन का सूत्रपात कर दिया। लीग की ओर से एक 'यंग इंडिया' नामक मासिक पत्र भी प्रकाशित किया गया। जनवरी, 1917 ई० में इसका प्रथम अंक निकाला गया। 'यंग-इंडिया' कार्यालय अमेरिका प्रवासी भारतीयों से भारत संबंधी समाचार प्राप्त करने के लिए प्रायः घिरा रहता था। अमेरिका प्रवासी लालाजी के इस सुसंगठित आंदोलन से अत्यंत प्रसन्न हुए।

उन्होंने यथाशक्ति इस कार्य में आर्थिक सहायता भी करनी प्रारंभ कर दी। लालाजी स्वयं सारे आदोलन को संचालित करते थे। मि० हार्डीकर उन दिनों अमेरिका में डॉक्टरी पढते थे। वे एक उत्साही और देशभक्त नवयुवक थे। लालाजी डॉ० हार्डीकर से मिले और अमेरिका मे अंग्रेजों के विरोध में आंदोलन करने के संबंध मे परामर्श किया। लालाजी के अनुरोध पर उन्होंने उक्त आंदोलन के लिए समय देना स्वीकार कर लिया। अमेरिका प्रवासी भारतीय श्रमजीवियों के कष्टों को लालाजी दयार्द्र होकर सुनते थे। उनके सगठन के लिए उन्होंने अलग से एक 'भारतीय श्रमजीवी संघ' स्थापित किया। अमेरिका मे उस समय भारतीयों के और भी कई संगठन थे। वे लालाजी के विचारों और आंदोलन पद्धति से मतभेद रखते हुए भी लालाजी को भारत का मान्य नेता मानते थे और समय पडने पर तन-मन एवं धन से उनकी सहायता करते थे। एक अपरिचित देश मे, जहा भारतीय हित विरोधी अंग्रेजों का सुसंगठित रूप में आंदोलन जारी हो, इतना बड़ा कार्य चलाना सरल कार्य नही था। परतु लालाजी असुविधाओं से तनिक भी विचलित न होकर निर्भीकतापूर्वक कष्ट सहन करते हुए अपना कार्य करते रहे।

जिस समय आप अमेरिका मे सामाजिक कार्य कर रहे थे उन्ही दिनों मे पंजाब में जलियांवाला बाग का भयकर हत्याकांड हुआ। वहां की जनता पर किए गए अत्याचारो का समाचार पाकर पंजाब के इस सिंह का हृदय अपनी बेवसी को देख मानो तिलमिला उठा! उनका मन भारत आने के लिए छटपटाया, मगर आप विवश थे। उस समय की अपनी अंतर्वेदना को उन्होंने इन शब्दों में प्रकट किया—

"मैं इस अवसर पर जबकि मेरे देशवासी ऐसी विकट आपदाओं का सामना करते हुए स्वतंत्रता की लडाई लड रहे है, उस सग्राम में अपना हिस्सा अदा करने के लिए देश में उपस्थित न रहने के कारण एक कटु आत्मग्लानि और लज्जा के भाव से दबा जा रहा हूं। यहां तक कि यह तथ्य भी कि भारत न जा पाने की अपनी इस विवशता में स्वतः मेरा अपना कोई अपराध नहीं है, मेरे लिए कोई सांत्वना की वात नही है। यद्यपि भारत के लिए होमरूल के पक्ष मे वाहरी दुनिया मे अनुकूल मत उत्पन्न करने का यह काम भी एक महत्त्व का काम है, फिर भी हमारा सच्चा कार्य-क्षेत्र तो है भारतवर्ष ही। वस्तुतः सारे ससार का नैतिक समर्थन प्राप्त कर लेने पर भी हमें निर्णयात्मक रूप से सहायता नही पहुचेगी। भारत की यथार्थ स्वतत्रता तो स्वयं भारतीयो द्वारा भारत मे ही सिद्ध हो सकेगी।"

अमेरिका मे रहकर लालाजी और उनके सहयोगियों ने स्वदेश हित-रक्षा के लिए जो आदोलन किया उससे विश्व के समक्ष भारत की वास्तविक स्थिति प्रकट

हो गई। लोग विदेश में आदोलन के महत्त्व को समझ गये। यों तो यूरोपीय महायुद्ध से पूर्व अनेक विद्वान् भारतीय नेता इन पाश्चात्य देशों में आये परंतु उन्होंने भारत के संबंध में राजनैतिक आंदोलन करने की आवश्यकता कभी भी अनुभव नही की। लालाजी सर्वप्रथम ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने विदेशों में रहकर स्वदेश के लिए अनेकानेक कष्ट सहन करके भी इतना सुंदर और सुव्यवस्थित आंदोलन कर दिखाया।

सौभाग्य से विश्व-युद्ध समाप्त होने के शीघ्र ही पश्चात् उन पर स्वदेश वापस आने संबंधी प्रतिबंध हटा लिया गया। वे 20 फरवरी, 1920 के दिन बम्बई बंदरगाह पर पुनः मातृभूमि के तट पर उतरे। देशवासियों द्वारा उनका बड़ी धूमधाम से स्वागत किया गया।

1920 ई० में कलकत्ता में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन हुआ। लालाजी ने उसकी अध्यक्षता की। इसी वर्ष नागपुर में कांग्रेस अधिवेशन हुआ, जिसमे असहयोग प्रस्ताव पास हुआ। उसके बाद आपकी गतिविधियां बहुत तीव्र हो गईं। असहयोग आंदोलन का एक प्रमुख कार्यक्रम था अंग्रेजी स्कूलों तथा कालेजों का बहिष्कार करना। अतः लालाजी ने लाहौर में नेशनल कालेज तथा तिलक आफ पालिटिक्स की स्थापना की, जो भारतीय वातावरण के अनुकूल थे। इसी समय उन्होंने तिलक स्वराज कोष के लिए दस दिन में नौ लाख रुपये एकत्रित किये। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय कार्यकर्ता तैयार करने तथा सुव्यवस्थित देशसेवा करने के लिए आपने 9 नवंबर, 1921 को एक अद्वितीय संस्था 'लोक सेवक मंडल' की स्थापना की। इस मंडल का एकमात्र उद्देश्य निस्वार्थ भावना से जनता की सेवा करना था। इसके सदस्यों को जीवन निर्वाह के लिए नाममात्र भत्ता दिया जाता था। इसी मंडल से हमें लालबहादुर शास्त्री जैसे देशरत्न प्राप्त हुए। हिंदी को राजभाषा का पद दिलाने वाले राजर्षि टंडन भी इस मंडल के सदस्य थे। इस मंडल के सदस्य लालाजी में पिता, माता, दार्शनिक, पथ-प्रदर्शक, मित्र और गुरु सभी का रूप पाते थे।

स्वभावतः ही लालाजी द्वारा होने वाली इस प्रकार की राष्ट्रीय जागृति को भला सरकार क्यों कर चुपचाप सहन कर सकती थी। अतः 3 दिसम्बर, सन् 1921 ई० को उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और 18 मास की कैद तथा 500 रुपये जुर्माने की सजा सुनाई गई। गिरफ्तार होने के समय आपने देशवासियों के नाम अपना एक संदेश इस प्रकार प्रकाशित कराया —

"मैं अमेरिका से चलते समय खुद सोचता था कि मैं बहुत थोड़े समय तक ही जेल मे बाहर रह सकूंगा। मैं अपनी गिरफ्तारी पर बहुत खुश हूं क्योंकि हमारा ध्येय पवित्र है। हमने जो कुछ किया है वह अपनी आत्मा एवं परमात्मा की इच्छानुकूल ही किया है। हमारा मार्ग ठीक है इसलिए मुझे विश्वास है कि

हमें अपनी उद्देश्य-सिद्धि में अवश्य सफलता मिलेगी। मुझे यह भी यकीन है कि मै बहुत जल्द वापस आकर आपकी खिदमत करूंगा। लेकिन अगर ऐसा न भी हो तो भी मैं आपको यकीन दिलाता हूं कि मुझे निहायत खुशी है कि खुद मैं अपने परमात्मा के सामने हाजिर हो जाऊगा।"

इस कारावास से आप अवधि से पहले ही छोड दिए गए। गांधी जी की इच्छा थी कि अब लालाजी अपने आपको गिरफ्तारी से बचायें। यह वह समय था जब देश के वीर नवयुवक हंसते-हंसते स्वदेश सेवा के लिए जेल-यात्रा कर रहे थे। लालाजी जैसे नरकेसरी को सरकार भला किस प्रकार स्वतंत्र छोड़ सकती थी। शीघ्र ही राजद्रोह के आरोप में आपको सख्त सजा देकर जेल भेज दिया गया। जेल जाने पर आपका स्वास्थ्य बिगड़ गया और आपके शरीर मे क्षय के लक्षण दिखाई देने लगे। उनको मुक्त करने के लिए देश-विदेश मे सब कही जोरों से पुकार उठाई गई। विवश होकर सरकार को 16 अगस्त, 1923 ई० को उन्हे रिहा करना पड़ा।

तब तक देश के राजनीतिक वायुमंडल ने कुछ और ही तरह का रग दिखाना शुरू कर दिया था। एक तरफ गांधी जी जेल के सीखचों की आड़ मे बद थे, दूसरी तरफ देशबंधु दास और पं० मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में कौंसिल-प्रवेश के पक्ष में एक शक्तिशाली मोर्चा तैयार हो रहा था। असहयोग के समय के हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य संबंध बिखर रहे थे। लीग तथा शुद्धि के नारों के बढते हुए स्वर के साथ देश के राजनीतिक आंगन में साम्प्रदायिकता का भी रग चढ़ता जा रहा था। इस परिवर्तित वातावरण का प्रभाव लालाजी पर पड़े बिना न रह सका। वह जहा कौंसिलों पर धावा करने के लिए कटिबद्ध हुए, वहां युग की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उन्ही दिनों 'मुस्लिम लीग' की तरह 'हिंदू महासभा' के नाम से एक संस्था को स्थापित करने में उन्होंने योग दिया।

सन् 1925 मे आपने कलकत्ता हिंदू महासभा का अध्यक्ष पद सुशोभित किया। आपने बड़ी गंभीर स्थिति में हिंदुओं को संमार्ग दिखाया। सारी शक्ति हिंदू संगठन की ओर झुका देने पर भी लालाजी देशहित को न भूल सके। हिंदू-मुस्लिम ऐक्य के लिए उन्होंने सदैव सहयोग का हाथ बढ़ाये रखा। मुसलमानी नेताओं की भांति अपनी जाति का कार्य हाथ में लेकर वे अपने मुख्य ध्येय "स्वराज्य-प्राप्ति" को एक क्षण भी न भूले। यह आप ही का पुरुषार्थ था कि हिंदू महासभा साम्प्रदायिक संस्था होते हुए भी सदैव राष्ट्रहित की पोषिका बनी रही। सांप्रदायिकता के रंग मे रंगे हुए कुछ हिंदू सभावादी महासभा की इस नीति से असंतुष्ट भी थे। ऐसे लोगों के समाधान के लिए लालाजी ने कहा—

"हिंदू नेताओं ने स्वराज्य के आंदोलन को विकसित रूप देने के लिए अब तक जो कुछ किया है उस पर मुझे तनिक भी दुःख नही है। मुझे आशा है कि

भावी इतिहासकार उन नेताओं की ऐसे आंदोलन मे भाग लेने के लिए प्रशंसा ही करेंगे। हमें यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि कोई भी जीवित राष्ट्र राजनीति की उपेक्षा नही कर सकता। राजनीति संघटित जीवन का प्राण है और सामाजिक उन्नति और राष्ट्रीय समृद्धि के लिए उचित ढंग की राजनीति के कार्यकलाप नितांत आवश्यक है। राजनीति के कार्यकलाप दो प्रकार के हैं— सरकार विरोधी और सरकार के पक्ष में—केवल विरोध करने के उद्देश्य से सरकार का विरोध करना मूर्खता होगी। साथ ही व्यक्तिगत या जातिगत हितो के लिए सरकार की सहायता करना भी कम मूर्खता न होगी। अब तक हिंदुओं के राष्ट्रीय नीति वर्ती है और मैं समझता हूं कि उन्हें इस नीति पर दृढ़ रहना चाहिए। यदि वे राष्ट्रीयता का स्थान सांप्रदायिकता को देंगे तो उनके लिए इससे बड़े कलंक की दूसरी बात न होगी।"

इसी समय लालाजी स्वराज्य पार्टी में सम्मिलित हुए। कुछ समय पश्चात् इस पार्टी से विरोध होने के कारण उन्होंने पार्टी से संबंध विच्छेद कर लिया। पृथक होकर भी उन्होंने राष्ट्रीयता न त्यागी। उन्होंने अपनी पृथक पार्टी स्थापित की, जिसका नाम "स्वतंत्र कांग्रेस दल" रखा गया। अगले चुनाव में वे इसी दल की ओर से खडे हुए और स्वराजिस्टों का विरोध होने पर भी वे दो स्थानों से निर्वाचित होकर आये। लाला जी ने असेम्बली मे अपने दल का नेतृत्व ग्रहण किया। शिमला अधिवेशन मे आपने 'शांति रक्षा बिल' का विरोध करते हुए ऐसी अद्भुत वक्तृता दी थी कि लोग आश्चर्यचकित रह गए। उन्होंने कहा था कि अंग्रेज हमें जो बोलशिवको का और अफगानिस्तान का भय दिखाते हैं वह व्यर्थ है। अंग्रेजी कुशासन की अपेक्षा हम इन आपदाओं का सहन करना अच्छा समझते हैं।

अछूतोद्धार, स्त्री-शिक्षा, सह-शिक्षा, पर्दा-प्रथा उन्मूलन आदि पर लालाजी ने बहुत कार्य किया। इसी काल में उन्होंने एक अखिल भारतीय अछूतोद्धार कमेटी की भी स्थापना की। देश-सेवा के साथ-साथ आप साहित्य-सेवा के लिए भी समय निकाल लेते थे। आपने उर्दू मे 'वंदेमातरम्' नाम का एक दैनिक पत्र निकाला और बहुत समय तक उसका संपादन भी किया। आपकी 'अनहैपी इंडिया' पुस्तक में भारतवासियों के चरित्र पर लगाये झूठे लाच्छनों को खूब मुंहतोड़ जवाब दिया गया। आपकी एक ओर महत्त्वपूर्ण पुस्तक का नाम है 'राष्ट्रीय शिक्षा'। इस पुस्तक में एक और जहा आपने यह बताया है कि हमारी शिक्षा प्रणाली में किन-किन सुधारों की आवश्यकता है, वहां दूसरी ओर बहुत से भारतवासियों के राष्ट्रीय शिक्षा संबंधी गलत विचारों की भी आपने निर्भीकता के साथ आलोचना की है।

अंग्रेज सरकार ने अपनी तथाकथित सुधार-योजना का परिणाम परखने के

लिए साइमन कमीशन की नियुक्ति की थी। यह आयोग भारतीय शासन प्रबंध संबंधी क्षमता का मूल्यांकन एवं स्वायत्त शासन संबंधी संभावनाओं के बारे में भी स्थिति का कथित अध्ययन कर रहा था। सरकार के ढोंग से क्षुब्ध भारतीय जनता इस नाटक से और भी उत्तेजित हो उठी। जहां-जहां भी यह कमीशन पहुंचा, इसके विरोध में प्रचंड प्रदर्शन और हडतालें हुई। जनता इस 'मान न मान मैं तेरा मेहमान' वाले कमीशन के विरोध मे काले झंडो का जुलूस निकालकर कमीशन के प्रति अपना विरोध प्रकट करना चाहती थीं। उधर कमीशन को बहिष्कार प्रदर्शन से बचाने के लिए पुलिस भी पूर्ण तैयारी में थी। नगर मे 144 की घोषणा हो चुकी थी मगर जनता जुलूस निकालने और सभा करने पर कटिबद्ध थी। लालाजी इटावा हिंदू सम्मेलन से उसी दिन लाहौर पहुंचे थे। आपने भी जुलूस में सम्मिलित होने का विचार कर लिया।

30 अक्तूबर, 1928 को यह कमीशन लाहौर पहुंचा। लाहौर रेलवे स्टेशन के बाहर जनता का एक बड़ा समूह वंदेमातरम् की शब्दध्वनि कर रहा था। उस गूंज से चारों दिशाएं कांपने लगी। स्टेशन पर चारों ओर बाडा बंधा हुआ था जिसे पुलिस घेरे खडी थी। देशभक्त भारतीय जनता ने प्रतिबंधो को तोडकर एक भव्य जुलूस निकाला। इसका नेतृत्व लाला लाजपतराय कर रहे थे। विरोध-प्रदर्शन पूर्णतः अहिंसक था। पुलिस तो उपद्रव करने के लिए सदैव अवसर ढूढा करती है मगर लाहौर में तो विना कोई अवसर पाये हुए ही शांत जुलूस पर लाठियां चलनी शुरू हो गईं। ब्रिटिश सरकार के दूत इसी अवसर की खोज मे थे कि अब अपने रास्ते के इस कांटे को हटायें। पुलिस ने निहत्थी भारतीय जनता पर खूब लाठिया बरसायी। लालाजी के प्राण लेना इस समय की लाठियों का मुख्य उद्देश्य था। उन पर इतनी पाशविकता से लाठी-चार्ज किया गया कि उनकी छाती पर गहरा घाव हो गया। पंजाब का यह शेर इस अपमानपूर्ण आघात से छटपटा कर रह गया। उसके सकेत पर पंजाब के नौजवान रक्त की नदियां बहा सकते थे। किंतु उसने तो अहिंसा का व्रत लिया हुआ था। उनका यही सदेश था कि किसी प्रकार का हिंसात्मक कदम न उठाया जाये। उन्होंने गंभीर रूप से घायलावस्था मे भी विशाल जनसमूह को सबोधित करते हुए कहा—

"मैं इस मंच पर खडा होकर यह घोषणा करता हूं कि आज हम पर जो वार हुआ है, वह अंग्रेजी साम्राज्य का अत निकट आ जाने की सूचना देता है। जिस किसी ने पुलिस के इस क्रूर कर्म को देखा है वह उसे कभी नही भूल सकता। वह दृश्य हमे बुरी तरह अंतर्हित हो गया है। हमें इस कायरतापूर्ण आक्रमण का बदला चुकाना है। बदला चुकाने से मेरा मतलब खून-खराबा करना नही बल्कि स्वाधीनता प्राप्त करना है। मैं सरकार को चेतावनी देना चाहता हूं कि अगर इस देश मे रक्तरंजित क्राति हो गई तो उसकी जिम्मेदारी आज का-सा दुष्कर्म करने

वाले गोरे अफसरों पर ही होगी। हमारा ध्येय तो यही है कि हम स्वराज्य का युद्ध शांतिपूर्ण एवं अहिंसात्मक ढंग से ही लड़ें लेकिन अगर सरकार और सरकारी अफसरो के यही ढंग रहे और इसके जवाब में हमारे नौजवानों ने हमारे कहने की परवाह न करके यह निश्चय कर लिया कि अपने मुल्क की आजादी हासिल करने के लिए जो कुछ भी करना पड़े वह सब ठीक है तो उसमें कोई आश्चर्य की बात न होगी। मैं नही जानता कि मैं उस दिन को देखने के लिए जीता रहूंगा या तब तक मर जाऊंगा। लेकिन चाहे मैं जीता रहूं या मर जाऊं, और मेरे देश के नौजवानों को लाचार होकर उस दिन का सामना करना ही पड़ेगा तो मेरी आत्मा उन्हें युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए आशीर्वाद देगी।"

वे अपनी मृत्यु से पूर्व करारी चोटों से कराहते हुए कहा करते थे—"मेरे शरीर पर पड़ी एक-एक लाठी ब्रिटिश साम्राज्य के कफन में कील सिद्ध होगी।"

इस चोट ने अंततः भारत के इस भीष्म, रणबांकुरे महारथी को भारतीयों से सदैव के लिए पृथक कर दिया। 17 नवंबर, 1928 को आपका स्वर्गवास हो गया। 63 वर्ष तक भारतमाता की अमूल्य सेवा करते हुए स्वतंत्रता की बलिवेदी पर आहुति देकर आप शहीद हो गये। उनके निधन पर सारे भारतवर्ष में शोक हड़ताल मनाई गई। स्थान-स्थान पर जुलूस निकाले गये और शोक-सभाएं की गयी। उनके प्रति प्राप्त सहस्रों श्रद्धांजलियों में से कुछ प्रस्तुत हैं—

-- मैं इस हानि को हिंदुस्तान का सबसे बडा दुर्भाग्य समझता हूं। उनकी स्थान-पूर्ति असंभव नही तो कठिन अवश्य है। उन जितनी सार्वजनिक सेवाएं करने का शायद ही किसी जीवित नेता को सौभाग्य प्राप्त हुआ हो। स्वराज्य प्राप्ति ही उनकी सबसे बड़ी यादगार है।

—महात्मा गांधी

—देश का दुर्भाग्य है, कि वह एक महान् नेता के नेतृत्व से वंचित हो गया। लालाजी बिलकुल निःस्वार्थ देशसेवक थे। उनकी पवित्र देशभक्ति, स्वातंत्र्यप्रियता, निर्भयता और सच्चाई आदि गुणों ने उन्हे देशवासियों के हृदय में बिठा दिया था। उनकी सेवाएं बहुत ही विशाल और व्यापक थी।

—मदनमोहन मालवीय

—उनकी आकस्मिक मृत्यु से राष्ट्र पर आपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा है और इससे प्रत्येक देशभक्त की वैयक्तिक हानि हुई है।

—रवीन्द्रनाथ टैगोर

इस प्रकार इस महापुरुष ने सामान्य स्थिति मे जन्म लेकर अपनी प्रतिभा, त्याग एवं समाज-सेवा के बल पर सारे देश का सम्मान प्राप्त किया। राष्ट्रीय-संग्राम में वे शहीद होकर अपना नाम अमर कर गये। आपने कभी भी मान-प्रतिष्ठा की परवाह नही की। आपने देश को स्वतंत्र बनाने मे जो महत्त्वपूर्ण भाग

लिया, वह भारत के इतिहास की उज्ज्वल और गौरवपूर्ण गाथा है। गांधी जी ने सम्यक् ही कहा था—"लाला लाजपतराय जैसे व्यक्ति की मौत उस वक्त तक नही हो सकती जब तक कि भारतीय आसमान पर सूरज चमकता है। लालाजी स्वय एक सस्था थे। उन्होने अपने देश से प्यार किया, क्योंकि वे दुनिया से प्यार करते थे।" वस्तुत. ऐसे कर्मठ, तपस्वी, देशभक्त महापुरुष शताब्दियों मे एकाध होते है। उनका नाम राष्ट्र-निर्माताओं मे सदा जगमगाता रहेगा।

डॉ० राजेन्द्र प्रसाद

महात्मा गांधी के विराट व्यक्तित्व से प्रभावित होकर जो नेता स्वतंत्रता आदोलन मे कूद पड़े उनमे डा० राजेन्द्र प्रसाद का नाम विशेष उल्लेखनीय है। भारत को स्वतंत्रता दिलाने में उन्होंने गांधी जी की छत्रच्छाया मे एक महान् सेनानी के रूप मे कार्य किया। वे एक ऐसे निर्भय देशभक्त और राष्ट्रीय नेता थे, जो प्रेय की अपेक्षा श्रेय को अधिक महत्त्व देते थे। स्वतंत्रता प्राप्ति पर वे देश के प्रथम राष्ट्रपति बने। वे लगभग अर्धशताब्दी तक देश के नवजागरण और नव-निर्माण मे संलग्न रहे। वे सदा प्रकाशमान और सफल पथप्रदर्शक रहे। उनका ओजस्वी जीवन हमारे देश के इतिहास, विशेषतः राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास के पृष्ठों को सदा ज्योतित करता रहेगा।

आपका जन्म 3 दिसंबर सन् 1884 को बिहार के सारन जिले के जीरादेई नामक ग्राम मे हुआ था। आपके पूर्वज संयुक्त प्रांत के रहने वाले थे। उन्हें व्यवसाय की खोज में बिहार मे आकर बसना पड़ा। आपके पिता का नाम श्री महादेव सहाय था। आप संत प्रकृति के व्यक्ति थे और वैद्यक का काम करते थे। इनके पांच बच्चे थे जिनमे राजेन्द्र प्रसाद सबसे छोटे थे।

जिस गांव में राजेन्द्र प्रसाद ने बाल्यावस्था व्यतीत की, वह छोटा-सा था। उसकी जनसंख्या लगभग दो-तीन हजार थी। किंतु उस गांव में कुम्हार, अहीर, चमार, बढ़ई, दर्जी, वैद्य, शिक्षक आदि सभी व्यवसायों के व्यक्ति पाए जाते थे। वहां गांव नगरो पर आश्रित न थे।

बालक राजेन्द्र की प्रारंभिक शिक्षा गांव मे ही हुई। अक्षरारंभ एक मौलवी साहब ने कराया। प्रारंभिक शिक्षा उर्दू और फारसी मे दी गई। किंतु उनका व्यवस्थित विद्यार्थी-जीवन छपरा नगर पहुंचने पर प्रारंभ हुआ। यहां अंग्रेजी और हिंदी की शिक्षा आरंभ हुई। इनके शिक्षक इनकी असाधारण प्रतिभा और कर्मण्यता पर मुग्ध थे। परीक्षा का जब परिणाम निकला तो शिक्षकों को आशातीत सफलता की सूचना मिली। राजेन्द्र न केवल बिहार, अपितु बगाल, आसाम, बर्मा आदि सभी प्रांतों मे सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुए। इस प्रकार वह छात्रावस्था में ही बिहार-रत्न समझे जाने लगे। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात'

वाली कहावत इनके बारे मे पूर्णत: चरितार्थ हो रही थी।

उन दिनो बाल्यावस्था मे ही विवाह करने की प्रथा थी। फलत: बालक राजेन्द्र का विवाह भी सन् 1896 मे मात्र बारह वर्ष की अवस्था में कर दिया गया। बाल-विवाह और पर्दे की प्रथा के बीच राजेन्द्र बाबू का पारिवारिक और दापत्य जीवन चला। प्राय: घर से बाहर रहने के कारण जब कभी छुट्टियो मे घर आना होता, तभी पत्नी से मुलाकात होती और वह भी मर्यादाओ के मध्य।

कालेज की शिक्षा के लिए राजेन्द्र बाबू को कलकत्ता भेजा गया। वहां उन्होंने प्रेजीडेंसी कालेज मे अपना नाम लिखवाया। बिहार से बंगाल मे जाने का बालक राजेन्द्र का यह पहला अवसर था। उसने कालेज मे सिर खुले, कोट-पतलून और हैट लगाए छात्रों को जब देखा तो वह विस्मित रह गया। मन मे सोचा कि ये लड़के एंग्लोइडियन है। पर जब उपस्थिति ली गई तब राजेन्द्र को मालूम हुआ कि ये सब तो हिंदुस्तानी हैं। इसी प्रकार उन्हे पाजामा-टोपी पहने देख अन्य छात्रों ने इन्हें मुसलमान समझा था। इन दिनों अतर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त श्री प्रफुल्लचद्र राय और जगदीश चंद्र बोस इस कालेज मे प्राध्यापक थे। राजेन्द्र उसी उत्साह, लगन और तत्परता से पढ़ने लगे। एफ० ए० परीक्षा में सर्वप्रथम उत्तीर्ण होने पर उन्हे सरकार की ओर से छात्रवृत्ति मिली।

इन्ही दिनो स्वदेशी आदोलन का सूत्रपात हुआ था। नवयुवक राजेन्द्र प्रसाद का बड़ा भाई उसे प्रयाग की कई रोमाचकारी घटनाएं सुनाने लगता। तब से ही स्वदेश-प्रेम राजेन्द्र के हृदय में अकुरित हुआ। उसने खादी पहनना आरंभ कर दिया।

बी० ए० मे आपने अंग्रेजी, हिस्ट्री और इकनोमिक्स तीन विषयों मे ऑनर्स लिया और दो छात्रवृत्तिया पाते रहे।

इसी समय बगाल का विभाजन हुआ था जिससे देश मे क्रांति की लहर ने बल पकड़ा। बंगाल के शिक्षित वर्ग ने भारतीय कला तथा सस्कृति के पुनरुज्जीवन के लिए भरसक प्रयत्न किया। श्री अरविंद घोष, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा विपिन चद्र पाल आदि बंगाल के प्रमुख नेताओ के व्याख्यानो को सुनकर नवयुवक राजेन्द्र प्रसाद के हृदय पर विशेष छाप पड़ी। उन्होंने सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रो मे सक्रिय भाग लेना शुरू कर दिया।

इन्ही दिनो कलकत्ता मे श्री सतीशचद्र मुखर्जी ने 'डान सोसाइटी' नामक एक संस्था की स्थापना की। इसमें छात्रों को मुफ्त सदस्यता प्राप्त थी। इसका उद्देश्य छात्रो को शिक्षा मे सहायता देना तथा उनका चरित्र-निर्माण करना था। देश की गतिविधियो से उन्हें अवगत कराना भी इस संस्था का लक्ष्य रहता था। विद्यार्थियों से कुछ सेवा का काम भी लिया जाता था। राजेन्द्र बाबू भी इस संस्था के सदस्य बने थे। इस संस्था की ओर से प्रतिभाशाली और मेधावी छात्रों

को छात्रवृत्तियां और पारितोषिक भी दिये जाते थे जो राजेन्द्र बाबू को भी प्राप्त हुए।

उपर्युक्त संस्था में जाने से राजेन्द्र बाबू की चिंतन-मनन की शक्ति में वृद्धि हुई। वह सार्वजनिक हितकारी कार्यों मे रुचि लेने लगे। उन्होंने अपने सहयोगियों से मिलकर कलकत्ता में 'बिहारी क्लब' की स्थापना भी की। इसमें विचार-विमर्श तथा भाषण आदि का कार्यक्रम होने लगा। कालेज की यूनियन में भी राजेन्द्र बाबू बराबर भाग लेते रहे और एक बार स्वयं उसके मंत्री भी बने।

दिसंबर सन् 1906 मे कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन कलकत्ता मे हुआ। इसमे सर्वप्रथम एक स्वयंसेवक के रूप में राजेन्द्र बाबू ने भाग लिया। यहां उन्हें विषय-निर्धारिणी समिति की बहसें सुनने का मौका मिला। यही पर उन्हें सरोजनी नायडू, मदन मोहन मालवीय, जिन्ना आदि के भाषण सुनने को मिले। इस अधिवेशन की कार्यवाही और विचारों से राजेन्द्र बाबू के मन में कांग्रेस के प्रति श्रद्धा बढ गई। इस सामाजिक एवं राजनीतिक रुचि ने इतना बल पकड़ा कि पढ़ाई में विघ्न पड़ने लगा। परिणामतः वह एम० ए० कक्षा मे पहले की भांति सफलता प्राप्त न कर सके। तत्पश्चात् उन्होंने कानून की परीक्षा पास की। एक बार उनके कानून के किसी प्रश्नपत्र को देखकर एक अंग्रेज परीक्षक ने प्रायः पूरे के पूरे अंक दे दिये थे और जब विश्वविद्यालय की ओर से इसके बारे में पूछा गया तो परीक्षक ने लिखा कि ऐसे उत्तर मैं स्वयं भी नहीं दे सकता था। दो वर्ष तक इन्होंने वकालत का काम भी किया। इनकी वकालत में भी नैतिकता को देखकर कई वकील इनके प्रशंसक बन गये। हाईकोर्ट के जज श्री आशुतोष मुकर्जी ने इन्हें ला कालेज में प्राध्यापक नियुक्त किया। कलकत्ता मे जब राजेन्द्र बाबू वकालत पढ़ रहे थे तब वहां सबसे पहले उनकी गोखले जी से मुलाकात हुई। गोखले जी ने कुछ समय पूर्व ही 'सर्वेंट आफ इंडिया सोसाइटी' की स्थापना की थी। उन्हें राजेन्द्र बाबू की प्रतिभा और बुद्धिमत्ता का परिचय मिल चुका था। उन्होंने राजेन्द्र बाबू से देश-सेवा के लिए इस समिति मे सम्मिलित होने का आग्रह किया। उन्होने इस समय राजेन्द्र बाबू से कहा—"हो सकता है तुम्हारी वकालत खूब चले, बहुत रुपये तुम पैदा कर सको, बहुत आराम और ऐश-इशरत में दिन बिताओ। बड़ी कोठी, घोड़ागाड़ी, नौकर इत्यादि दिखावट के सामान जो अमीरों के हुआ करते है, तुमको सब उपलब्ध हो। पर देश का भी दावा कुछ लड़को पर होता है, और चूंकि तुम पढ़ने में अच्छे हो इसलिए तुम पर यह दावा और भी अधिक है।"

गोखले जी के उपर्युक्त कथन का राजेन्द्र बाबू के मन पर गहन प्रभाव पड़ा। उनका हृदय-मंथन शुरू हुआ। एक ओर पारिवारिक दायित्व, धन-वैभव का आकर्षण और दूसरी ओर देश-सेवा का कठोर व्रत। अंततः गोखले की बात मान-

कर वे उनकी समिति के सदस्य बन गये।

इन्ही दिनों राजेन्द्र बाबू का हिंदी के प्रति प्रेम जाग्रत हुआ। कलकत्ता की हिंदी साहित्य परिषद् से राजेन्द्र बाबू का निकट का संबध रहा। उन्होंने कुछ लेख लिखे जिसमें अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन की आवश्यकता पर बल दिया। आपको सन् 1912 के दिसंबर में सम्मेलन के तृतीय अधिवेशन की स्वागत समिति का प्रधान बनाया गया।

सन् 1916 मे महात्मा गांधी दक्षिण अफ्रीका से लौटे थे। यद्यपि गांधी जी के दक्षिण अफ्रीका संबंधी आंदोलन से शिक्षित भारतीय समाज भली-भांति परिचित था तथापि अशिक्षित लोग उससे अपरिचित थे। भारत के राजनीतिक क्षेत्र में अभी वे एक अपरिचित व्यक्ति थे। वे सारे देश का दौरा कर रहे थे। चंपारन जिले के श्रीराम शुक्ल के निमत्रण पर वे बिहार पहुंचे।

चंपारन शोषित एवं पददलित समाज का एक उदाहरण था जहा विदेशी मालिक, भारतीयों का शोषण कर रहे थे। कृषको को दिन-रात खेतों पर कार्य करना पड़ता था किंतु बदले में खाद और बीज पर व्यय-मूल्य से भी कम प्राप्ति होती थी। अगर कोई व्यक्ति प्रतिवाद करता तो उसे क्रूरता से मारा-पीटा जाता। अधिकारी विदेशी मालिको से मिले रहते थे और कृषकों को भारी दड दिये जाते थे।

उपर्युक्त परिस्थितियों की स्वय जाच-पड़ताल करने के लिए महात्मा गांधी चपारन गए। वहां पहुंचने पर प्रतिष्ठित कृषक आकर उनसे मिले और वस्तु-स्थिति से उन्हे अवगत कराया। ज्यों ही गाधी जी उस जिले के केन्द्रीय स्थान पर पहुंचे, जिला कलेक्टर ने उन्हे नोटिस जारी किया कि जिला छोड़कर चले जाइए। गांधी जी ने उस आदेश को पालने से इंकार कर दिया। उन पर मुकदमा चलाया गया। गांधी जी ने सारी बातें राजेन्द्र बाबू को तार द्वारा लिख भेजी। राजेन्द्र प्रसाद तथा अन्य साथी गाधी जी की सहायता के लिए वहां पहुंचे। गांधी जी ने प्रश्न किया—"मेरे जेल जाने पर आप लोग क्या करेंगे ?"

डा० राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी जीवनी में लिखा है—"इन दिनों इस बात की सभावना किसी को भी न हो सकती थी। जेल शब्द एक बडी विभीषिका का पर्याय था। लोग जमानत पर छूटने के लिए हज़ारों रुपया खर्च करते थे। यहां एक ऐसा व्यक्ति है जो दक्षिणी अफ्रीका से लोगों के दु.खों का निवारण करने के लिए जेल जाने को तैयार है। हम लोग कैसे घर वापस जायेंगे। यह जेल-यात्रा बिहार के किसानों के लिए ही है। हमने भी निश्चय किया कि गाधी जी के साथ जेल जाना ही श्रेयस्कर होगा।"

राजेन्द्र प्रसाद का गाधी जी के साथ यह प्रथम संपर्क था जिसने उनके जीवनोद्देश्य को परिवर्तित कर दिया। जीवन का लक्ष्य आत्मसुख न होकर

लोककल्याण बन गया। राजेन्द्र बाबू ने अपने साथियों के साथ जांच का कार्य शुरू किया। उन्होंने कुछ व्यक्तियों की अनेक टोलियां बनाईं। ये टोलियां एक के जेल जाने की नौबत आने पर क्रमशः कार्य करती रहीं।

गांधी जी ने चपारन की जांच शुरू की। वे गांव-गाव जाकर स्वयं लोगों से मिले। हजारों की संख्या में उनके बयान लिखवाए। गांधी जी का यह जाच कार्य बराबर चलता रहा। उधर उन पर मुकद्दमा भी चलता रहा। जिस दिन अदालत में गाधी जी का बयान हुआ, दूर-दूर के गांवो से हजारों लोग एकत्रित हो गये। भीड़ से अदालत के दरवाजे भी टूट गये। अन्ततः मुकद्दमा समाप्त हुआ। सरकार ने मुकद्दमा वापस ले लिया। अंग्रेज़ लोग ऐसे परास्त हुए कि सदा के लिए उस स्थान को छोड़ गए।

चपारन के पूरे दौरे में राजेन्द्र बाबू गांधी जी के साथ रहे। उन्होंने गाधी जी के कार्य, कार्य-पद्धति का पूर्णतः अध्ययन किया। उसके पक्ष-विपक्ष को देखा। उन्हे गांधी जी की कार्य-पद्धति और उसके दूरगामी परिणामों पर पूर्ण आस्था हो गयी। चंपारन कांड समाप्त होते-होते राजेन्द्र बाबू ने अपने आपको गाधी जी के चरणों में पूर्णतः समर्पित कर दिया।

गांधी जी के नेतृत्व में बाबू राजेन्द्र प्रसाद ने देश की स्वतंत्रता की झांकी देखी थी। देश के महान हित के लिए उन्होंने स्वार्थ पर विजय प्राप्त की। उस समय वे पटना हाईकोर्ट के विख्यात वकील थे। हजारों रुपये प्रतिमास की आय थी। भविष्य में 'जज' बनने की भी आशा थी। परंतु इन सब प्रलोभनों को तिलाजलि देकर वे देश-सेवा में लग गये। तब से वे गांधी जी के विश्वस्त कार्यकर्ताओं मे से रहे। वस्तुतः भारतमाता की निष्काम सेवा के लिए इनका त्याग अपूर्व था।

प्रायः यह कहा जाता है कि गांधीवादी सेवकों मे राजेन्द्र प्रसाद जी का अन्यतम स्थान है। वे महात्मा जी की भावनाओं के निकटतम रहे हैं। गाधी जी की तरह प्रकृति से वे सदा सत्यवादी, सच्चरित्र, नम्र तथा शातिप्रिय थे। उन्होंने गांधी जी का राजनीतिक जीवन मे ही अनुकरण नही किया, अपितु सरलता, सत्यवादिता तथा अहिंसा आदि गुणों में भी। एक बार उन्होंने कहा था—

"सत्यवादिता का पाठ जो चपारन मे गाधी जी ने हमे पढ़ाया था वह मेरे जीवन का एक बड़ा श्रेय सिद्ध हुआ। इस गुण के कारण मेरे प्रतिपक्षियों का भी मुझमें विश्वास बढ़ा। इसने मुझे सार्वजनिक जीवन मे ही लाभ नही पहुंचाया अपितु वकालत मे भी हितकारी था। मुझे यह कहते हुए गर्व होता है कि अदालत के 'जज' भी मुझमें पूर्ण विश्वास करने लगे। असत्य और हल्की युक्तियां मुझे स्वय ठीक न लगती थी। मैं अपने 'मवक्किल' को उसके पक्ष की कमजोरी

समझाने में न हिचकता था।"

गाधी जी ने भी राजेन्द्र बाबू की अनन्य भक्ति श्रद्धा को देखते हुए उनके प्रति ये उद्‌गार प्रकट किये थे—"राजेन्द्र बाबू ने प्रेम से मुझे ऐसा अपंग बना दिया था कि मै उनके बिना एक कदम भी आगे नही रख सकता था।"

वस्तुतः चपारन घटना के पश्चात् राजेन्द्र प्रसाद की रुचि का मुख्य केंद्र गाधी जी का कार्यक्रम ही रहा। वे शरीर से नही तो मन से गाधी जी के पास सदा रहते थे। गुजरात मे जब खैरा-आदोलन आरभ हुआ तो वे गाधी जी के प्रधान सिपाही थे। फिर 1919 मे जब गाधी जी ने असहयोग आदोलन चलाया तो राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी वकालत को सदा के लिए ठुकरा दिया।

सत्याग्रह के कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए बिहार का नेतृत्व राजेन्द्र प्रसाद करते रहे। गांधी जी ने सत्याग्रह के कुछ कठोर नियम बनाए थे जिनके अनुसार प्रत्येक सत्याग्रही को एक प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करने होते थे कि पूर्णतः अहिंसा का पालन करते हुए सरकार के ऐसे कानूनों को न मानेंगे जिन्हे तोड़ने की आज्ञा एक मनोनीत कमेटी देगी। साथ ही इसके लिए जो दंड होगा उसे सहर्ष भोगने के लिए तत्पर होंगे। बिहार के लिए यह प्रतिज्ञा-पत्र सर्वप्रथम राजेन्द्र प्रसाद के पास आया था। उन्होंने इस पर तत्काल हस्ताक्षर कर दूसरे लोगो के भी हस्ताक्षर कराए।

असहयोग कार्यक्रम के अंतर्गत गाधी जी ने जो बातें देश के सामने रखी थी उनमे सरकारी-खिताबों का त्याग, कौंसिल बहिष्कार, सरकारी शिक्षालयों से सबध विच्छेद, अदालतों का बहिष्कार आदि प्रमुख थी। असहयोग के इस कार्यक्रम में हिंदू-मुस्लिम सगठन और अहिंसा पर सबसे अधिक बल था।

बाबू राजेन्द्र प्रसाद के नेतृत्व मे बिहार के असख्य कार्यकर्ता स्वतत्रता और असहयोग के सदेश को गांव-गाव पहुंचाने में जुट गए। राजेन्द्र बाबू ने सारे बिहार मे तूफानी दौरा किया। सार्वजनिक सभाएं कर आंदोलन का सफल संचालन किया। समस्त बिहार मे कुछ ही समय में एक अपूर्व जागृति की लहर दौड़ गई। गांधी जी के कार्यक्रमो का सफल क्रियान्वयन करने से बाबू जी बिहार के गाधी बन चुके थे।

सन् 1918 में राजेन्द्र प्रसाद ने बिहार के प्रसिद्ध अंग्रेजी दैनिक 'सर्च लाइट' की स्थापना की। उन्होंने एक हिंदी साप्ताहिक 'देश' का प्रकाशन किया। साथ ही बिहार विद्यापीठ की भी स्थापना की।

दिसम्बर 1922 में कांग्रेस के 37वे वार्षिक अधिवेशन का गया मे होना बिहार के इतिहास की एक प्रमुख घटना थी। इस कांग्रेस के बाद राजेन्द्र प्रसाद उसके सचिव बने। उनके कार्यकाल में कांग्रेस का कार्यालय पटना मे रहा। 26 जनवरी 1923 को पटना के गुलाब बाग मे एक सभा हुई, जिसमे अपने

प्रभावशाली भाषण में उन्होंने देश की वर्तमान राजनैतिक परिस्थितियां समझाते हुए लोगों से कहा कि वे स्वतंत्रता संग्राम में सब तरह का बलिदान करते हुए अधिकाधिक शक्ति और संकल्प के साथ जुटे रहें।

30 जनवरी 1923 को कांग्रेस कार्यसमिति ने बंबई की बैठक में यह प्रस्ताव पारित किया—"निश्चय हुआ कि 18 मार्च 1923, जो महात्मा गांधी की जेल-यात्रा की वर्षगांठ का दिन है, सारे देश मे त्याग और प्रार्थना-दिवस के रूप मे समुचित रूप से मनाया जाए। कार्यसमिति देश की जनता का आह्वान करती है कि इस दिन सारे देश में शांतिपूर्ण हड़ताल रखी जाए। साथ ही यह भी निश्चय हुआ कि जहां वह दिन नए वर्ष का दिन पड़े, कम से कम 12 बजे दिन के बाद रोजगार-धंधा बंद रखा जाए, देश का यह दृढ़ निश्चय प्रकट करने के लिए कि जब तक उसकी मांगें पूरी न हो जाएंगी, अहिंसक संघर्ष जारी रहेगा, सब जगह सभाएं की जाएं और सप्ताह भर महात्मा गांधी की गिरफ्तारी के दसवें दिन से 18वें दिन तक जिस दिन उन्हें सजा सुनाई गई—तिलक स्वराज्य-फंड के लिए धन एकत्रित करने, स्वयंसेवकों की भरती करने और खद्दर के प्रचार करने का एकाग्र प्रयत्न करना चाहिए।"

कांग्रेस का मुख्य सचिव होने के कारण राजेन्द्र प्रसाद ने यह प्रस्ताव प्रांतीय कांग्रेस समितियों को प्रेषित कर दिया। गया कांग्रेस के निर्णय के अनुसार उत्साहपूर्ण काम करते हुए बिहार के कांग्रेस कार्यकर्ता मई 1923 तक, 4000 स्वयंसेवकों की भरती करने और तिलक स्वराज्य फंड के लिए 41,000 रुपये एकत्रित करने में सफल हो सके।

इसी समय राजेन्द्र प्रसाद ने नागपुर के वीरतापूर्ण सत्याग्रह में भाग लिया, जो भारतीय राष्ट्रीय ध्वज के सम्मान के रक्षार्थ, तत्कालीन मध्य प्रांत कांग्रेस समिति के अध्यक्ष पंडित सुन्दरलाल के नेतृत्व मे चलाया गया था। सत्याग्रह का आरंभ जबलपुर मे हुआ था, जहा सरकार ने नगरपालिका भवन पर राष्ट्रीय ध्वज फहराने में आपत्ति की थी। शीघ्र ही यह आंदोलन नागपुर में फैल गया, जबकि 1 मई, 1923 को सरकार ने वहां सिविल लाइंस में राष्ट्रीय झंडे के साथ जुलूस निकालने पर प्रतिबंध लगा दिया था। सेठ जमनालाल बजाज ने उसका नेतृत्व किया और उनकी गिरफ्तारी के बाद, 10 जुलाई से, सरदार वल्लभभाई पटेल उसके मार्ग-दर्शन के लिए आगे आये। नागपुर सत्याग्रह ने अल्प समय में देश के अन्य भागों के राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं का ध्यान आकर्षित किया और उनमें से अनेक राष्ट्रीय ध्वज की सम्मान रक्षा हेतु नागपुर पहुंचे। नागपुर मे चलाए जा रहे इस राष्ट्रीय आंदोलन के लिए बिहार ने न केवल चंदा ही दिया, अपितु राजेन्द्र प्रसाद के नेतृत्व में सैकड़ों व्यक्ति स्वयंसेवक बनकर वहां गए। उनमें से अनेक व्यक्ति जेल गए।

18 जुलाई, 1923 को बिहार में झंडा दिवस मनाया गया। 19 जुलाई को गया की एक सभा में राजेन्द्र प्रसाद ने नागपुर झंडा सत्याग्रह का उल्लेख किया। 'सर्चलाइट' ने उनके भाषण का एक अंश इस प्रकार दिया हुआ है—

"सारे देश के लोगों ने समुचित रूप से झंडा-दिवस मनाया है और नागपुर ने देश की सम्मान-रक्षा के लिए जो संघर्ष किया था, उसके प्रति अपनी पूरी सहानुभूति प्रकट की है। उन्होंने कहा कि तिरंगा झंडा सिर्फ कपड़े का एक रंगीन टुकड़ा नहीं है, बल्कि एक महान् वस्तु है, क्योंकि उसमें छिपा विचार अत्यंत उत्कृष्ट है। यह एक राष्ट्र की प्रतिष्ठा और आत्म-सम्मान का प्रतीक है। कोई भी जीवित और आत्म-सम्मानी देश अपने राष्ट्र-ध्वज का तनिक भी अपमान सहन नहीं कर सकता। प्रत्येक राष्ट्र अपने राष्ट्रध्वज के लिए जिया-मरा है। लड़ाइयों में जीतने वाली सेना विजित इलाके में पहुंचकर जो सबसे पहला काम करती थी, वह होता था उस स्थान पर अपना झंडा फहराना। इसका मतलब क्या था? यूरोपीय देशों में राष्ट्रध्वज का प्यार लोगों के लिए बूढे और जवानों के लिए एक आवेश-सा था। वे जानते थे कि अंग्रेज अपने यूनियन जैक को किस तरह प्यार करते हैं। हिमालय पर चढते हुए वे संसार के सबसे ऊंचे पहाड़ की सबसे ऊंची चोटी पर अपना झंडा फहराने के प्रत्येक अवसर का उपयोग करते थे। अंग्रेजों ने सुदूर दक्षिणी और उत्तरी ध्रुव तक जाकर, जहां बहुत थोड़े ही लोग जा सके थे, अपना झंडा फहराया है। उन्होंने यह सब क्यों किया? इसलिए कि उनका विचार था कि सब स्थानों पर अपने राष्ट्रध्वज को ऊंचा फहराकर वे अपने देश की गौरव-वृद्धि कर रहे हैं। इसी तरह भारतीयों का भी अपना राष्ट्रध्वज होना चाहिए और उन्हें उसी लगन से उसकी सम्मान-रक्षा करनी चाहिए।"

5 फरवरी, 1924 को गांधी जी पूना के अस्पताल से बाहर आए। उसी दिन उस महान् नेता के छुटकारे का उत्सव मनाने के लिए पटना में एक सभा हुई। 8 फरवरी को 'सर्चलाइट' ने लिखा—"जिसकी कैद मानवता के विरुद्ध घोर अपराध था।"

कुछ अवांछनीय तत्वों के सिर उठाने के कारण गांधी जी ने धीरे-धीरे सक्रिय राजनीति से पृथक् हो जाने और रचनात्मक कार्यों, विशेषत: चरखे और करघे पर ध्यान केन्द्रित करने का निश्चय किया। लेकिन वे ऐसा कुछ नहीं करना चाहते थे, जो स्वराज्य-पार्टी के विरुद्ध पडे। उन्होंने उन लोगों से कहा कि इस अवसर पर वे कौंसिलों को न छोडें। इसलिए अगले चुनाव में कांग्रेस ने प्रमुख भाग लिया और इस बार उसे पहले से अधिक सफलता मिली। लेकिन हमारी राष्ट्रीय एकता को सांप्रदायिकता का कोढ़ पीड़ित करने लगा था। देश के विभिन्न भागों में सांप्रदायिक उपद्रव होने लगे थे। बिहार में सन् 1924 के सितंबर-अक्तूबर के बीच सांप्रदायिक उपद्रव हुए, जिनमें भागलपुर का दंगा

बडा गंभीर था। स्थिति को शांत करने के लिए अपने कुछ मित्रों के साथ राजेन्द्र प्रसाद वहां गए।

इन दिनों बंगाल की सरकार ने स्वराज्यवादियों के प्रति बड़े निर्मम दमन की नीति अपना रखी थी। इस आशंका से निवटने के लिए कि आतंकवाद पुनः सिर उठा रहा है, उसने 24 अक्तूबर, 1924 को एक अध्यादेश निकाल दिया। सुभाषचन्द्र बोस तथा कई अन्य राष्ट्रीय नेता गिरफ्तार कर लिए गए। इस स्वेच्छाचार से देश के विभिन्न भागों में बड़ा रोष फैला और अनेक स्थानों में इसके विरोध में सभाएं हुईं। 31 अक्तूबर, 1924 को पटना के अंजुमन इस्लामिया हाल में एक सभा हुई। सभापति थे खान बहादुर सरफ़राज हुसेन खां। इसमें विभिन्न राजनीतिक विचारों के लोग सम्मिलित हुए थे। इस सभा में एक विस्तृत भाषण देते हुए राजेन्द्र प्रसाद ने बंगाल सरकार की निंदा की और जन-साधारण की स्वतंत्रता को नियंत्रित करने के लिए पुलिस और शासन को अधिक अधिकार देने के अभिप्राय से जारी किए गए विशेष अध्यादेश को धिक्कारते हुए एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया। साथ ही उन्होंने देशबन्धु चित्तरंजन दास को विश्वास दिलाया कि बंगाल के संकट और दुःख की घड़ियों में सभी लोग उनका साथ देने को तैयार हैं।

गांधी जी और उनके दृढ अनुयायी, जिनमें राजेन्द्र प्रसाद भी शामिल थे, लगभग सन् 1924 के आरंभ से ही रचनात्मक कार्यक्रमों को, विशेषतः खादी और राष्ट्रीय शिक्षा को आगे बढ़ाने में लगे हुए थे। स्वदेशी के लिए राजेन्द्र प्रसाद की मूल्यवान सेवाओं का ध्यान रखते हुए, बेलगांव कांग्रेस में 23 दिसंबर 1924 को अखिल भारतीय स्वदेशी प्रदर्शनी के उद्घाटन का सम्मान उन्हें ही दिया गया। इस अवसर पर उन्होंने हिंदी में एक बडा रोचक भाषण दिया जिसके कुछ महत्त्वपूर्ण अंश उद्धृत हैं—

"यह जानी हुई बात है कि जब कभी कोई देश या राष्ट्र बुरे दिन देखता है, उसका ह्रास किसी एक विभाग तक सीमित नहीं रहता, बल्कि उसके सारे अस्तित्व पर छा जाता है और उसका पतन उसकी संस्कृति के प्रत्येक पहलू से दीख पड़ता है। और अगर यह क्रम कुछ समय तक कायम रह जाता है तो उसकी संस्कृति से संबद्ध बहुत सारी बातें भुला दी जाती हैं और वह उन देशों और राष्ट्रों की नकल और स्वांग पर जीवित रहने लगता है, जो इतने ताकतवर होते हैं कि उस पर अपनी संस्कृति और सभ्यता थोप सकें। भारत के आधुनिक इतिहास से यह स्पष्ट होता है कि किस तरह उसे अंग्रेजों ने जीता और यह जीत किस तरह अधिक से अधिक संपूर्ण होती जा रही है। इस धारा का प्रवाह अब रुक गया है और हम अपने प्राचीन गौरव को फिर से प्राप्त करने के साधन ढूंढने की कोशिश कर रहे हैं। इस राष्ट्रीय नवजागरण का प्रमाण इस तरह की प्रदर्शनी

से मिलता है, जिसका मैं आज उद्घाटन करने की आशा करता हूं। इसमे आप प्राचीन भूमि की कलाओं के नमूने देखेंगे।

"लेकिन कहा जाता है कि बुनाई मुनाफे का काम नही है और सूत कातने वालों की मजदूरी इतनी कम है कि कोई भी मर्द या औरत इसे अपने लायक नही समझता। अगर मजदूरी बढा दी जाए तो कपड़ा इतना महँगा हो जाएगा कि कोई भी उसे खरीदने को तैयार न होगा। इस बात पर हमें दो दृष्टियो से विचार करना होगा। पहली बात यह कि क्या इस देश में इतने सूत कातने वाले है, जो तमाम जरूरत के लिए सूत मुहय्या कर सकें? दूसरी बात यह कि क्या उनकी मजदूरी इतनी है कि कपडे का दाम बढाए बिना वे कताई को अपना सके?...ख्याल रखने की बात यह है कि देशी या विदेशी, सब तरह के मिल के कपडों के पूरे बहिष्कार के लिए हमे 27 लाख चरखो की जरूरत है। अगर हम फिलहाल भारतीय मिलो के कपड़ो को छोड दें तो यह काम और भी आसान हो जाएगा।"

कातने वालो की मजदूरी पर्याप्त है या नही, इस प्रश्न के बारे मे राजेन्द्र प्रसाद ने बिहार प्रांत के अपने व्यक्तिगत अनुभव से बताया कि वहां बहुत-सी औरतें है, जिन्होंने कताई का काम कभी नही छोडा और जो उसी से अपना जीवन निर्वाह करती है। बहुत से ऐसे परिवार भी है जो घर की औरतों की कताई की आमदनी से ही नमक, अनाज, सब्जी, तेल और कपड़े आदि खरीदते है। उन्होने यह भी कहा कि अगर कोई व्यक्ति कताई से चार रुपए महीने कमा लेता है तो "इस बात का ध्यान रखते हुए कि हमारे यहा के लोगो की औसत आमदनी सवा दो रुपये महीने से ज्यादा नही है।" इस आमदनी को कम नही कहा जा सकता। उन्होंने इस बात पर विशेष बल दिया कि अगर लोग चरखा और खद्दर के काम का उचित संगठन और प्रचार करने मे अपनी शक्ति लगायें तो बिहार मे, और पूरे देश में भी, विदेशी कपड़ो का पूरा बहिष्कार करना असभव नही होगा।

खादी प्रचार का राजेन्द्र प्रसाद का कार्य केवल बिहार तक ही सीमित नही था। जब भी वे कभी दूसरी जगह जाते, इसके प्रचार का प्रयत्न करते। यह जानकर कि गांधी जी उच्च रक्तचाप से पीड़ित होकर, विश्राम करने के लिए, मैसूर राज्य के नंदी पर्वत पर गए हुए है, राजेन्द्र प्रसाद वहा गए और कुछ समय तक गांधी जी के साथ ठहरे। फिर वे गाधी जी के साथ बंगलौर गए, जहा एक खादी प्रदर्शनी का आयोजन हुआ। उसमे तमिलनाडू और आंध्र प्रदेश की शाखाओ ने भाग लिया। वे तिरुप्पुर गए, जहां तमिलनाडु चर्खा सघ का प्रधान गोदाम था। फिर वे सेलम जिले के तिरुचेंगोड नामक स्थान पर गए, जहा राजगोपालाचारी ने एक आश्रम स्थापित कर रखा था और जहा खादी का अच्छा काम हो रहा

था। इन स्थानों में खादी के उत्पादन और उसकी व्यवस्था के तौर-तरीकों को राजेन्द्र प्रसाद ने देखा-समझा और उन्हें बिहार में लागू करने की कोशिश की। आंध्र चरखा संघ के मंत्री सीताराम शास्त्री के निमंत्रण पर उन्होंने आंध्र के कई खादी केन्द्रो की यात्रा की और वहां खादी की उपयोगिता और उसके आर्थिक पक्ष के बारे मे व्याख्यान दिये। इन व्याख्यानों का महत्त्व समझकर आंध्र के कांग्रेस जनों ने पुस्तक रूप मे उनका संग्रह प्रकाशित करवाने का अनुरोध किया। ये व्याख्यान अंग्रेजी में 'इकोनामिक्स आफ खादी' के नाम से प्रकाशित हुए। बाद में उनका हिंदी अनुवाद भी हुआ।

विधान सभाओं के चुनाव के बारे में राजेन्द्र प्रसाद ने अपना अपरिवर्तनवादी मत बनाए रखा। फिर भी चुनाव लड़ने के कांग्रेस के फैसले का ध्यान रखते हुए उन्होंने इस कार्य में पूर्णतः सहयोग दिया। बिहार में 1926 में जो चुनाव हुआ, उसके परिणामस्वरूप केन्द्रीय धारा सभा और प्रांतीय परिषद् में कांग्रेसी उम्मीदवार अच्छी संख्या में विजयी हुए। स्टेट कौंसिल के लिए कांग्रेस ने जो चार उम्मीदवार खड़े किए थे, उनमें से तीन विजयी हुए।

राजेन्द्र प्रसाद को कौंसिल-प्रवेश के बारे मे यह विश्वास नही था कि उससे वांछित परिणाम निकलेंगे। लेकिन यह सोचकर कि उनके व्यक्तिगत विचारों को दल की भावनाओं के सम्मुख दब जाना चाहिए, उन्होंने अपनी शक्ति और समय कांग्रेस चुनावों में काम करने में लगाया। इसके लिए उन्हें लंबी-लंबी यात्राएं करनी पड़ी जिसका उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ा। उन्हें अफ़सोस हुआ कि हिंदुओ मे अनेक जातीय गुट है जो एक-दूसरे के प्रति ईर्ष्या रखते हैं और एक-दूसरे को परेशान करते रहते हैं। 'देश' में एक लेख लिखकर उन्होंने इस संबंध में अपने विचार प्रकट किए थे।

राजेन्द्र प्रसाद अपने हिंदी-प्रेम के लिए प्रारंभ से ही प्रसिद्ध थे। अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन ने सन् 1924 में अपने कोकोनाड अधिवेशन मे उन्हें सभापति बनाया। बाद मे भी वह 1926 में बिहार प्रांतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन दरभंगा के तथा 1927 मे संयुक्त प्रांत हिंदी साहित्य सम्मेलन के कांगड़ी अधिवेशन के सभापति बने।

1927 में राजेन्द्र बाबू ने श्रीलंका की यात्रा की और 1928 में इंग्लैंड तथा यूरोप के अन्य देशों का भ्रमण कर युद्ध के विरुद्ध शांति-प्रचार किया।

सन् 1928 के आरंभ मे राजेन्द्र प्रसाद विदेश यात्रा के लिए गए। यह यात्रा उन्होंने डुमरांव महाराज की उस अपील के बारे में की थी, जो हरिप्रसाद सिन्हा के बर्मा वाले मुकद्दमे के खिलाफ दाखिल की गई थी, और राजेन्द्र प्रसाद ने भारतीय ढंग से सिली कश्मीरी ऊनी पोशाक का इस्तेमाल किया, क्योकि वे पश्चिमी ढंग की पोशाक नही पहनना चाहते थे। वे जितने दिन भी इंग्लैंड मे रहे,

अपने रहन-सहन के तरीके मे उन्होंने अन्तर नही आने दिया। लदन मे उन्होंने हरिप्रसाद सिन्हा के प्रधान बैरिस्टर अपजॉन के साथ काम किया। पचहत्तर से अधिक की आयु होने पर भी वे बहुत अधिक परिश्रम करते थे। राजेन्द्र प्रसाद उनकी सच्चाई और कार्य-कुशलता से बहुत प्रभावित हुए। अंत मे मुकदमे के दोनों पक्षों ने सुलह कर ली।

इसके दो दिन बाद राजेन्द्र प्रसाद ने लदन छोड दिया और विएना के निकटस्थ संतासवर्ग के लिए चल दिए। प्रसिद्ध मजदूर नेता केनर ब्राकवे की अध्यक्षता मे वहां युद्ध-विरोधी सम्मेलन हो रहा था। राजेन्द्र प्रसाद उस सम्मेलन मे सम्मिलित होना चाहते थे। जर्मनी, आस्ट्रिया, फ्रास, इग्लैंड, हालैंड, चेकोस्लोवाकिया, फिलिस्तीन तथा कुछ अन्य देशों के प्रतिनिधियो ने भी सम्मेलन मे भाग लिया था। राजेन्द्र प्रसाद को गाधी जी का अनुयायी जानकर उन लोगों ने उनमे अधिक अभिरुचि दिखलाई। उनके अनुरोध पर राजेन्द्र प्रसाद ने सम्मेलन मे भाषण दिया। उन्होंने अपने भाषण को चंपारन सत्याग्रह तक ही सीमित रखा और उसमे बतलाया कि वहां गांधी जी के अहिंसा के साधन का किस प्रकार प्रयोग किया गया। सम्मेलन तीन दिनों तक चला। उसमें युद्ध-विरोधी एक प्रस्ताव पास हुआ, जिसका प्रचार प्रतिनिधियो को करना था।

सतासवर्ग से राजेन्द्र प्रसाद प्राट्ज गए। वहां उन्हे स्टांडिनेथ नाम के एक डाक्टर और उनकी पत्नी को गांधी जी का एक पत्र देना था। वे उनके साथ एक सभा मे सम्मिलित होने के लिए जा रहे थे। युद्ध-विरोधी प्रचार का विरोध करने वालों ने सभा को रोकने के लिए हिंसा का सहारा लिया। राजेन्द्र प्रसाद तथा उनके मेजबान घायल हो गए और खून से लथपथ घर लौटे। लेकिन उचित उपचार और देखभाल से राजेन्द्र प्रसाद शीघ्र ही अच्छे हो गए। डॉ० स्टांडिनेथ ने इस दुःखद घटना की सूचना गांधी जी को दी। उन्होंने इसका पूरा विवरण 'यग इंडिया' मे प्रकाशित किया।

वियना, स्विट्जरलैंड, ऐम्सटर्डम, बर्लिन, म्यूनिख, वेनिस, रोम आदि होकर वे सितंबर 1928 के दूसरे सप्ताह में बंबई पहुंचे। 20 सितंबर 1928 को पटना के यंग मेन्स इंस्टीट्यूट मे एक सभा हुई। वहां उपस्थित उत्साही श्रोताओं में अधिकांश छात्र थे। सभा मे राजेन्द्र प्रसाद ने विदेश-यात्रा के अपने अनुभव बताए। उन्होंने बताया कि इंग्लैंड मे भारतीय विद्यार्थियों का अध्ययन, विशेषत: कानून का अध्ययन, अधिक खर्चीला है और सब तरह से लाभदायक भी नही है। अत: उन्होंने वियना तथा जर्मनी को क्रमश: चिकित्सा विज्ञान और लैटिन, ग्रीक आदि के उच्चतर अध्ययन के लिए उपयुक्त स्थान बताया। उन्होंने अपने देश के तरुणों को परामर्श दिया कि वे पश्चिमी शैक्षणिक संस्थाओं के अनुशासन को आत्मसात करें। उन्होंने यूरोप में हुए विश्व तरुण सम्मेलन और युद्ध-विरोधी सम्मेलन के

अपने अनुभव भी सुनाए, और श्रोताओ से कहा कि उन देशों के बहुत से लोग भारत की स्वतंत्रता-प्राप्ति की प्रतीक्षा कर रहे हैं और उनसे शांति का संदेश पाना चाहते हैं।

8 नवंबर 1927 को ब्रिटिश सरकार ने संवैधानिक सुधारों के लिए एक वैधानिक कमीशन की नियुक्ति की घोषणा की। इसके अध्यक्ष सर जान साइमन थे। इसमे किसी भारतीय सदस्य के न लिए जाने से भारत की राष्ट्रीय भावनाओं को बड़ा धक्का लगा। भारत मे विभिन्न मत रखने वाली संस्थाओं के द्वारा इसकी 'सामूहिक निंदा' हुई, क्योकि "यह उस आत्म-निर्णय के प्राथमिक अधिकार की अस्वीकृति थी, जो प्रत्येक राष्ट्र के लिए स्वाभाविक होता है।"

राजेन्द्र प्रसाद तथा कुछ अन्य नेताओं की देख-रेख में, साइमन कमीशन के बहिष्कार के देशभर के संकल्प का बिहार ने भी बड़े उत्साह से साथ दिया। उस समय बिहार में सरकार के एक अविवेकपूर्ण कार्य के कारण पहले ही व्यापक उत्तेजना फैली हुई थी। सरकार ने गया के डिस्ट्रिक्ट बोर्ड पर कब्जा कर लिया था और उसके अध्यक्ष अनुग्रह नारायणसिंह को, जो एक महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय नेता थे, अध्यक्ष पद से हटा दिया था। सरकार की इस मनमानी का विरोध करने के लिए गया में एक सार्वजनिक सभा हुई जिसमे राजेन्द्र प्रसाद ने इसकी कठोर निंदा करते हुए भाषण दिया। उन्होंने बताया कि अनुग्रह नारायण सिंह पर सरकार ने जो आरोप लगाए हैं, कांग्रेस के द्वारा उसकी पूरी-पूरी जांच कर ली गई है और सभी आरोप निर्मूल सिद्ध हुए हैं।

9 दिसंबर 1928 को पटना में बिहार प्रांतीय राजनैतिक सम्मेलन की एक बैठक हुई। यहां भी गया डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के बारे में सरकारी नीति की कड़ी आलोचना हुई। इस सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए विभिन्न जिलों से जो लोग आए थे, उनमे से अधिकांश ने उस प्रदर्शन में भाग लिया जो साइमन कमीशन के विरोध में किया गया था। 12 दिसंबर 1928 को कमीशन के सदस्यों को लेकर एक विशेष रेलगाड़ी पटना जंक्शन रेलवे स्टेशन के पास वाले हार्डिंग पार्क के सामने के प्लेटफार्म पर पहुंची। अनचाहे कमीशन के विरोध के उत्साह में; दिसंबर की कंपकंपी भरने वाली सर्दी मे सवेरे-सवेरे 30,000 आदमी वहां एकत्रित हो गए। उनके हाथों में काले झंडे थे और वे "साइमन, लौट जाओ" के नारे लगा रहे थे। राजेन्द्र प्रसाद ने छात्रो तथा अन्य लोगों को परामर्श दिया कि "वे लोग संघर्ष से बचें और अगर दूसरा पक्ष आक्र[illegible], तो शांत बने रहें।"

कलकत्ता के कांग्रेस अधिवेशन में रचनात्मक कार्यों को आगे बढ़ाने पर जोर दिया गया। सन् 1929 में एक 'विदेशी वस्त्र बहिष्कार समिति' गठित हुई और कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने निश्चय किया कि "रविवार 17 मार्च को, और उसके बाद हर महीने के पहले रविवार को विदेशी वस्त्रों के वहिष्कार के प्रचार पर अधिक ध्यान देना चाहिए और खादी की फेरी लगानी चाहिए।" उन दिनों राजेन्द्र प्रसाद विहार प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के मंत्रियो मे से एक थे। उन्होंने विदेशी वस्त्रों के वहिष्कार-कार्य को अनेक प्रकार से सुविधाजनक बनाने का उपाय किया। उन्होंने एक योजना तैयार ी जिसके अनुसार प्रत्येक जिले मे कार्यकर्ताओं को एक-एक इलाका चुनकर प्रत्येक घर में जाना था। सारन, चंपारन, दरभंगा और भागलपुर, इन चार जिलों के कार्यकर्ताओं को उन्होंने स्वय यह योजना समझाई।

रचनात्मक कार्यो के संबंध मे राजेन्द्र प्रसाद ने 12 अप्रैल, 1929 को, मुगेर जिले के वरही नामक स्थान मे एक सभा में भाषण दिया। उन्होने शराब और विदेशी वस्त्रो के बहिष्कार के काम के लिए स्वयसेवकों की भरती के लिए भी अपील की। उसी दिन उन्होंने मुगेर जिले के ही बड़हिया नामक स्थान में, जगदंबा पुस्तकालय में आयोजित एक सभा की अध्यक्षता की। 13 मई, 1929 को उन्होंने सारन जिले के गोपाल गज की एक सभा में भाषण दिया, जहा उन्होने लोगों को 'बारदोली से सबक लेने' की, यानी बारदोली के सफल किसान सत्याग्रह से सबक लेने की सलाह दी।

सन् 1930 के नमक-सत्याग्रह मे राजेन्द्र बाबू ने बिहार में पं० जवाहरलाल नेहरू जी का एक व्यापक दौरा करवाया। इसके अनंतर स्वयं भी नमक-सत्याग्रह के लिए सारे बिहार में अनेकश: प्रयत्न कर आदोलन को सफल बनाया। मद्य-निषेध और विदेशी वस्त्र-बहिष्कार के कार्यक्रम भी इस सत्याग्रह के अंग थे। इनके क्रियान्वयन में राजेन्द्र बाबू ने देश के अन्य भागो की भांति अपने प्रदेश में भी अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। इस सत्याग्रह मे राजेन्द्र बाबू सर्वप्रथम गिरफ्तार किए गए। बीहरपुर के सत्याग्रह में तो राजेन्द्र बाबू बुरी तरह पीटे गए जिससे वे घायल भी हो गए।

14 अप्रैल, 1931 को उन्होने चंपारन जिले का दौरा किया, जहा वे बगहा, पिपरिया, बेतिया, सुगौली, ढाका और मोतिहारी गये। इनमें से प्रत्येक जगह उन्होंने सार्वजनिक सभाओं मे भाषण किया जिससे वहां के लोगो का उत्साह बढ़ा, जो सरकार की बढती हुई दमन-नीति के शिकार हुए थे। दूसरे दिन उन्होंने उन गांवों का दौरा किया, जहां पुलिस और सेना ने अंधाधुंध लूट-खसोट की थी। टूटे ताले, संदूक और दरवाजे तथा खुदी हुई जमीन अब तक इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण दे रहे थे कि चंपारन के लोगों को कैसे भयानक दिनों से गुजरना पड़ा है।

लौटते हुए उन्होंने मुजफ्फरपुर में तिलक मैदान की एक सभा में भाषण दिया।

15 अप्रैल, 1931 को भंवरपोखर पार्क में पटना के नागरिकों की एक विशाल सभा हुई जिसमे राजेन्द्र प्रसाद ने कहा—"पटना के हिंदू और मुसलमानों को आज से प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिए कि वे न तो एक-दूसरे से लड़ाई-झगडा करेंगे न एक दूसरे का सिर तोड़ेंगे। विचारों में भेद तो होगा ही, लेकिन यह कोई वजह नही है कि एक-दूसरे का सिर तोड़ा जाए। बाल्डविन कंजर्वेटिव पार्टी के नेता थे, लेकिन उन्होंने अपने लड़के पर प्रहार करने की बात कभी नहीं सोची, जो लेबर पार्टी मे था। लार्ड कर्जन राजनैतिक मतभेदों के कारण अपनी बेटी की हत्या नही करेंगे, लेकिन भारत में वे लोग बिना किसी मतभेद के ही अज्ञान और मूर्खता के कारण एक-दूसरे का कत्ल कर रहे है।" उन्होंने लोगों से अपील की कि वे बड़ी से बड़ी उत्तेजना में भी आवेश मे न आएं।

राजेन्द्र प्रसाद ने *25 और 26 अप्रैल 1931* को मानभूम जिला सम्मेलन की अध्यक्षता की, जो पुरुलिया के निकट इतमुरा नाम के गांव में हुआ था। वहां उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन के विविध पक्षों का उल्लेख करते हुए अत्यंत प्रेरणाप्रद भाषण दिया और समझौते की शर्तों के पालन का भी अनुरोध किया। आद्रा के एक स्वागत-समारोह में उन्हें एक अभिनंदन-पत्र दिया गया। अगले दिन, 29 अप्रैल को राजेन्द्र प्रसाद पुरुलिया ले जाए गए, जहां उन्हें तीन अभिनंदन-पत्र दिए गए—पहले दो स्थानीय साहित्य-सभा और हिंदी पुस्तकालय की ओर से और तीसरा पुरुलिया म्युनिसिपैलिटी की ओर से।

तीसरे अभिनंदन-पत्र के उत्तर में उन्होंने स्वतंत्रता के आंदोलन में पुरुलिया के लोगों के वीरतापूर्ण सहयोग और बलिदानों की चर्चा की। उन्होंने वहां के लोगों से अडिग दृढ़ता के साथ यह उत्साह बनाए रखने तथा समझौते की शर्तों का पालन करने को कहा।

फिर राजेन्द्र प्रसाद गया जिले के जहानाबाद सबडिवीजन में हुए राजनैतिक सम्मेलन मे उपस्थित हुए। वहां उन्होंने अपने भाषण मे लोगों से कहा कि वे दिल्ली-समझौते की शर्तों का पालन करें और स्वशासित संस्थाओं के द्वारा पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति के लिए गांधी जी के आदेशों का पालन करें। भारत के अहिंसक सत्याग्रह की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि यह सारे संसार के लिए एक आदर्श संग्राम है।

अन्य देशों के लोग आश्चर्यपूर्वक भारतीयों की ओर देख रहे हैं कि ये निहत्थे लोग कैसे इतनी बड़ी शक्ति से लोहा ले रहे हैं और अगर इन्हें सफलता मिली तो सत्याग्रह का शस्त्र सारे विश्व के लिए उपयोगी हो जाएगा।

अगस्त और सितंबर के महीनों में राजेन्द्र प्रसाद ने शाहाबाद जिले का दौरा किया। इस दौरे के बाद "कांग्रेस कार्यकर्ताओं के द्वारा विदेशी कपड़ों की दुकानों

पर धरना देने के काम में" तथा पंचायतों के निर्माण मे और गति आई। उन्होंने 30 अगस्त को आरा में एक खादी प्रदर्शनी का उद्‌घाटन किया और अगले दिन एक सभा में भाषण किया। 26 सितंबर, 1931 को वे श्रीकृष्ण सिन्हा और बलदेव सहाय के साथ फिर आरा गए और वहा की एक सभा में उन्होंने राष्ट्रीय ध्वज फहराया। वे अब्दुलबारी के साथ नवबर 1931 मे भागलपुर जिले में गए और वहां अनेक सभाओं में उनके भाषण हुए। उनमें वह सभा भी शामिल थी, जो 28 नवंबर को भागलपुर के लाजपत पार्क में हुई थी। सत्याग्रह के दौरान गुजरात के गांवों में जमीन की जब्ती और नीलामी हुई थी, उसकी जांच के अवसर पर उन्होंने दो सप्ताह वल्लभभाई पटेल के साथ भी बिताए।

सदाकत आश्रम में कांग्रेस की बैठक में सम्मिलित होने पर उन्हें गिरफ्तार कर बांकीपुर जेल ले जाया गया। जेल में ही मुकदमा चलाया गया और छः महीने की सजा दी गयी। जेल में वे चर्खा चलाते तथा रामायण, कुरानशरीफ, बौद्धधर्म की पुस्तकें तथा बाइबिल आदि धर्मग्रंथ पढ़ते रहे।

जेल से छूटे छः महीने ही गुजरे थे कि पुन. जेलयात्रा करनी पड़ी। इस समय तक वे कांग्रेस के सभापति समझे जाने लगे थे। इस बार उन्हें 15 महीने की सजा हुई। राजेन्द्र बाबू दमे के रोगी थे और जीवन-पर्यंत इस व्याधि से ग्रसित रहे। इस बार के उनके जेल-जीवन में उनके इस रोग ने भयंकर रूप धारण कर लिया। उनका शरीर इतना कृशकाय हो गया था कि अनेक बार तो शरीरांत तक की आशंका हो गयी थी। अस्पताल मे उपचार की व्यवस्था हुई। धीरे-धीरे स्वास्थ्य लाभ होने लगा। जेल अवधि से पूर्व ही भयंकर भूकम्प आया जिससे न केवल पटना अपितु बिहार के एक विस्तृत क्षेत्र मे विप्लव की स्थिति उत्पन्न हो गयी। सरकार ने ऐसी परिस्थिति में उन्हे जेल-मुक्त कर दिया और उन पर लगी सारी पाबंदियां भी हटा ली। जेल से मुक्त होकर आपने महात्मा गांधी, नेहरू, आचार्य कृपलानी आदि नेताओं के साथ भूकम्प-क्षेत्र का निरीक्षण किया। उन्होंने बिहार प्रांतीय भूकम्प सहायता समिति की योजना बनाकर भारत भर में सहायता के लिए प्रार्थना निकाली। देश के कोने-कोने से सहायतार्थ धन आने लगा। अनेक व्यक्तियों ने अवैतनिक सेवाएं की। उन्होंने जिस सुचारु रूप से पीड़ितो की सहायता की वह उनके सार्वजनिक जीवन की एक अद्‌भुत कहानी है।

1934 मे कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन बंबई मे होने वाला था। राजेन्द्र बाबू इसके अध्यक्ष चुने गये थे। इसी बीच आपके भाई महेन्द्र प्रसाद की मृत्यु हो गयी, जिससे आप बहुत परेशान हो गये। उनके ऊपर सीधे पारिवारिक उत्तरदायित्व आ पड़ा था। इस उत्तरदायित्व में सर्वाधिक चिंतनीय स्थिति राजेन्द्र बाबू का ऋणग्रस्त होना था। पारिवारिक परेशानियों के कारण कांग्रेस अध्यक्षता का भार उठाने मे वह हिचक रहे थे। गांधी जी ने उन्हें एक

पत्र लिखवा भेजा कि बिहार के भूकंप के समय उन्होंने जो सेवाएं की है उनका सारे देश पर गहरा प्रभाव पड़ा है और उनकी इस सेवा के काम से संतुष्ट होकर कांग्रेस और देश की जनता उन्हें सभापति बनाकर अपना आदर, विश्वास और सम्मान व्यक्त करना चाहती है। अतः उन्हें यह भार उठाना ही चाहिए। गांधीजी की आज्ञानुसार राजेन्द्र बाबू ने कांग्रेस अध्यक्ष होना स्वीकार कर लिया।

राजेन्द्र बाबू का पारिवारिक जीवन बड़ा ही मर्यादित रहा है। स्त्री, पुरुष, बच्चे, वृद्ध सभी पारिवारिक जीवन के उच्चादर्शों से बंधे रहे हैं। अच्छे, बुरे सभी दिन राजेन्द्र बाबू के परिवार को देखने पड़े, पर पारिवारिक मर्यादाओं का उल्लघन किसी सदस्य ने नही किया। इसी परंपरा के कारण ही वे ऋण-भार से मुक्त हो सके।

अन्ततः अक्तूबर 1934 मे कांग्रेस का बंबई अधिवेशन हुआ। सभापति के रूप मे राजेन्द्र बाबू का बबई की जनता ने हार्दिक स्वागत किया। अधिवेशन बहुत सफल रहा। राजेन्द्र बाबू के सभापतित्व काल में ही कांग्रेस की स्वर्ण जयंती मनाई गई। यद्यपि जयंती देश भर में मनाई गई पर मुख्य आयोजन बबई मे हुआ। इसी वर्ष ब्रिटिश बादशाह जार्ज पंचम के भी शासन के पच्चीस वर्ष पूरे हुए थे। अतः अंग्रेज सरकार ने भी रजत जयंती मनायी। स्पर्द्धा की इसी भावना के कारण देश ने कांग्रेस की स्वर्ण जयंती बड़ी धूमधाम से मनाकर यह सिद्ध कर दिया कि देश की जनता का प्रेम और श्रद्धा कांग्रेस के साथ है।

1936 में कांग्रेस का लखनऊ अधिवेशन हुआ जिसके सभापति पं० जवाहर लाल नेहरू चुने गए। देश में कांग्रेस के भीतर ही समाजवादी पार्टी का उदय हो चुका था। जवाहरलाल की भी सहानुभूति इस पार्टी के साथ थी। नेहरू जी के साथ अपने मतभेद का उल्लेख करते हुए उन्होंने अपनी आत्मकथा मे लिखा है—"दिल्ली की बैठक मे हमने देखा कि कई विषयों पर उनका और मेरा मतभेद है। यह मतभेद कार्यक्रम के संबंध मे इतना नही होता जितना दृष्टिकोण के संबंध मे। हम दोनों यदि किसी कार्यक्रम के संबंध मे एक राय भी रखते तो उस परिणाम पर हम दो मार्गों से पहुंचे होते। यदि एक ही बात को कहना भी चाहते तो उसे दो प्रकार की भाषा मे कहते। यदि एक ही रास्ते पर चलना भी चाहते तो दो प्रकार की सवारियों पर चलना चाहते। यदि एक ही प्रस्ताव करना चाहते तो उसकी अलग-अलग भूमिका बनाते। लेकिन यह मतभेद ऐसा नही था जिसके कारण साथ काम करना संभव न हो।"

लखनऊ कांग्रेस के समाप्त होते ही राजेन्द्र प्रसाद अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन के नागपुर अधिवेशन की अध्यक्षता करने रवाना हो गए। यहां आपने हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए एक महत्त्वपूर्ण और प्रेरक भाषण दिया।

अपने इस भाषण में उन्होंने कहा कि हिंदी को विदेशी शब्द ग्रहण करने में हिचकना नहीं चाहिए।

नागपुर अधिवेशन के बाद सम्मेलन ने राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की स्थापना की, जिसके सभापति राजेन्द्र बाबू निर्वाचित हुए। राजेन्द्र बाबू के सभापतित्व में और महात्मा गांधी के नीति-निर्देशन में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने एक ओर राष्ट्रभाषा के प्रचार का और दूसरी ओर हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि का बड़ा उपयोगी कार्य किया।

अब कांग्रेस के शीर्षस्थ नेताओं में राजेन्द्र बाबू की गिनती होने लगी। देश की ऐसी किसी भी समस्या से जिसका राष्ट्रीय महत्त्व हो राजेन्द्र बाबू का निर्णायक संबंध रहता।

1939 के त्रिपुरी कांग्रेस में सुभाष बाबू के सभापति-पद से त्यागपत्र देने के बाद उन्हें एकमत से सभापति चुन लिया गया।

सन् 1939 में 24 से 27 जून तक अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की जो बैठक हुई, उसके सभापति-पद से भाषण करते हुए राजेन्द्र प्रसाद ने कांग्रेस के विभाजन की तथा देश के सम्मुख उपस्थित अन्य अनेक समस्याओं की चर्चा की। उन्होंने कहा—"विश्व-युद्ध का खतरा बराबर बना है और कुछ ही महीनों में युद्ध छिड़ भी सकता है।" अतः उन्होंने लोगों से कहा कि वे "इस संकट का मुकाबला करने और हमें इस युद्ध में खींचने के सब प्रभावों का विरोध करने के लिए तैयार रहें।" और इस तरह कांग्रेस की बार-बार घोषित नीति को अमल में लावें। उन्होंने देश के सम्मुख उपस्थित कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण समस्याओं की भी चर्चा की, जैसे समुद्र-पार के कुछ स्थानों में भारतीयों के प्रति अनुचित व्यवहार, रजवाड़ों की बिगड़ती हुई स्थिति, जहां के शासक अथवा उनके सलाहकार, सर्वोच्च शक्ति की सहायता से "अपनी रियाया के प्रति उग्र दमन की नीति अथवा निर्लज्ज अपराधियों के गिरोह की वृत्ति" का अनुसरण कर रहे हैं, गत्यवरोध की स्थिति, जो देश की उन्नति के लिए हानिकर है, सांप्रदायिक तथा संकुचित भावना की वृद्धि और स्वयं कांग्रेस के अंदर संघर्ष। राजेन्द्र प्रसाद ने कहा कि इसलिए कांग्रेस के सामने सर्वप्रथम और अत्यंत आवश्यक समस्या "इस संस्था को शुद्ध करके इसे जनता की इच्छा तथा राष्ट्र की सेवा का एक अनुशासित और प्रभावकारी माध्यम बनाना, ताकि आने वाली परीक्षा की घड़ियों में कांग्रेस भारत की समस्याओं को सफल समाधान की ओर ले जाने के लिए पूरी तरह तैयार रहे।"

वस्तुतः संकट तब आ पहुंचा जब 3 सितंबर 1939 को इंग्लैंड ने नाजी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। इस विराट और विश्वव्यापी युद्ध के रूप में मानवता एक गंभीर और अभूतपूर्व अग्निपरीक्षा का सामना कर रही थी। युद्ध सभ्यता के मूलाधार पर ही प्रचंड आक्रमण था तथा शांति और

हिंसक चुनौती दे रहा था। भारत के लिए भी यह एक कठिन अनिष्ट की चुनौती सिद्ध हुआ। भारत के राष्ट्रीय नेताओं की सम्मति लिए बिना ही वाइसराय लार्ड लिनलिथगो ने उसे युद्ध-रत राष्ट्र घोषित कर दिया और "विश्व के महान् राष्ट्रों के बीच उसका जो स्थान है, उसके अनुकूल आचरण करने के लिए" उसका आह्वान किया।

अब कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार से भारत की स्वतंत्रता के संबंध में एक निश्चित और स्पष्ट योजना की माग की। सन् 1939 से नवंबर 1942 तक ब्रिटिश सरकार की ओर से कांग्रेस को इस प्रश्न का कोई संतोषजनक उत्तर नही मिला। कांग्रेस और सरकार के साथ समझौते के कोई आसार न देखकर गांधी जी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह का कार्यक्रम बनाया। राजेन्द्र बाबू इन दिनों पुनः अस्वस्थ हो गए थे तो भी उन्होंने बिहार प्रांत के सत्याग्रह का सचालन बड़ी कुशलता से किया।

क्रिप्स योजना के असफल होने से अंग्रेजों के साथ कांग्रेस के संबंध और बिगड़ गए। अंग्रेज सरकार युद्ध में भारत का भरपूर उपयोग कर रही थी। ऐसी स्थिति में कांग्रेस के नेताओं के सामने अंग्रेजी-साम्राज्य से मुक्ति के पूर्व वर्तमान युद्ध मे देश की रक्षा का प्रश्न उठ खड़ा हुआ।

देश की इस भयानक एवं विस्फोटक स्थिति के संदर्भ में 8 अगस्त 1942 की रात मे 10 बजे कांग्रेस ने एक प्रस्ताव स्वीकृत किया जिसमें गांधी जी के 'करो या मरो' मंत्र के साथ देश का आह्वान किया गया।

कांग्रेस के इस निर्णय के साथ ही गांधी जी तथा कार्यकारिणी के अन्य सदस्यों को गिरफ्तार कर लिया गया। उधर पटना मे सदाकत आश्रम से अस्वस्थ अवस्था में राजेन्द्र बाबू को गिरफ्तार कर बांकीपुर जेल में पहुंचाया गया। उनकी गिरफ्तारी की सूचना सुनते ही बिहार में क्रांति की लहर दौड़ गई। इस बार आप लगभग तीन वर्ष जेल में रहे।

अनेक राजनैतिक उलट-फेर और परिवर्तनों के बाद 2 सितंबर 1946 को भारत मे अंतरिम सरकार की स्थापना हुई। इसमे बारह मंत्री मनोनीत किए गए। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद कृषि और खाद्य मंत्री बनाए गए। इन दिनो देश मे अन्न संकट था। राजेन्द्र बाबू ने बड़ी कुशलता से देश को दुर्भिक्ष से बचा लिया। अंतरिम सरकार स्थापित होने पर विधान परिषद् की स्थापना हुई और सर्व-सम्मति से इसमें राजेन्द्र बाबू ही अध्यक्ष चुने गए। यह था इनका अजात-शत्रुत्व।

15 अगस्त 1947 को स्वतन्त्र होने के पश्चात् गणतंत्र के आधार पर नवीन स्वतंत्र भारत का संविधान बनाया गया और गणतंत्र-पद्धति लागू की गई। संविधान-निर्माण के पश्चात् सारे देश मे मताधिकार हुआ। इन चुने हुए प्रति-

निधियों ने अपना प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद को ही चुना। नेहरू जी प्रधान मंत्री थे। मतभेदों के रहते हुए भी दोनों ने अपने-अपने पद की गरिमा का निर्वाह किया।

राजेन्द्र प्रसाद के राष्ट्रपति-काल मे भारत बड़े ही सक्रमण काल से गुज़रा। लेकिन राजेन्द्र बाबू ने अपने पद-गौरव को जिस धीरता, गंभीरता और दूरदर्शिता से निभाया वह उन्ही जैसे विलक्षण व्यक्तित्व का ही काम था। राष्ट्रपति-पद की भव्यता को स्थापित रखते हुए उन्होंने राष्ट्रपति भवन मे भारतीयता और उसके अनुरूप जिस सादगी एव स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार किया वह उनकी सबसे बड़ी देन है। अपने वेतन मे चालीस प्रतिशत कटौती कर उन्होंने इस विचारधारा का परिचय दिया कि निर्धन देश की निर्धन जनता के साथ राष्ट्रपति कैसे सामंजस्य बनाए रख सकता है।

पं० जवाहरलाल नेहरू ने राजेन्द्र प्रसाद के राष्ट्रपति-काल के संबंध मे लिखा है—"उनके राष्ट्रपति के पद पर रहने के बारह सालों का काल भारत का अच्छा युग गिना जाएगा। इस युग मे हमने जो कुछ किया, उनके दिशा-बोध मे किया और शान से किया। हम यदि गलती करते थे तो वह हमे सभालते थे। यह बारह साल का जमाना तो उनका जमाना समझा जाएगा। जो जीवित जाति होती है, वहां जब अवसर आता है, कोई न कोई महान् व्यक्ति पैदा कर देती है। राजेन्द्र बाबू ने अपना सिक्का उस काल पर डाला और उससे हमारा सिर ऊंचा हुआ। हिंदुस्तान की स्वतंत्रता दृढ़ता से जमी।"

इसी प्रकार आगे वे लिखते हैं कि "उनकी मुद्रा और आंखे भुलाई नही जा सकती; क्योकि उनसे सचाई झलकती थी, उनकी योग्यता, उनके दिल की स्पष्टता और अपने देश के प्रति प्रेम ने उनके लिए हर भारतवासी के हृदय मे गहरा स्थान उत्पन्न कर दिया था।"

वस्तुतः उन्होंने भगवान् बुद्ध के अमर उपदेशों को उनकी ही जन्मभूमि में उत्पन्न होकर अपनाया। उनमें बौद्धों की तरह तपस्या, कठोर संयम तथा आत्म-त्याग की भावना निहित है। साधारण वेशभूषा, सरल स्वभाव, स्नेहपूर्ण व्यवहार, नम्रता, साधुवृत्ति इनके अनुकरणीय गुण हैं। गणतंत्र दिवस पर उन्हें देखकर ऐसा लगता था मानो भारत का सात्विक-गौरव अपने प्रकृत रूप मे साकार हो गया हो।

इस प्रकार राजेन्द्र प्रसाद बारह वर्ष तक राष्ट्रपति-पद पर सुशोभित रहे। उन्होंने राष्ट्रपति-पद की गुण-गरिमा को भी बढ़ाया। उनके संतों जैसे निर्लिप्त, निर्दोष और निरभिमानी व्यक्तित्व के बारे मे स्वर्गीय राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन ने कहा था—"उनमे जनक, बुद्ध और गांधी की छाया थी। अभिप्राय यह है कि उनके जीवन का अधिकाश भाग या तो राष्ट्र के लिए संघर्ष करने मे व्यतीत हुआ,

सरदार वल्लभभाई पटेल

"आप लोग डरते-डरते नरम स्वभाव के बन गए हैं। आप लड़ना-झगड़ना नही जानते, यह आपका गुण है। लेकिन इससे आपका स्वभाव इतना नरम नही बन जाना चाहिये कि अन्याय का विरोध करने की चिढ़ भी आपमे न रह जाय। यह तो कायरता है।"

देश की स्वाधीनता, उसकी सुरक्षा तथा निर्माण के लिए कार्य करने वालों मे सरदार वल्लभभाई पटेल का नाम अग्रणी है। वस्तुतः देश के स्वातंत्र्य-संग्राम के वह महान् सेनानी थे। वह स्वभाव मे ही निर्भय, वीर तथा दृढ़-निश्चयी थे। संकल्प में वह चट्टान, मन की गहराई मे सागर और निर्भीकता एवं साहस में सिंह की भांति थे। वह बोलते कम तथा कार्य अधिक करते थे। देश की स्वतंत्रता के साथ सबसे विकट समस्या आई थी अनेक छोटी-छोटी देशी रियासतों के विलय की। सदियों से चले आ रहे इन सामंतों के शीश से राजमुकुट उतार कर भारत-माता को चढाना कोई साधारण कार्य नही था। इस दुष्कर कार्य को जिस लौह-पुरुष ने कर दिखाया, वे थे सरदार वल्लभभाई पटेल।

अथवा राष्ट्र-निर्माण में लगा रहा। वे मात्र नेता अथवा शासक नही थे, अपितु, राष्ट्र-पुरुष भी थे। वे ऐसे राष्ट्रपुरुष थे जिनके मन, वचन और कर्मों मे समग्र राष्ट्र की आत्मा निवास करती थी।

अंततः 28 फरवरी 1963 को सदाकत आश्रम मे स्वाधीनता के इस महान् साधक ने समाधि ले ली। सारा राष्ट्र स्वतंत्रता के इस अमर सेनानी की समाधि पर स्तब्ध रह गया। जब राजेन्द्र बाबू का देहावसान का समय आया तो वे एक सार्वजनिक सभा मे भाषण करने जा रहे थे। अंतिम समय में भी उनके पग सार्वजनिक सेवा के लिए बढ़ रहे थे। एकाएक वे कुछ अस्वस्थ हुए और उनके प्राण-पखेरू उड़ गए। वे कितने महान् थे इसकी कतिपय झलक महापुरुषों एवं नेताओं के इन उद्‌गारों से प्रकट होती है—

"राजेन्द्र बाबू इस युग की दृढ कड़ी थे। उनकी मुद्रा और आंखें भुलाई नही जा सकती, क्योकि उनसे सचाई झलकती थी।"

—पं० जवाहरलाल नेहरू

"जो ऋषि होते है वे मुख्यतः उष्णता देते हैं। राजेन्द्र बाबू प्रधानतः हमारे पारिवारिक प्रेम के पितृ-समान थे। इसलिए उन्होंने हमें अग्नि-समान उष्णता दी है। हम समझते हैं हम उनके गुणो का सग्रह करेंगे और उनके स्मरण से अपने दोषों को जलाएंगे और उन्होने जो काम किया है उसको आगे बढायेंगे।"

—बिनोबा भावे

"उनके प्रति मेरे दिल मे जो आकर्षण उत्पन्न हुआ और हम दोनों के बीच प्रेम की जो गांठ बंधी वह अब तक बनी हुई है। राजेन्द्र बाबू को देखते ही उनकी सरलता और नम्रता की छाप हमारे दिल पर पड़ती है।"

—सरदार वल्लभभाई पटेल

"राजेन्द्र बाबू एक महान् और दिव्यात्मा पुरुष थे। राष्ट्र उनके त्यागमय जीवन को सदा याद रखेगा। उनका जीवन सदा हमारा मार्गदर्शन करता रहेगा।"

—डॉ० राधाकृष्णन

स्पष्ट है कि भारत के प्रथम राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद केवल राजनीतिज्ञ ही नही थे प्रत्युत् एक आदर्श व्यक्ति भी। वे जहां निर्भय देशभक्त और राष्ट्रीय नेता थे, वहां उच्चकोटि के विद्वान और लेखक भी। वे ऐसे उज्ज्वल चरित्र के व्यक्ति थे, जिन्हें अधिकार और पद, सत्य के मार्ग से कभी विचलित नही कर सके। वे भारतीय संस्कृति के सच्चे प्रतिनिधि थे। सादा जीवन और उच्च विचार उनके जीवन का मुख्य मंत्र था जिसका उन्होने आजीवन पालन किया। निःसंदेह देश के आदर्श स्वतंत्रता-सेनानी के रूप मे उनका नाम सदा स्मरणीय रहेगा।

सरदार वल्लभभाई पटेल

"आप लोग डरते-डरते नरम स्वभाव के बन गए हैं। आप लड़ना-झगड़ना नहीं जानते, यह आपका गुण है। लेकिन इससे आपका स्वभाव इतना नरम नहीं बन जाना चाहिये कि अन्याय का विरोध करने की चिढ़ भी आपमें न रह जाय। यह तो कायरता है।"

देश की स्वाधीनता, उसकी सुरक्षा तथा निर्माण के लिए कार्य करने वालों में सरदार वल्लभभाई पटेल का नाम अग्रणी है। वस्तुतः देश के स्वातंत्र्य-संग्राम के वह महान् सेनानी थे। वह स्वभाव से ही निर्भय, वीर तथा दृढ़-निश्चयी थे। संकल्प में वह चट्टान, मन की गहराई में सागर और निर्भीकता एवं साहस में सिंह की भांति थे। वह बोलते कम तथा कार्य अधिक करते थे। देश की स्वतंत्रता के साथ सबसे विकट समस्या आई थी अनेक छोटी-छोटी देशी रियासतों के विलय की। सदियों से चले आ रहे इन सामंतों के शीश से राजमुकुट उतार कर भारत-माता को चढ़ाना कोई साधारण कार्य नहीं था। इस दुष्कर कार्य को जिस लौह-पुरुष ने कर दिखाया, वे थे सरदार वल्लभभाई पटेल।

अथवा राष्ट्र-निर्माण में लगा रहा। वे मात्र नेता अथवा शासक नहीं थे, अपितु, राष्ट्र-पुरुष भी थे। वे ऐसे राष्ट्रपुरुष थे जिनके मन, वचन और कर्मों में समग्र राष्ट्र की आत्मा निवास करती थी।

अंततः 28 फरवरी 1963 को सदाकत आश्रम में स्वाधीनता के इस महान् साधक ने समाधि ले ली। सारा राष्ट्र स्वतंत्रता के इस अमर सेनानी की समाधि पर स्तब्ध रह गया। जब राजेन्द्र बाबू का देहावसान का समय आया तो वे एक सार्वजनिक सभा मे भाषण करने जा रहे थे। अंतिम समय मे भी उनके पग सार्वजनिक सेवा के लिए बढ रहे थे। एकाएक वे कुछ अस्वस्थ हुए और उनके प्राण-पखेरू उड गए। वे कितने महान् थे इसकी कतिपय झलक महापुरुषो एवं नेताओं के इन उद्‌गारों से प्रकट होती है—

"राजेन्द्र बाबू इस युग की दृढ कड़ी थे। उनकी मुद्रा और आखें भुलाई नही जा सकती, क्योंकि उनसे सचाई झलकती थी।"

—पं० जवाहरलाल नेहरू

"जो ऋषि होते है वे मुख्यतः उष्णता देते है। राजेन्द्र बाबू प्रधानतः हमारे पारिवारिक प्रेम के पितृ-समान थे। इसलिए उन्होंने हमें अग्नि-समान उष्णता दी है। हम समझते हैं हम उनके गुणों का सग्रह करेंगे और उनके स्मरण से अपने दोषों को जलाएंगे और उन्होंने जो काम किया है उसको आगे बढायेंगे।"

—विनोबा भावे

"उनके प्रति मेरे दिल मे जो आकर्षण उत्पन्न हुआ और हम दोनो के बीच प्रेम की जो गांठ बंधी वह अब तक बनी हुई है। राजेन्द्र बाबू को देखते ही उनकी सरलता और नम्रता की छाप हमारे दिल पर पड़ती है।"

—सरदार वल्लभभाई पटेल

"राजेन्द्र बाबू एक महान् और दिव्यात्मा पुरुष थे। राष्ट्र उनके त्यागमय जीवन को सदा याद रखेगा। उनका जीवन सदा हमारा मार्गदर्शन करता रहेगा।"

—डॉ० राधाकृष्णन

स्पष्ट है कि भारत के प्रथम राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद केवल राजनीतिज्ञ ही नही थे प्रत्युत् एक आदर्श व्यक्ति भी। वे जहा निर्भय देशभक्त और राष्ट्रीय नेता थे, वहां उच्चकोटि के विद्वान और लेखक भी। वे ऐसे उज्ज्वल चरित्र के व्यक्ति थे, जिन्हें अधिकार और पद, सत्य के मार्ग से कभी विचलित नही कर सके। वे भारतीय संस्कृति के सच्चे प्रतिनिधि थे। सादा जीवन और उच्च विचार उनके जीवन का मुख्य मत्र था जिसका उन्होने आजीवन पालन किया। निःसंदेह देश के आदर्श स्वतन्त्रता-सेनानी के रूप मे उनका नाम सदा स्मरणीय रहेगा।

सरदार वल्लभभाई पटेल

"आप लोग डरते-डरते नरम स्वभाव के बन गए है। आप लड़ना-झगड़ना नही जानते, यह आपका गुण है। लेकिन इससे आपका स्वभाव इतना नरम नहीं बन जाना चाहिये कि अन्याय का विरोध करने की चिढ भी आपमें न रह जाय। यह तो कायरता है।"

देश की स्वाधीनता, उसकी सुरक्षा तथा निर्माण के लिए कार्य करने वालों मे सरदार वल्लभभाई पटेल का नाम अग्रणी है। वस्तुत: देश के स्वातंत्र्य-संग्राम के वह महान् सेनानी थे। वह स्वभाव से ही निर्भय, वीर तथा दृढ़-निश्चयी थे। संकल्प में वह चट्टान, मन की गहराई मे सागर और निर्भीकता एवं साहस में सिंह की भांति थे। वह बोलते कम तथा कार्य अधिक करते थे। देश की स्वतंत्रता के साथ सबसे विकट समस्या आई थी अनेक छोटी-छोटी देशी रियासतों के विलय की। सदियों से चले आ रहे इन सामंतों के शीश से राजमुकुट उतार कर भारत-माता को चढाना कोई साधारण कार्य नही था। इस दुष्कर कार्य को जिस लौह-पुरुष ने कर दिखाया, वे थे सरदार वल्लभभाई पटेल।

गुजरात के खेड़ा जिले के करमसद नामक गांव के एक कृषक परिवार में 31 अक्तूबर सन् 1875 ई० को इस महान नेता का जन्म हुआ था। आपके पिता झवेरभाई ने 1857 के स्वतंत्रता-संग्राम में अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष में भाग लिया था। उन्होंने अपने यौवन को मातृभूमि की सेवा में अर्पित कर दिया था। झांसी की रानी लक्ष्मीबाई की सेना में भर्ती होकर आपने अंग्रेजों के साथ युद्ध किया था। पटेल की माता लाडबाई 80 वर्ष की हो जाने पर भी प्रतिदिन चर्खा कातती थीं। माता-पिता की धार्मिक, साहसी और संयमी वृत्तियों का प्रभाव बालक पटेल के चरित्र पर भी पड़ा। डरना तो उन्होंने सीखा ही नहीं था। भय तो जैसे उन्हें छू तक नहीं गया था। साथ ही सहनशीलता भी इतनी थी कि देखने वाला दांतों तले उंगली दबा ले।

शिक्षा के लिए वल्लभभाई को करमसद, पटेलाद, नडियाद, बड़ौदा और न जाने कहां-कहां जाना पड़ा। पर जहां भी गये सरदार बनकर रहे। उग्र स्वभाव होने के कारण आपकी शिक्षकों से किसी न किसी बात पर अनबन हो जाती थी। उनके भावी जीवन के शुभ लक्षण उनके छात्र-जीवन में ही दृष्टिगोचर होने लगे थे। उनकी स्पष्टवादिता, निर्भीकता एवं दृढ़ता का परिचय अनेक प्रसंगों से मिलने लगा था। परंतु उस समय कौन कह सकता था कि यह भारत के बदलने वाले इतिहास का पूर्वाभास है। उनके हैडमास्टर सौभाग्य से उस समय तक जीवित रहे, जबकि गुजरात का गगन-मंडल एक दिन उसी नटखट 'महापुरुष' के इस जय-जयकार के निनाद से गूंज उठा—'सरदार वल्लभभाई की जय! हमारे सरदार बहुत-बहुत जियें।' और कहते हैं कि वृद्ध हैडमास्टर को लोगों ने तब भी यही वाक्य दोहराते सुना कि 'ऐसा नटखट लड़का मैंने आयु में दूसरा नहीं देखा!' भला उन्हें क्या मालूम था कि उनके इस विद्यार्थी में इस 'नटखटपन' की मात्रा किसी भी अंश में कम होती तो इस देश को अपनी स्वतंत्रता का सौदा पटाने और उस अनमोल स्वाधीनता को पा लेने पर आज उसकी सम्यक् सुरक्षा करने में कितना गहरा मूल्य चुकाना पड़ता।

मैट्रिक पास करते-करते वल्लभभाई का मन महत्त्वाकांक्षाओं से भर उठा था। उनके मन में उच्च शिक्षा प्राप्त करने की प्रबल महत्त्वाकांक्षा थी। परंतु परिवार की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण उच्च शिक्षा के लिए उन्होंने कोई अवलंब न देख स्वावलंबी बनने का निश्चय किया।

बाल्यकाल से ही जैसा उनका स्वभाव था, उसमें उनके जो विचार, मान्यताएं, स्वप्न एवं महत्त्वाकांक्षाओं का एक चित्र उनके हृदय में निर्मित हो रहा था, उसमें किसी छोटी-मोटी नौकरी से ही पटेल का मन संतुष्ट हो जाना संभव नहीं था। उनकी इस अवस्था का परिचय सन् 1921 के असहयोग-आंदोलन में उन्हीं के एक हृदयस्पर्शी भाषण के अंश से मिलता है—

"भाई मोहनलाल ने मेरा परिचय देते हुए कहा कि मैं पहले अंग्रेजों की हूबहू नकल करता था, यह सच है। साथ ही यह बात भी ठीक है कि मैं फुरसत का समय खेल-कूद में व्यतीत करता था। उस समय मेरा विश्वास यह था कि इस अभागे देश में विदेशियों की नकल करना ही उत्तम कार्य है। मुझे शिक्षा भी ऐसी ही दी गई थी कि इस देश के लोग हल्के और नालायक हैं, और हम पर राज्य करने वाले परदेशी ही अच्छे और हमारा उद्धार करने में समर्थ हैं; इस देश के लोग तो परतंत्रता के ही योग्य हैं; ऐसा विष इस देश के समस्त बच्चों को पिलाया जाता है। मैं बचपन में ही यह देखने और जानने को तड़पता रहता था कि जो लोग सात हजार मील दूर विदेश मे राज्य करने आते थे उनका देश कैसा होगा। मैं साधारण घराने का था। मेरे पिताजी मन्दिर मे जिंदगी व्यतीत करते थे और उसी में उन्होंने वह पूरी की। मेरी इच्छा पूरी करने का उनके पास साधन नही था। मुझे मालूम हुआ कि दस-पंद्रह हजार रुपया मिल जाय तो विलायत जा सकता हूं। मुझे कोई इतना रुपया देने वाला नहीं था। मेरे एक मित्र ने कहा कि ईडर स्टेट में दरबार से रुपया ब्याज पर मिल सकता है। उस मित्र के काका ईडर में ही रहते थे, इसलिए मेरा वह मित्र और मैं दोनों ईडर गए और शेख-चिल्ली जैसे विचार करके गांव की प्रदक्षिणा करके वापस चले आए। अंत में निश्चय हुआ कि विलायत जाना हो तो रुपया स्वयं अर्जित कर जाना चाहिए। बाद में वकालत की पढ़ाई की और वकालत का धंधा करके खर्च लायक कमाई करके विलायत जाने का निश्चय किया।"

इस समय उनकी विद्रोही भावना क्रियाशीलता के लिए छटपटा रही थी। अतः उन्होंने मुखतारी की परीक्षा उत्तीर्ण कर गोधरा जिले मे वकालत आरंभ कर दी। अल्पकाल मे ही आपकी वकालत अच्छी चल निकली। स्वभाव से निडर होने के कारण आपने अनेक घमंडी मजिस्ट्रेटों को सबक सिखाया। फलतः आपकी धाक सर्वत्र जम गयी। आप अधिकांशतः फौजदारी मुकदमे ही लेते थे। कारण यह था कि इनमे थोड़े समय में अधिक धन कमाया जा सकता था। उनकी वकालत की सफलता मे योग्यता, निर्भीकता, बुद्धि-चातुर्य; परिश्रम सभी का योगदान था। उन्हे पर्याप्त यश और धन की प्राप्ति हुई।

संचित धन से आप इंग्लैंड गये। वहां जाकर आप राग-रंग में नहीं पड़े। जिस कार्य के लिए वहां गये थे उसी मे तल्लीन रहे। उन्हें परीक्षा में सर्वोच्च स्थान प्राप्त हुआ। पुरस्कार स्वरूप शुल्क माफ हो गया और छात्रवृत्ति भी मिली। वल्लभभाई ने अपनी अंतिम संपूर्ण परीक्षा जून, सन् 1912 में उत्तीर्ण की। उसमें वे आनर्स के साथ पहले नंबर पर पास हुए। इस पर उन्हें पचास पौंड का नकद पुरस्कार मिला। परीक्षा मे लिखे उनके उत्तर इतने सुंदर एवं सटीक थे कि मुख्य परीक्षक ने बंबई के मुख्य न्यायाधीश को लिखा, "वल्लभभाई पटेल कुशल

गुजरात के खेड़ा जिले के करमसद नामक गांव के एक कृषक परिवार में 31 अक्तूबर सन् 1875 ई० को इस महान नेता का जन्म हुआ था। आपके पिता झवेरभाई ने 1857 के स्वतंत्रता-संग्राम में अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष में भाग लिया था। उन्होंने अपने यौवन को मातृभूमि की सेवा में अर्पित कर दिया था। झांसी की रानी लक्ष्मीबाई की सेना में भर्ती होकर आपने अंग्रेजों के साथ युद्ध किया था। पटेल की माता लाडबाई 80 वर्ष की हो जाने पर भी प्रतिदिन चर्खा कातती थी। माता-पिता की धार्मिक, साहसी और संयमी वृत्तियों का प्रभाव बालक पटेल के चरित्र पर भी पड़ा। डरना तो उन्होंने सीखा ही नहीं था। भय तो जैसे उन्हें छू तक नहीं गया था। साथ ही सहनशीलता भी इतनी थी कि देखने वाला दांतों तले उंगली दबा ले।

शिक्षा के लिए वल्लभभाई को करमसद, पेटलाद, नडियाद, बड़ौदा और न जाने कहां-कहां जाना पड़ा। पर जहां भी गये सरदार बनकर रहे। उग्र स्वभाव होने के कारण आपकी शिक्षकों से किसी न किसी बात पर अनबन हो जाती थी। उनके भावी जीवन के शुभ लक्षण उनके छात्र-जीवन में ही दृष्टिगोचर होने लगे थे। उनकी स्पष्टवादिता, निर्भीकता एवं दृढ़ता का परिचय अनेक प्रसंगों से मिलने लगा था। परंतु उस समय कौन कह सकता था कि यह भारत के बदलने वाले इतिहास का पूर्वाभास है। उनके हैडमास्टर सौभाग्य से उस समय तक जीवित रहे, जबकि गुजरात का गगन-मंडल एक दिन उसी नटखट 'महापुरुष' के इस जय-जयकार के निनाद से गूंज उठा—'सरदार वल्लभभाई की जय! हमारे सरदार बहुत-बहुत जियें।' और कहते हैं कि वृद्ध हैडमास्टर को लोगों ने तब भी यही वाक्य दोहराते सुना कि 'ऐसा नटखट लड़का मैंने आयु में दूसरा नहीं देखा!' भला उन्हें क्या मालूम था कि उनके इस विद्यार्थी में इस 'नटखटपन' की मात्रा किसी भी अंश में कम होती तो इस देश को अपनी स्वतंत्रता का सौदा पटाने और उस अनमोल स्वाधीनता को पा लेने पर आज उसकी सम्यक् सुरक्षा करने में कितना गहरा मूल्य चुकाना पड़ता।

मैट्रिक पास करते-करते वल्लभभाई का मन महत्त्वाकांक्षाओं से भर उठा था। उनके मन में उच्च शिक्षा प्राप्त करने की प्रबल महत्त्वाकांक्षा थी। परंतु परिवार की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण उच्च शिक्षा के लिए उन्होंने कोई अवलंब न देख स्वावलंबी बनने का निश्चय किया।

बाल्यकाल से ही जैसा उनका स्वभाव था, उसमें उनके जो विचार, मान्यताएं, स्वप्न एवं महत्त्वाकांक्षाओं का एक चित्र उनके हृदय में निर्मित हो रहा था, उसमें किसी छोटी-मोटी नौकरी से ही पटेल का मन संतुष्ट हो जाना संभव नहीं था। उनकी इस अवस्था का परिचय सन् 1921 के असहयोग-आंदोलन में उन्हीं के एक हृदयस्पर्शी भाषण के अंश से मिलता है—

"भाई मोहनलाल ने मेरा परिचय देते हुए कहा कि मैं पहले अंग्रेजों की हूबहू नकल करता था, यह सच है। साथ ही यह बात भी ठीक है कि मैं फुरसत का समय खेल-कूद में व्यतीत करता था। उस समय मेरा विश्वास यह था कि इस अभागे देश में विदेशियों की नकल करना ही उत्तम कार्य है। मुझे शिक्षा भी ऐसी ही दी गई थी कि इस देश के लोग हल्के और नालायक है, और हम पर राज्य करने वाले परदेशी ही अच्छे और हमारा उद्धार करने में समर्थ हैं, इस देश के लोग तो परतंत्रता के ही योग्य है; ऐसा विष इस देश के समस्त बच्चों को पिलाया जाता है। मैं बचपन से ही यह देखने और जानने को तड़पता रहता था कि जो लोग सात हजार मील दूर विदेश से राज्य करने आते थे उनका देश कैसा होगा। मैं साधारण घराने का था। मेरे पिताजी मन्दिर में जिंदगी व्यतीत करते थे और उसी में उन्होंने वह पूरी की। मेरी इच्छा पूरी करने का उनके पास साधन नही था। मुझे मालूम हुआ कि दस-पंद्रह हजार रुपया मिल जाय तो विलायत जा सकता हूं। मुझे कोई इतना रुपया देने वाला नही था। मेरे एक मित्र ने कहा कि ईडर स्टेट मे दरबार से रुपया ब्याज पर मिल सकता है। उस मित्र के काका ईडर में ही रहते थे, इसलिए मेरा वह मित्र और मैं दोनों ईडर गए और शेख-चिल्ली जैसे विचार करके गाव की प्रदक्षिणा करके वापस चले आए। अंत मे निश्चय हुआ कि विलायत जाना हो तो रुपया स्वयं अर्जित कर जाना चाहिए। बाद में वकालत की पढ़ाई की और वकालत का धंधा करके खर्च लायक कमाई करके विलायत जाने का निश्चय किया।"

इस समय उनकी विद्रोही भावना क्रियाशीलता के लिए छटपटा रही थी। अतः उन्होंने मुखतारी की परीक्षा उत्तीर्ण कर गोधरा जिले में वकालत आरंभ कर दी। अल्पकाल में ही आपकी वकालत अच्छी चल निकली। स्वभाव से निडर होने के कारण आपने अनेक घमंडी मजिस्ट्रेटों को सबक सिखाया। फलतः आपकी धाक सर्वत्र जम गयी। आप अधिकांशत. फौजदारी मुकदमे ही लेते थे। कारण यह था कि इनमे थोड़े समय में अधिक धन कमाया जा सकता था। उनकी वकालत की सफलता में योग्यता, निर्भीकता, बुद्धि-चातुर्य; परिश्रम सभी का योगदान था। उन्हें पर्याप्त यश और धन की प्राप्ति हुई।

संचित धन से आप इंग्लैंड गये। वहा जाकर आप राग-रंग में नही पड़े। जिस कार्य के लिए वहां गये थे उसी मे तल्लीन रहे। उन्हें परीक्षा में सर्वोच्च स्थान प्राप्त हुआ। पुरस्कार स्वरूप शुल्क माफ हो गया और छात्रवृत्ति भी मिली। वल्लभभाई ने अपनी अंतिम संपूर्ण परीक्षा जून, सन् 1912 में उत्तीर्ण की। उसमें वे आनर्स के साथ पहले नंबर पर पास हुए। इस पर उन्हें पचास पौंड का नकद पुरस्कार मिला। परीक्षा में लिखे उनके उत्तर इतने सुंदर एवं सटीक थे कि मुख्य परीक्षक ने बंबई के मुख्य न्यायाधीश को लिखा, "वल्लभभाई पटेल कुशल

न्यायाधीश हो सकते हैं, इसलिए उन्हें न्यायविभाग में किसी ऊंचे पद नियुक्त कर देना चाहिए।"

पटेल को न्यायाधीश नही बनना था, अतएव उन्होंने उस सिफारिश से लाभ नही उठाया। स्वदेश लौटने पर वह अहमदाबाद आकर वकालत करने लगे। शीघ्र ही उनकी धाक जम गयी। उनकी आय और प्रतिष्ठा दोनों में चार चांद लग गये। उनके अग्रज इन दिनों सार्वजनिक जीवन में कार्य करने लग गये थे। वे स्वराज्य-संस्थाओं की ओर से बंबई की धारा सभा के एक सदस्य थे। वकालत और देश-सेवा दोनों ही कार्य एक साथ न चलने की अवस्था में दोनों भाइयों ने निश्चय किया कि विट्ठलभाई धारा सभा के कार्य में अपना समय दें और वल्लभभाई वकालत कर बड़े भाई का भी खर्च वहन करें। इस तथ्य का प्रमाण उनका एक भाषण अंश है—

"स्वतत्रता चाहिए तो इस देश में संन्यासी होना चाहिए, स्वार्थ त्याग करके सेवा करनी चाहिए। इसलिए हम दोनों ने निश्चय किया कि दोनों में से एक देश-सेवा करे और दूसरा कुटुम्ब-सेवा करे। उस वक्त से मेरे भाई ने इतनी अच्छी तरह चलता हुआ धधा छोड़कर देश-सेवा का काम शुरू कर दिया और घर का काम चलाने का भार मेरे सिर पर आया। इस प्रकार पुण्य कार्य उनके हिस्से में आया और मेरे सिर पर पाप का काम आ पड़ा। परंतु यह समझकर मन को बहलाता था कि उनके पुण्य में मेरा भी हिस्सा है।"

उस समय कौन जानता था कि वल्लभभाई भी शीघ्र ही 'पाप कमाना' छोड़कर 'पुण्य कमाने' के क्षेत्र मे आ जायेंगे।

1916 ई० के प्रसिद्ध लखनऊ अधिवेशन में एक प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित होकर आपने अपने भावी कर्मक्षेत्र कांग्रेस के प्रांगण में सर्वप्रथम पदार्पण किया। इन्ही दिनों आप गुजरात सभा के सचिव चुने गए। गुजरात सभा तथा गोधरा में आयोजित एक राजनीतिक सम्मेलन के सबध में युगपुरुष गांधी जी से भेंट हुई। उनके जादू भरे संपर्क से शीघ्र ही आपके जीवन में एक युगांतर उपस्थित हुआ। इन दिनों गांधी जी बिहार के चंपारन क्षेत्र में नीलवरों से पीड़ित जनता की सेवा कर रहे थे। उनके इस कार्य का राष्ट्रव्यापी प्रभाव पड़ रहा था। अचानक मजिस्ट्रेट ने गांधी जी के इस काम पर प्रतिबंध लगाकर उन्हें चंपारन से चले जाने का आदेश दिया। गांधी जी ने मजिस्ट्रेट का आदेश मानने से मना कर दिया और अपने कार्य में लगे रहे। उन पर मुकदमा चला। मुकदमे में गांधी जी ने अपना जो बयान दिया उसने देशभर में हलचल मचा दी। पटेल इस विवरण को समाचारपत्र में पढकर उनके साहस के प्रशंसक हो गए। उनके मन में गाधी जी के प्रति आदर-भाव बढा, जो उनके भावी राजनीतिक जीवन का सूत्रधार सिद्ध हुआ। महात्मा गांधी से भेंट कर आप उनके अनुयायी बन गए।

सन् 1917 में वल्लभभाई एक सदस्य के रूप में अहमदाबाद म्युनिसिपैलिटी में निर्वाचित हुए। बाद में उन्हें स्वास्थ्य कमेटी का अध्यक्ष चुना गया। इस वर्ष प्लेग का भीषण प्रकोप हुआ। पटेल ने बडी कुशलता और साहस के साथ सारे नगर के लोगों को निकालकर जंगलो मे बसाया और उनकी प्राणरक्षा की। सन् 1918 में जब देश मे इन्फ्लुएंजा फैला तो अहमदाबाद मे आपने घर-घर निःशुल्क औषधि-वितरण तथा स्वास्थ्य-रक्षा संबंधी शिक्षाप्रसार का प्रबंध किया। इस प्रकार अपनी निःस्वार्थ सेवापरायणता से आप जनता के श्रद्धापात्र बन गए। उन्हीं दिनों आपने गुजरात विद्यापीठ के लिए दस लाख रु० एकत्र किये। जनता और धनिकों पर आपका इतना प्रभाव देखकर गांधी जी अत्यधिक प्रभावित हुए। शीघ्र ही आप गांधी जी के प्रधान शिष्य के रूप में प्रतिष्ठित हो गये। आपने इतिहास-प्रसिद्ध 'खेड़ा-सत्याग्रह' और उसी समय उठ खडे होने वाले अहमदाबाद के मजदूर-मिलमालिकों के संघर्ष एव तत्संबंधी हडताल के चिरस्मरणीय अनुष्ठान मे महत्त्वपूर्ण भाग लिया। उसके बाद युद्ध के लिए रंगरूट भर्ती विषयक गांधी जी द्वारा उठाए गए आदोलन मे भी पूर्ण सहयोग देकर, एक सच्चे अहिंसा-वादी सैनिक के रूप में आपने अपने प्रांत में उनके प्रधान राजनीतिक लैफ्टिनैण्ट की भी गौरवपूर्ण स्थिति की प्राप्ति की।

1919 ई० में रौलट-बिल को लेकर गांधी जी ने राष्ट्रव्यापी सत्याग्रह आंदोलन आरंभ किया तो उन्होंने पूरा सक्रिय सहयोग दिया। उन्होंने देश के भावी संग्राम के लिए जीवन अर्पित करने की गंभीर शपथ ग्रहण की। वे तन-मन से गाधी जी द्वारा निर्दिष्ट कार्यक्रम को पूरा करने मे जुट गए। उन्होंने गांव-गाव घूमकर कृषको को करबंदी सत्याग्रह का महत्त्व और उसका संदेश पहुंचाना आरभ किया। उन्होंने सरकार से बार-बार लोहा लिया और जनता में प्राण-शक्ति फूंकी। एक सभा मे अध्यक्ष-पद से उन्होंने जो भाषण दिया उससे एक अंश उद्धृत है—

"इस लडाई से सारे देश में आग लग जाएगी। दु.ख सहन किए बिना सुख नही मिलता और मिल जाए तो वह लम्बे समय तक टिकता नही। मजबूत और दृढ विचारों की जनता हो, इसी मे राज्य की शोभा है। नालायक और डरपोक प्रजा की वफादारी में सार नही। डर और स्वाभिमान की रक्षा करने वाली वफादार प्रजा ही सरकार को शोभा देती है।"

इस वक्तव्य से पता चलता है कि इन दिनों उनके वाक्य-प्रहार कितने तीखे थे। साथ ही सरकार को पाठ पढ़ाने में वे कितने सिद्धहस्त थे। परिणामतः किसान प्रत्यक्ष रूप से सरकार से संघर्ष कर अपनी माग पूरी कराने पर तुल गए।

तदनंतर असहयोग आंदोलन की रणभेरी बजते ही सहस्रों की आयवाली अपनी फलती-फूलती वकालत को आपने तिलांजलि दे दी। असहयोग के कारण जनता ने जेलों को ठसाठस भर दिया। आदोलन को दमित करने के लिए सरकार ने समस्त शक्ति लगा दी। सरकार जितना दबाती थी, असहयोग उतना ही बढता जाता था। सरदार की प्रेरणा से अहमदाबाद म्युनिसिपैलिटी ने एक प्रस्ताव द्वारा अपने सभी स्कूलों का सरकार से संबंध तोड़ लिया। इस पर म्युनिसिपैलिटी के द्वारा सरदार का सरकार के साथ भयंकर संघर्ष हुआ। अंत में सरकार ने अहमदाबाद म्युनिसिपल बोर्ड को अवधि समाप्त होने से पूर्व ही भंग कर दिया। जनता के सदस्यों ने जो स्कूल सरकार की सहायता के बिना म्युनिसिपैलिटी के कोष से खोले थे, सरकार ने उनका खर्च वसूल करने का दावा उन सदस्यों पर किया। सरदार वल्लभभाई ने अदालत मे इस मुकदमे की पैरवी स्वयं की, जिससे सरकार का दावा हाईकोर्ट तक से खारिज हो गया और उसे प्रतिवादियो को मुकदमे का खर्च भी देना पड़ा।

सन् 1921 में अहमदाबाद में हुए कांग्रेसाधिवेशन के आप स्वागताध्यक्ष चुने गये। स्वागताध्यक्ष के रूप मे आपने रातों-रात खद्दर का एक विशाल नगर खड़ा कर देने का अद्भुत चमत्कार प्रदर्शन किया। इस अधिवेशन में सविनय अवज्ञा आंदोलन छेडने का प्रस्ताव पास हुआ और तदनुसार गांधी जी के आपके बल पर बारडोली में करबंदी आंदोलन शुरू किया। परंतु अधिकारियों के भयंकर अत्याचार के कारण उसे स्थगित करना पड़ा।

लोग यह समझने लगे थे कि अब भारत में सत्याग्रह आंदोलन सफल नहीं हो सकता। विधान सभाओं में जाकर ही वैधानिक आंदोलन किये जाने चाहिए। वल्लभभाई इस समय गुजरात के सच्चे नेता के रूप में जनता के समक्ष आए। वे ठोस कार्य करना भली-भांति जानते थे। गांधी जी की गिरफ्तारी के बाद देश मे सन्नाटा छा गया। असहयोग भी शिथिल होने लगा किन्तु पटेल अनवरत मैदान में डटे रहे और कांग्रेस का रचनात्मक कार्य करते रहे। कांग्रेस के प्रत्येक कार्य—चर्खा, खादी, पुनरुत्थान, अछूतोद्धार, किसान संगठन तथा व्यावहारिक शिक्षा आदि में उन्हें सफलता दिखाई देती थी। वे बराबर कार्यक्षेत्र मे संलग्न रहे। उन्होंने स्वयं खादी पहनना आरंभ किया और अन्यो को प्रेरणा दी। उन्होने अनेक कार्यकर्ताओं तथा स्वयंसेवकों को लेकर विदेशी वस्त्रों की दुकानो पर धरना देने का कार्यक्रम आरंभ किया।

असहयोग के कार्यक्रम को और तीव्रता से पूर्ण करने के लिए आपने सैकडों सहयोगियों के हस्ताक्षरों से एक घोषणा-पत्र प्रकाशित किया जिसमे उन्होंने कहा—

"हिन्दुस्तान की सार्वजनिक आकांक्षाओं को कुचल डालने वाले इस शासन

विश्व की कोई बलशाली से बलशाली सरकार भी उनको मार्ग से विचलित नहीं कर सकती।

असहयोग-आंदोलन के प्रारंभिक दौर में गांधी जी ने बारडोली को ही केन्द्र बनाने का निश्चय किया था। सरकार की कोपदृष्टि उस पर पड़ चुकी थी। इसलिए उसका लगान 22 प्रतिशत बढा दिया गया। प्रजा ने इसका प्रतिरोध किया। उन्होंने आंदोलन चलाने का निश्चय किया और उसका नेतृत्व सरदार पटेल को सौंपा। आपके नेतृत्व में आंदोलन छिड़ा। कृषकों ने लगान देना बंद कर दिया। सरकार ने बंबई धारा सभा में सारे उपायों का सहारा लेकर आंदोलन को कुचल डालने की धमकी दी। कृषकों के पशुओं और भूमि की जब्ती होने लगी। आपने कृषकों को आश्वासन देना शुरू किया कि "मत घबराओ, जमीन तो चलकर तुम्हारे पास आयेगी।" छ: महीने व्यतीत होने पर भी आंदोलन बंद न हुआ। पटेल जैसे वीर एवं साहसी नायक के कारण उनका साहस न टूटा। उनकी व्यवस्था और ठोस कार्य को देखकर बड़े-बड़े नर-रत्न इस युद्ध में उतावले होकर कूद पड़े। कवि-गण गांव-गांव जाकर सुनाने लगे कि—

"विराट रूप हो किसान। स्वराज आज लो किसान।"

आंदोलन ने इतना बल पकड़ा कि राज्यतंत्र तक बंद होने लगा। एक ओर शक्तिशाली सरकार थी दूसरी ओर अहिंसक कृषक थे। उनके अनुशासन, नम्रता, दृढ़ता और श्रद्धा को देखकर सरदार भी गद्‌गद हो उठे थे। 'टाइम्स आफ इंडिया' ने तो सब कुछ देखकर यहां तक लिख दिया था कि बारडोली में 'बोल्शेविज्म' चल रहा है और वल्लभभाई उनके 'लेनिन' हैं।

"आर्य देश के बंबई प्रांत में बारडोली नाम का एक मण्डल है। वहां महात्मा गांधी ने 'बोल्शेविज्म' का प्रयोग करना आरंभ कर दिया है। प्रयोग सफल भी होता जा रहा है। वहां के सारे कल-पुर्जे मंद पड़ गए हैं। गांधी के शिष्य पटेल का बोलबाला है। वही वहां का लेनिन है। स्त्रियों, बालकों और पुरुषों में एक नई ज्वाला धधक रही है। इस ज्वाला मे राजभक्ति की अन्त्येष्टि-क्रिया हो रही हैं। स्त्रियों में नवीन चैतन्यता भर गई हे। वल्लभभाई तो उनके गीतों का विषय हो रहा है। अपने नायक वल्लभभाई मे वे असीम भक्ति रखती हैं। पर इन गीतों में राज-विद्रोह की भयंकर आग सुलग रही है। उनको सुनते ही कान जलने लगते हैं। यदि ऐसा ही रहा तो निस्संदेह वहां रक्त की नदियां बहने लगेंगी।"

अंततः सरकार को झुकना पडा। उसे कृषकों की मांगें स्वीकार करनी पड़ी। बारडोली की इस विजय पर समस्त भारत मे प्रसन्नता प्रकट की गई। बारडोली के वीर कृषकों की जय-जयकार होने लगी। पटेल को अनेक मानपत्र दिये गये। बारडोली का नाम विश्व के इतिहास में अमर हो गया। वल्लभभाई को गांधी जी ने 'सरदार' की उपाधि से विभूषित किया। उस दिन से वे सचमुच

'सरदार' बन गये। सारे भारत के नेता बन गये। उनका सम्मान समस्त देशों मे बढ़ गया।

सरदार वल्लभभाई पटेल ने बारडोली संग्राम के लिए वहां की जनता को इतना अधिक प्रशिक्षित कर दिया था कि 1930 के नमक सत्याग्रह तथा उसके बाद के अन्य सत्याग्रहों में जनता अंग्रेजो के विरुद्ध बराबर डटी रही। वह गांधी, पटेल तथा अन्य नेताओं के जेल मे होने पर भी विचलित न हुई।

गांधी जी ने 12 मार्च 1930 को नमक कानून भंग करने दांडी नामक स्थान को कूच करना था। पटेल पहले ही प्रेरणा देने के लिए गांवो मे पहुंच चुके थे। वह नमक कानून भंग का प्रचार तथा महात्मा गाधी के मार्ग को प्रशस्त करने वाले थे। इस कूच की सारी योजना सरदार पटेल की देख-रेख में बनी थी। एक भाषण मे उन्होंने कहा था—

"अब एक ऐसा धर्मयुद्ध शुरू होता है जैसा संसार ने पहले कभी नही देखा होगा। यह ऐसा युद्ध है जिसमे एक ओर समग्र सात्विक शक्तियों का, धार्मिक शस्त्रो का उपयोग होगा, दूसरी ओर आसुरी शक्तियों का, आसुरी शस्त्रों का उपयोग होगा। इस संग्राम मे आपका क्या योगदान रहेगा और आप किसका पक्ष लेंगे इसका निर्णय आपको करना है। गुजरात की जनता इतिहास की स्वतंत्रता का प्रथम पृष्ठ लिख रही है। ईश्वर उसे शक्ति प्रदान करे। ईश्वर आप सबका कल्याण करे।"

उनके इस भाषण का जनता पर बहुत प्रभाव पड़ा। सरकार भयभीत हो गयी। उसने इस अवसर पर प्रथम प्रहार करने मे विलंब किया। सरकार ने पटेल के भाषण करने पर प्रतिबंध लगाया, परंतु सरदार ने उस आज्ञा को न मानकर सत्याग्रह कर दिया। अतएव सरकार ने उनको भाषण देने से पूर्व ही गिरफ्तार कर लिया और उन पर मुकदमा चलाकर उन्हें जेल की सजा दे दी।

गुजरात की समस्त जनता पर इस धरने का भारी प्रभाव पड़ा। वहां का प्रत्येक नागरिक सरकार के विरुद्ध हो गया। अहमदाबाद में साबरमती के तट पर 75,000 नर-नारियों ने एकत्र होकर यह प्रस्ताव पास किया—

"हम अहमदाबाद के नागरिक यह संकल्प करते हैं कि जिस मार्ग पर वल्लभभाई गए हैं हम भी उसी पर जाएंगे और ऐसा करते हुए स्वाधीनता को प्राप्त करके छोड़ेंगे। हम देश को स्वतंत्र किए बिना न तो स्वयं ही चैन से बैठेंगे और न सरकार को ही चैन से बैठने देंगे। हम शपथपूर्वक घोषणा करते हैं कि भारतवर्ष का उद्धार सत्य और अहिंसा से ही होगा।"

1931 ई० के करांची कांग्रेस-अधिवेशन के आप अध्यक्ष बने। सरदार पटेल ने राष्ट्र की जो सेवा की थी उसके फलस्वरूप उन्हें कांग्रेस का सबसे बडा सम्मान मिला। जब कांग्रेस ने धारा सभाओ में प्रवेश कर मंत्रिमंडल बनाने का निश्चय

विश्व की कोई बलशाली से बलशाली सरकार भी उसको मार्ग से विचलित नहीं कर सकती।

असहयोग-आंदोलन के प्रारंभिक दौर मे गांधी जी ने बारडोली को ही केन्द्र बनाने का निश्चय किया था। सरकार की कोपदृष्टि उस पर पड़ चुकी थी। इसलिए उसका लगान 22 प्रतिशत बढ़ा दिया गया। प्रजा ने इसका प्रतिरोध किया। उन्होंने आंदोलन चलाने का निश्चय किया और उसका नेतृत्व सरदार पटेल को सौंपा। आपके नेतृत्व में आंदोलन छिड़ा। कृषकों ने लगान देना बंद कर दिया। सरकार ने बंबई धारा सभा में सारे उपायों का सहारा लेकर आंदोलन को कुचल डालने की धमकी दी। कृषकों के पशुओ और भूमि की जब्ती होने लगी। आपने कृषकों को आश्वासन देना शुरू किया कि "मत घबराओ, जमीन तो चलकर तुम्हारे पास आयेगी।" छः महीने व्यतीत होने पर भी आंदोलन बंद न हुआ। पटेल जैसे वीर एवं साहसी नायक के कारण उनका साहस न टूटा। उनकी व्यवस्था और ठोस कार्य को देखकर बड़े-बड़े नर-रत्न इस युद्ध में उतावले होकर कूद पड़े। कवि-गण गांव-गांव जाकर सुनाने लगे कि—

"विराट रूप हो किसान। स्वराज आज लो किसान।"

आंदोलन ने इतना बल पकड़ा कि राज्यतंत्र तक बंद होने लगा। एक ओर शक्तिशाली सरकार थी दूसरी ओर अहिंसक कृषक थे। उनके अनुशासन, नम्रता, दृढ़ता और श्रद्धा को देखकर सरदार भी गद्‌गद हो उठे थे। 'टाइम्स आफ इंडिया' ने तो सब कुछ देखकर यहां तक लिख दिया था कि बारडोली में 'बोल्शेविज्म' चल रहा है और वल्लभभाई उनके 'लेनिन' हैं।

"आर्य देश के बंबई प्रांत में बारडोली नाम का एक मण्डल है। वहां महात्मा गांधी ने 'बोल्शेविज्म' का प्रयोग करना आरंभ कर दिया है। प्रयोग सफल भी होता जा रहा है। यहां के सारे कल-पुर्जे मंद पड़ गए हैं। गांधी के शिष्य पटेल का बोलबाला है। वही वहां का लेनिन है। स्त्रियों, बालकों और पुरुषों मे एक नई ज्वाला धधक रही है। इस ज्वाला मे राजभक्ति की अन्त्येष्टि-क्रिया हो रही हैं। स्त्रियों में नवीन चैतन्यता भर गई है। वल्लभभाई तो उनके गीतों का विषय हो रहा है। अपने नायक वल्लभभाई मे वे असीम भक्ति रखती हैं। पर इन गीतो मे राज-विद्रोह की भयंकर आग सुलग रही है। उनको सुनते ही कान जलने लगते हैं। यदि ऐसा ही रहा तो निस्सन्देह वहां रक्त की नदियां बहने लगेंगी।"

अंततः सरकार को झुकना पड़ा। उसे कृषकों की मांगें स्वीकार करनी पड़ीं। बारडोली की इस विजय पर समस्त भारत में प्रसन्नता प्रकट की गई। बारडोली के वीर कृषकों की जय-जयकार होने लगी। पटेल को अनेक मानपत्र दिये गये। बारडोली का नाम विश्व के इतिहास में अमर हो गया। वल्लभभाई को गांधी जी ने 'सरदार' की उपाधि से विभूषित किया। उस दिन से वे सचमुच

विभाग की मांग की। सरदार पटेल किसी भी तरह तैयार नही हुए। मुस्लिम लीग को वित्त विभाग लेकर संतुष्ट होना पड़ा।

कतिपय लोगों का कहना था कि सरदार पटेल को हठ नही करना चाहिए था। पर ऐसा कहने वाले शासन-अनुभव से अनभिज्ञ थे। देश मे उस समय साप्रदायिकता की भावना प्रबल थी। पुलिस गृह-विभाग के अधीन होती है। मुस्लिम लीग अधिकार का अवश्य दुरुपयोग करती क्योकि उसने घोषणा कर दी थी कि वह केंद्रीय सरकार को गिराने के लिए ही उसमे सम्मिलित हुई है। लीग विधानसभा की तिथियों को टालना चाहती थी। आपने जनता को विश्वास दिलाते हुए कहा था—"आकाश चाहे गिर पड़े, पृथ्वी चाहे फट जाय, विधान-सभा का अधिवेशन 9 दिसंबर से पीछे नही टल सकता।" आपकी बात पूर्ण हुई।

16 अगस्त, 1946 को 'पाकिस्तान दिवस' मनाया गया। देश-भर मे साप्रदायिक दगे हुए। मि० जिन्ना ने जब यह कहा कि "मुसलमानो की स्वीकृति के बिना स्वतंत्रता दी गयी तो हिंदुस्तान में तलवारें चल जाएगी, खून की नदियां बह जाएंगी।" तब पटेल ने उत्तर दिया था – "तलवार का जवाब तलवार से दिया जायेगा और खून की नदियां बहाने वाले को भी क्षमा नही किया जाएगा।" आपने तब प्रजा को समझाया था कि "आत्मरक्षा के लिए हथियार उठाना हिंसा नही है। अहिंसा निर्बल नही, वीरो का अस्त्र है।"

वायसराय लार्ड माउंटबैटन ने 3 जून 1947 ई० को यह घोषणा की कि भारत 15 अगस्त, सन् 1947 को एक स्वतंत्र राष्ट्र घोषित कर दिया जायेगा और मुस्लिम लीग को पाकिस्तान दे दिया जायेगा। गांधी जी देश-विभाजन की शर्त पर स्वतत्रता लेने को तैयार नही थे। ऐसे तनाव भरे वातावरण मे 14 जून, 1947 को इस योजना पर विचार-विमर्श करने के लिए कांग्रेस ने महासमिति की बैठक बुलायी। सबके हृदय संतप्त थे। भारत का विभाजन होने जा रहा था। उस समय सरदार पटेल उठे। उनका हृदय भी भरा हुआ था। उन्होंने कहा—

"मैं जीवन-भर भारत की एकता के लिए प्रयत्नशील रहा हू। आप सबको इस प्रस्ताव से जो दुःख हुआ है उससे कम मुझे भी नही हुआ। परंतु मेरे दिल में यह बात बैठ गयी है कि इस प्रस्ताव को स्वीकार करना ही पड़ेगा दूसरा कोई मार्ग ही नही है। गत नौ महीनो से देश की शासन-व्यवस्था हम लोग चला रहे हैं। इस काल मे मुझे अत्यंत दुखद अनुभव हुए हैं। मैंने अनुभव किया कि यदि हम यह प्रस्ताव स्वीकार नही करेंगे और गत नौ मास मे देश का शासन जिस तरह चला है और ब्रिटिश शासन ने जिस तरह उसे चलने दिया है वैसा ही यदि अधिक समय तक वह चलता रहा तो मुझे निश्चित भय है कि समूचा भारत पाकिस्तान बन जायेगा। इसलिए यदि सारे भारत को पाकिस्तान बनने से बचाना हो तो इस प्रस्ताव को स्वीकार करके देश को विभाजन का खतरा उठाकर भी

किया तो इस कार्य के संपादन के लिए कांग्रेस कार्यसमिति ने आपको संसद बोर्ड का अध्यक्ष नियुक्त किया। आपके सफल संचालन से ग्यारह मे से सात प्रांतों मे कांग्रेसी सदस्य बहुत बड़ी संख्या में निर्वाचित होकर धारा सभाओं में पहुंचे। वहा कांग्रेस मंत्रिमंडल बने। कांग्रेस के उम्मीदवारों का निर्णय और मंत्रियों के कार्य का निर्देशन आपके हाथ में था। यदि कोई मंत्री कांग्रेस के सिद्धांतो के प्रतिकूल चलता था तो वह वल्लभभाई के कड़े अनुशासन से बच नही पाता था। इस प्रकार कांग्रेस को अनुशासन मे रखने के कठिन कार्य को सरदार ने बड़ी योग्यता से निभाया।

सन् 1942 में गांधी जी ने जब स्वाधीनता के अंतिम युद्ध की घोषणा कर दी कि "अंग्रेजो, भारत छोडो" तो आपने भविष्यवाणी की कि स्वाधीनता का यह युद्ध एक सप्ताह से अधिक नही चलेगा। एक सप्ताह में अंग्रेजों को घुटने टेकने होंगे। सरदार पटेल तथा कांग्रेस कार्य-समिति के अन्य सदस्य गिरफ्तार करके अहमदनगर किले में बंद कर दिये गये और महात्मा गांधी को आगा खां महल में बंद कर दिया गया। सरदार पटेल को आंतों का पुराना रोग कष्ट देने लगा था। वे न लेट सकते थे, न खाना खा सकते थे। बस जल ग्रहण करते थे।

सन् 1945 में महायुद्ध समाप्त हो गया। मित्रराष्ट्र विजयी हुए। भारत के नये वायसराय ने घोषणा की, "समस्या का हल निकालने के लिए 25 जून से शिमला में राजनीतिक नेताओं का सम्मेलन होगा। कांग्रेस कार्य-समिति के सभी सदस्यों की रिहाई के आदेश दे दिये गये। 15 जून 1945 ई० को अन्य नेताओं के साथ आपको जेल से मुक्त कर दिया गया। आपने देखा अंग्रेज स्वतंत्रता देने का संकल्प कर चुके हैं, परंतु मुस्लिम लीग मार्ग में रुकावटें डाल रही है। तब आपने कहा था—

"हम अंग्रेजों से स्वतंत्रता के लिए लड़े हैं, जो मुसलमान मार्ग में रुकावटें डालेंगे, उनसे भी हम लड़ेंगे।"

जेल से छूटने के पश्चात् लार्ड वेवल के साथ शिमला और दिल्ली में कांग्रेस कार्य-समिति के सदस्यों की निरंतर चर्चा हुई। सरदार पटेल ने इसमें सक्रिय भाग लिया। उन्होंने इस बात का सदैव प्रयत्न किया कि समझौते से कांग्रेस के गौरव एवं उसकी परंपरा को ठेस न लगे। परंतु उस सम्मेलन का आधार सांप्रदायिक था इसलिए वह सफल न हो सका। अंततः कांग्रेस-कार्यसमिति ने अंतरिम सरकार में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया।

2 सितंबर, 1946 को केंद्र में अंतरिम सरकार बनी। इसके नेता पं० जवाहरलाल नेहरू हुए। गृह-विभाग सरदार पटेल को सौंपा गया। मुस्लिम लीग पहले तो इसमें सम्मिलित नही हुई; जब शामिल हुई तो उसने अपने लिए गृह-

विभाग की मांग की। सरदार पटेल किसी भी तरह तैयार नही हुए। मुस्लिम लीग को वित्त विभाग लेकर संतुष्ट होना पड़ा।

कतिपय लोगों का कहना था कि सरदार पटेल को हठ नही करना चाहिए था। पर ऐसा कहने वाले शासन-अनुभव से अनभिज्ञ थे। देश मे उस समय सांप्रदायिकता की भावना प्रवल थी। पुलिस गृह-विभाग के अधीन होती है। मुस्लिम लीग अधिकार का अवश्य दुरुपयोग करती क्योंकि उसने घोषणा कर दी थी कि वह केंद्रीय सरकार को गिराने के लिए ही उसमे सम्मिलित हुई है। लीग विधानसभा की तिथियों को टालना चाहती थी। आपने जनता को विश्वास दिलाते हुए कहा था—"आकाश चाहे गिर पड़े, पृथ्वी चाहे फट जाय, विधान-सभा का अधिवेशन 9 दिसंबर से पीछे नही टल सकता।" आपकी बात पूर्ण हुई।

16 अगस्त, 1946 को 'पाकिस्तान दिवस' मनाया गया। देश-भर मे साप्रदायिक दंगे हुए। मि० जिन्ना ने जब यह कहा कि "मुसलमानों की स्वीकृति के बिना स्वतंत्रता दी गयी तो हिंदुस्तान मे तलवारें चल जाएगी, खून की नदिया बह जाएंगी।" तब पटेल ने उत्तर दिया था – "तलवार का जवाब तलवार से दिया जायेगा और खून की नदियां बहाने वाले को भी क्षमा नही किया जाएगा।" आपने तब प्रजा को समझाया था कि "आत्मरक्षा के लिए हथियार उठाना हिंसा नही है। अहिंसा निर्बल नही, वीरो का अस्त्र है।"

वायसराय लार्ड माउंटबेटन ने 3 जून 1947 ई० को यह घोषणा की कि भारत 15 अगस्त, सन् 1947 को एक स्वतत्र राष्ट्र घोषित कर दिया जायेगा और मुस्लिम लीग को पाकिस्तान दे दिया जायेगा। गांधी जी देश-विभाजन की शर्त पर स्वतन्त्रता लेने को तैयार नही थे। ऐसे तनाव भरे वातावरण मे 14 जून, 1947 को इस योजना पर विचार-विमर्श करने के लिए काग्रेस ने महासमिति की बैठक बुलायी। सबके हृदय संतप्त थे। भारत का विभाजन होने जा रहा था। उस समय सरदार पटेल उठे। उनका हृदय भी भरा हुआ था। उन्होंने कहा—

"मैं जीवन-भर भारत की एकता के लिए प्रयत्नशील रहा हूं। आप सबको इस प्रस्ताव से जो दुःख हुआ है उससे कम मुझे भी नही हुआ। परतु मेरे दिल मे यह बात बैठ गयी है कि इस प्रस्ताव को स्वीकार करना ही पड़ेगा दूसरा कोई मार्ग ही नही है। गत नौ महीनों से देश की शासन-व्यवस्था हम लोग चला रहे हैं। इस काल में मुझे अत्यंत दुखद अनुभव हुए हैं। मैंने अनुभव किया कि यदि हम यह प्रस्ताव स्वीकार नही करेंगे और गत नौ मास में देश का शासन जिस तरह चला है और ब्रिटिश शासन ने जिस तरह उसे चलने दिया है वैसा ही यदि अधिक समय तक वह चलता रहा तो मुझे निश्चित भय है कि समूचा भारत पाकिस्तान बन जायेगा। इसलिए यदि सारे भारत को पाकिस्तान बनने से बचाना हो तो इस प्रस्ताव को स्वीकार करके देश को विभाजन का खतरा उठाकर भी

एक कार्यक्रम रखा, जिसमें रियासतों के शासक और उनके प्रमुख सलाहकार आमंत्रित किये गये। सरदार पटेल और रियासत विभाग के सचिव श्री वी० पी० मेनन भी इसमें सम्मिलित थे। यहां भी जो बातचीत चली, उसमे राजाओं को समझाया गया, जितनी जल्दी होवे भारत में रियासतों का विलय कर दें। दो-चार अभिमानी राजा-महाराजाओ ने इस कार्यक्रम का बहिष्कार भी किया, पर बाद में उन्हें इसका महंगा मूल्य चुकाना पड़ा। शीघ्र ही रियासतो मे विलयपत्र भरने की होड़-सी लग गयी। नई दिल्ली की औरंगजेब रोड पर पहले नंबर की वह कोठी, जहां लौह-पुरुष सरदार पटेल रहते थे, कुछ दिनो तक तो राजा-महाराजाओं से भरी रही। सरदार पटेल ने जिस राजा को मिलने के लिए शीघ्र बुला लिया, वह अपने भाग्य की सराहना करता था। सरदार का यह निवास-स्थान उन दिनों पूरे देश के आकर्षण का केंद्र-बिंदु था। विशाल भारत की एकता का नया मानचित्र विभाजन के बाद यहां तैयार हो रहा था।

कुछ ऐसी भी रियासतें थी, जो सरदार को इसी बहाने अपने यहां निमंत्रित कर गौरवान्वित होना चाहती थी। उसके लिए भी सरदार पटेल, श्री मेनन को साथ लेकर रियासतों के तूफानी दौरे पर निकल पड़े। 15 अगस्त, 1947 से पूर्व जूनागढ़, हैदराबाद और कश्मीर को छोड़कर सरदार पटेल के प्रयासों से सभी देशी रियासतें भारत संघ का अभिन्न अंग बन चुकी थी।

दिन-रात सरदार को एक ही धुन सवार थी, कोई रियासत भारत से बाहर न रह जाये। यद्यपि उनका स्वास्थ्य इसकी अनुमति नही देता था, फिर भी वे लगे रहते थे। एक दिन तो उड़ीसा की 28 और मध्यप्रदेश की 18 रियासतों से भारत संघ मे विलय का प्रपत्र उन्होंने भरवाया।

देशी रियासतों को भारत मे मिलाने का जो कठिन कार्य सरदार पटेल को सौंपा गया, उसे पूरा करने मे हाथ उठाने की नौबत तो सिर्फ हैदराबाद मे ही आयी। अधिकांश रियासतों के राजमुकुट तो प्यार से, मुहब्बत से ही उन्होंने भारतमाता के चरणों में उतरवा कर रखवा दिये थे। सरदार ने राजाओं से देशभक्ति और कर्तव्य-बुद्धि दोनों की अपील की। पर रियासतें लेने के बाद भी उनके सम्मान और आदर मे वर्षों तक उन्होंने कोई कमी नही आने दी। क्योंकि सरदार कहते थे, जब इन्होंने देश के लिए त्याग किया है, तो देश भी अपनी उदारता का परिचय देने में कंजूसी नही करेगा। सरदार के शब्दों में यह पांच-छः सौ रियासतें यदि हमारा साथ न देती, तो देश मुसीबत मे फंस जाता। दो तो क्या, न जाने कितने टुकड़े देश के हो जाते और सारी कोशिश मिट्टी मे मिल जाती।

रियासतो के विलीनीकरण की यह प्रक्रिया इतने थोड़े समय में और इतनी सरलता से रक्त की एक बूंद गिराये बिना पूरी हो जायेगी, यह कल्पना भी किसी

को नही थी। पांच हजार वर्ष पहले छोटे-छोटे टुकड़ों मे बंटे भारत को महान भारत बनाने के लिए भगवान कृष्ण को भी संघर्ष का सहारा लेना पड़ा था। पर सरदार के बुद्धि-कौशल से वह अप्रिय इतिहास भी लिखने से बच गया। संविधान सभा मे नेहरू जी ने कहा था, "यह काम सरदार के बूते का ही था, मेरा देशी रियासतो के आंदोलन से सीधा संबंध रहा है। पर छः महीने पहले मैं भी यह नही कह सकता जो आज सैकड़ो साल पुरानी सामंतशाही उखड़ रही है, वह इतनी आसानी से उखड़ जायेगी। मैं समझता हू, इस टेढ़ी और कठिन स्थिति से निबटने के विषय मे यह सभा मुझसे सहमत होगी कि हम पर मेरे मित्र तथा सहयोगी उप-प्रधानमंत्री (सरदार पटेल) का आभार है।"

सरदार पटेल 71 वर्ष के थे, जब वे अंतरिम सरकार में गृह और सूचना व प्रसारण मंत्री के रूप मे आये। वे 72 वर्ष के थे, जब उप-प्रधानमंत्री पद के कार्यों के साथ-साथ उन्होंने देश के विभाजन की समस्याओ से जूझना शुरू किया और रियासतों का भी भार उन्ही पर सौपा गया। उनकी जिंदगी का 73-74 और 75वा वर्ष देश के भू-भाग को एकसूत्र में पिरोने, देश के प्रशासन और संगठन के ताने-बाने को पूरा करने, देश मे शांति स्थापित करने, देश के भविष्य की समृद्धि की नीव रखने और प्रशासनिक, कानूनी और आर्थिक व्यवस्था को नया रूप देने और देश के संविधान का गणतंत्रीय आधार पर निर्माण करने मे बारी-बारी से बीतता गया। इस समय मे ही वे 500 से ऊपर छुटपुट रियासतो को संविधान के अतर्गत लाने मे सफल हुए और जब उनका 75वां वर्ष पूरा हुए केवल छः सप्ताह ही बीते थे कि उनकी आखे मुंद गयी, वे पंचतत्त्वों मे लीन हो गये। इतिहास मे संभवतः ही कोई ऐसा उदाहरण मिले, जब किसी राजनीतिज्ञ या राष्ट्रनिर्माता को सत्तर वर्ष होने पर अपने जीवन के अंतिम तीन-चार वर्षों मे इतनी सफलताएं मिली हो और उसका जीवन महान कार्यों से भरा-पूरा हो। यदि इसके साथ यह बात भी जोड़ दी जाये कि इन वर्षों मे उन्हें हृदय रोग भी घेर चुका था और उनके पेट की बीमारी भी भयंकर हो चली थी, तो उनके जीवन के चार वर्षों की चर्चा कर स्तब्ध रह जाना पड़ता है।

स्वतंत्रता-संग्राम के इस सेनानी के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए, जवाहर लाल नेहरू ने ठीक ही लिखा था—

"स्वातंत्र्य-युद्ध की हमारी सेनाओ के एक महान सेनापति के रूप मे उनको हममे से अनेक व्यक्ति संभवतः सदा स्मरण करते रहेंगे। वे एक ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने संकट काल मे तथा विजयवेला मे सदा ही ठोस और उचित परामर्श दिया। वे एक ऐसे मित्र, सहयोगी तथा साथी थे जिनके ऊपर निर्विवाद रूप से शक्ति की ऐसी मीनार के रूप में भरोसा किया जा सकता था, जिसने हमारे संकट के दिनों मे हमारे द्विविधा मे पड़े हुए हृदयों को पुनः शक्ति प्रदान की।

वह ऐसे शक्ति-स्तम्भ थे जिससे दुर्बल हृदय भी मजबूत हो जाते थे।"

वस्तुतः सरदार पटेल राष्ट्रीय एकता के शिल्पी थे। उन्होने स्वतत्रता-संग्राम में महान कार्य किया। उनका परिस्थिति का अध्ययन सर्वांगपूर्ण होता था। वह बुद्धिवादी राजनीतिज्ञ थे। बुद्धि और कर्तव्य की कसौटी पर जो बात उन्हे ठीक जंचती थी, उसे ही वह मानते थे। उनके शत्रुओं ने भी कभी उनकी देशभक्ति पर संदेह प्रकट करने का साहस नही किया था। कांग्रेस-विरोधियो को वह राष्ट्र-विरोधी मानते थे और इसी दृष्टि से उनके साथ व्यवहार करते थे। विदेशी पत्रकारों ने उनके लिए जो 'भारत के लौह-पुरुष' का प्रयोग किया था, वह सम्यक् ही था। उन्हें जो कहना होता था, उसे वह डंके की चोट कहते थे। वास्तव मे वल्लभभाई पटेल केवल नाम में ही सरदार नही थे वह हमारे दिलो के सरदार भी थे। वह आधुनिक भारत के शक्ति-पुरुष और उस लौह-दंड के प्रतीक थे, जिसे मनु ने 'शासक' की सज्ञा प्रदान की है। नि.सदेह उनका नाम भारत के राष्ट्र-निर्माता और एकीकरण करने वालों के रूप मे इतिहास मे स्वर्णाक्षरों मे लिखा जाएगा।

सुभाषचंद्र बोस

भारतीय स्वाधीनता संग्राम और आधुनिक भारत के निर्माताओ में सुभाष-चन्द्र बोस का नाम सदैव अमर रहेगा। आधुनिक काल में जिन महापुरुषों ने देश-विदेश मे भारतमाता का मस्तक ऊंचा किया है, उनमे नेताजी का विशेष स्थान है। उनका जीवन आरभ से ही बड़ा ओजस्वी, तूफानी और वीरतापूर्ण रहा है। 1857 के स्वतंत्रता-सग्राम के बाद प्रथम बार सेना सजाकर विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न इसी वीर पुरुष ने किया था। उनका 'जयहिन्द' का नारा देश के कोटि-कोटि कंठों मे गूंज उठा। उनका आजाद हिंद सेना का संगठन देश के स्वतन्त्रता के इतिहास का एक अविस्मरणीय अध्याय है।

अपने शौर्य और संगठन शक्ति द्वारा दलित मानवता का उद्धार करने वाली, शिवाजी, वाशिंगटन, गैरी बाल्डी और ट्राट्स्की जैसी विश्व की अमर विभूतियों की कोटि में नेताजी सुभाषचन्द्र बोस का नाम सहज ही गिनाया जा सकता है। महात्मा गांधी के 'भारत छोड़ो' आंदोलन को नेताजी ने अपनी आजाद हिंद फौज के कार्यकलापों द्वारा बहुत शक्तिशाली बनाया, जिसका सगठन करने में उनके इस

आह्वान ने—"आप मुझे अपना खून दें, मैं आपको आजादी दूंगा।" जादू जैसा कमाल दिखाया। यद्यपि विदेशी शासन को उखाड़ फेंकने की कोशिश में सुभाषचन्द्र को तात्कालीन सफलता नही मिली, परंतु स्वतंत्रता के जिस बीज को उन्होंने अपने खून से सीचा था, वह आज शान से फल-फूल रहा है।

सुभाषचन्द्र बोस का जन्म 23 जनवरी, सन् 1897 को उड़ीसा की राजधानी कटक में हुआ था। उनके पिता श्री जानकीनाथ बोस कटक के एक प्रमुख वकील थे। उनकी माता का नाम प्रभावती था। बाल्यकाल से ही सुभाष विचित्र स्वभाव के थे। वे अत्यत मेधावी किंतु साथ ही उद्दड विद्यार्थी थे। उन दिनो सब बड़े लोगों की अभिलाषा रहती थी कि उनके लडके अंग्रेज बनें, अंग्रेजों की तरह अंग्रेजी बोलें और अंग्रेजों के तौर-तरीके सीखें। इसके अनुसार सुभाष को प्रोटेस्टेंट यूरोपियन स्कूल मे दाखिल कर दिया गया। उनके सभी बडे भाई इस स्कूल मे पढ चुके थे। इस स्कूल की विशिष्टता यह थी कि वहा के शिक्षक बहुत अच्छे थे। उनमे से कुछ शिक्षकों के साथ सुभाष का संबंध भी मधुर रहा। परतु गोरे छात्रों के रंग-ढंग सुभाष को अप्रिय लगे। वह उस वातावरण को पसंद नही करते थे, फलतः केवल 8 वर्ष की आयु तक वे इस स्कूल मे रहे। इसके बाद वह रावेनशा कालेज के साथ लगे हुए स्कूल मे भर्ती हुए। उन दिनों स्वदेशी आंदोलन की लहरें बंगाल से उड़ीसा मे पहुंच रही थी। उस स्कूल के एक शिक्षक श्री बेनीमाधव दास का सुभाष पर बहुत प्रभाव पड़ा, क्योंकि वह आदर्श-चरित्र व्यक्ति थे और छात्रों के लिए बडा परिश्रम करते थे। उन्ही दिनों सुभाष पर स्वामी रामकृष्ण परमहंस और विवेकानंद का प्रभाव पड़ा। सुभाष अपने इस आदर्श शिक्षक तथा विवेकानंद के प्रभाव के कारण निर्धनों के प्रति अत्यंत आकृष्ट हुए। वह अपने माता-पिता तथा भाइयो से छिपकर निर्धनों के घर जाते और वहां जो कुछ भी सहायता हो सकती करते। जब-जब महामारी, हैजा, चेचक आदि फैलती थी, तो सुभाष छिपकर ऐसे समय मे गाव जाते थे और लोगों की सेवा करते थे। इस उद्देश्य के लिए उन्होने अपने साथियों की टोली बना ली थी और ये लोग ढूढ़-ढूंढ़ कर लोगों की सेवा किया करते थे।

पर यह अद्भुत बात है कि इस प्रकार बाहर के कार्यों मे पर्याप्त समय देने पर भी वह अपनी पढाई की उपेक्षा नहीं करते थे। 1913 में आपने प्रथम श्रेणी मे सम्मान सहित मैट्रिक पास किया और छात्रवृत्ति प्राप्त की। परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् वह घर से भागकर चले गये। वह ऐसे गुरु की खोज कर रहे थे, जो उन्हें सही पथ प्रदर्शन करे। कई महीनें इधर-उधर भटकने के पश्चात् वह घर लौट आए। वह कई साधुओं से मिले, पर उनकी तृप्ति नही हुई। तीर्थयात्रा की चर्चा करते हुए आपने एक बार कहा था, "मुझे कृष्ण का वह रूप, जो

तीर्थों में पूज्य है, आकर्षित नही कर पाता। मैं तो कृष्ण के उस रूप का पुजारी हूं जो उन्होंने कुरुक्षेत्र के धर्मयुद्ध मे दिखाया था।"

1915 मे आपने प्रेसीडेंसी कालेज कलकत्ता से प्रथम श्रेणी मे एफ० ए० पास किया। बी० ए० मे पढते समय एक विशेप घटना घटी। प्रेसीडेंसी कालेज के मि० सी० एस० ओटन नामक एक अंग्रेजी के प्रोफेसर थे। उनका आचरण भारतीयों के प्रति अपमानजनक था। उसने भारतीयों के प्रति कुछ अभद्र शब्द कहे। स्वाभिमानी सुभाप उसको सहन न कर सके। उन्होंने अन्य छात्रों से मिलकर ओटन पर हमला कर दिया। मि० ओटन पर आक्रमण करने के कारण सुभाप को कालेज से निष्कासित कर दिया गया। कई अन्य छात्र भी इस हमले में सम्मिलित थे, पर पूछे जाने पर भी सुभाप ने किसी का नाम नही लिया और सब दोप अपने ऊपर ले लिया। फलस्वरूप सुभाप को डेढ वर्ष तक बिना पढ़े समय काटना पड़ा। इस समय वह कटक के छात्रों मे सामाजिक सुधार और सांस्कृतिक कार्य करते रहे। सन् 1917 में सर आशुतोप मुखर्जी ने उनका निष्कासन आदेश रद्द किया, तब वह कलकत्ता के स्काटिश चर्च कालेज मे भर्ती हुए। आपने वहां से 1919 मे दर्शनशास्त्र में बी० ए० आनर्स प्रथम श्रेणी मे पास किया।

सुभाप के मन मे एक बेचैनी-सी समाई रहती थी। उन्होंने अपने एक मित्र को पत्र लिखकर अपने मन की स्थिति का यों वर्णन किया था—"प्रतिदिन मेरी यह धारणा दृढ़ होती जा रही है कि मुझे अपने जीवन मे एक उच्च और निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति करनी है। इसके लिए मुझे शरीर और मन को अभी से तैयार करना है।" अपने जीवन का यह महान उद्देश्य अभी तक उनके सामने पूर्णतया स्पप्ट नही हुआ था। किंतु यह बात स्पप्ट थी कि जिस दिशा में उनकी शिक्षा-दीक्षा हो रही थी, उससे उन्हें संतोप नही था। पिता उन्हे आई० सी० एस० पास करने की सलाह दे रहे थे। परंतु देश का वातावरण इन सरकारी सम्मानों के विरुद्ध हो रहा था। गांधी जी के असहयोग आंदोलन से देश में विप्लव-सा फैला हुआ था। जलियां वाला बाग के भयकर हत्याकांड की गूंज अभी शात नही हुई थी। सुभाप का रक्त भी इन घटनाओं को पढ़कर खौलने लगता था। कभी-कभी वह स्वय इस आग मे कूदने का स्वप्न लेते थे। उनका मन एक अफसर बनकर समस्त जीवन अपने पराधीन देशवासियों की पराधीनता की जंजीरों को और दृढ़ बनाने का नही था। फिर भी आप माता-पिता व परिजनों का आग्रह न टाल सके। जाते समय आपने कहा था कि "मैं वहा से गुलामी का नही, आजादी का संदेश लेकर लौटूंगा।"

विलायत के विलासी जीवन को देखकर आपका मन अपने देश की निर्धनता पर और भी खिन्न होने लगा। वह दिन-प्रतिदिन ब्रिटेन की साम्राज्यशाही के, जो भारत की निर्धनता का मूल कारण थी, पक्के शत्रु बनते जाते थे। वहां आपने

एक स्वतंत्र देश का वातावरण देखा। उन्होंने उसकी अपने देश के वातावरण से तुलना की। उनके हृदय में देशभक्ति की ज्वाला और अधिक प्रज्वलित हो उठी।

सुभाष जानते थे कि भारत का इतिहास अत्यंत गौरवशाली रहा है, पर वर्तमान काल में वह दलदल में फंसा हुआ है। अतीत गान करने से या प्राचीन गौरव-गाथा स्मरण मात्र से भारत महान नहीं हो सकता। महान होने के लिए यह आवश्यक है कि अंग्रेजों की भांति परिश्रम किया जाए। हमें साथ ही यह याद रखना चाहिए कि हमें पराधीन देश को अग्रसर करना है।

अगस्त 1920 में वह आई० सी० एस० की परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये। परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद आपने घर लिखा, "दुर्भाग्य से मैं इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया हूं। परंतु, मैं अफसर बनूंगा या नहीं, यह मैं नहीं कह सकता। मुझे लगता है कि मैं अपने देश और ब्रिटिश साम्राज्य, दोनों की सेवा एक साथ नहीं कर सकता। शीघ्र ही मुझे इन दोनों में से एक को चुनना होगा।"

सुभाष ने भारत-मंत्री श्री माण्टेग्यू से साक्षात्कार किया और अपना त्याग-पत्र दे दिया। माण्टेग्यू ने उन्हें पर्याप्त समझाया पर उन पर कोई प्रभाव न हुआ। उन्होंने जो सोच रखा था उससे उन्हें कोई प्रलोभन डिगा न सका। इंडिया आफिस में सर विलियम ड्यूक सुभाषचन्द्र के पिता के परिचित मित्र थे। उन्होंने आपका त्याग-पत्र अपने पास रखकर आपके पिता को पत्र लिखा। आपके पिता ने सर विलियम ड्यूक के पत्र के उत्तर में लिखा, "मैं अपने पुत्र के इस कार्य को गौरव की दृष्टि से देखता हूं। मैंने उसकी इस शर्त को मंजूर करके ही उसे विलायत भेजा था।" इस पत्र को प्राप्त करके सर विलियम ड्यूक स्तब्ध रह गए। उन्होंने सुभाष से पूछा, "नौजवान ! तुम अपने भोजन का क्या प्रबंध करोगे ?"

"मैंने बचपन से दो आने रोज में गुजर करने की आदत डाली हुई है। दो आने मैं पैदा कर लूंगा।" सुभाष ने उत्तर दिया।

सर विलियम सुभाष का मुंह ताकते रह गए।

पिता ने पुत्र को यह लिख भेजा—"जब तुमने देश-सेवा करने का फैसला कर लिया है, तो ईश्वर तुम्हें सफलता प्रदान करे।"

इस पर सुभाष ने जो उत्तर लिखा, वह भी उन्हीं के लायक था। उन्होंने लिखा—"पिताजी, आज मुझे आप पर जितना गर्व हो रहा है, उतना मुझे इससे पहले कभी नहीं हुआ।"

सुभाष ने आराम के जीवन की अपेक्षा देश-सेवा के कठोर मार्ग को ही अपने जीवन का मार्ग चुना। उन्होंने शोषित पीडित स्वराष्ट्र की सेवा के कठिन मार्ग का अनुसरण किया। उस समय महात्मा गांधी के नेतृत्व ने देश को नूतन उत्साह और नया कार्यक्रम दिया था। वह नया कार्यक्रम था—अंग्रेजों के साथ असह-

योग। देश के नेतृत्व के लिए गांधी जी के उदय का वर्णन सुभाष ने इस प्रकार किया है—

सन् 1920 में भारतवर्ष राजनीति के चौराहे पर खड़ा था। विधानवाद की मृत्यु हो चुकी थी और सशस्त्र क्रांति पागलपन के दौर मे थी। शांति की सहमति असंभव थी। देश आंदोलन की नई विधि और नए नेता की खोज मे भटक रहा था। ठीक ऐसे ही समय एक संकल्पवान् व्यक्ति का उदय हुआ और यह व्यक्ति था महात्मा गांधी जो अब तक अपना समय शांति की साधना मे लगा रहा था और अपने लिए शक्ति के संचय मे लगा हुआ था। वह व्यक्ति स्वयं को जानता था और वह यह भी जानता था कि संघर्ष के इस नये युग में नेतृत्व का ताज उसी के मस्तक पर सुशोभित होगा। विनम्रता के दिखावे ने उसे अभिभूत नही किया। उसके स्वर में दृढ़ता थी और लोग उसके झंडे के नीचे थे।

गांधी जी के नेतृत्व ने पूर्ण असहयोग की अवस्था में देश को एक वर्ष में स्वराज्य देने की घोषणा की। सपूर्ण देश मे अपूर्व उत्साह की लहर दौड़ गई। परिणामतः जोश और उत्साह के वातावरण मे लोगों ने अपने बड़े-बड़े पद छोड दिए, सम्मानित उपाधियां छोड़ दी, वकीलों ने अपनी वकालत छोड़ दी, विद्यार्थियों ने स्कूल और कालेज त्याग दिए। कृषको ने मालगुज़ारी देना बंद कर दिया। समग्र देश में अशांति और असंतोष का वातावरण उपस्थित हो गया। ऐसे ही देश-व्यापी असंतोष और उथल-पुथल के युग में भारतीय राजनीति के मंच पर एक नया नक्षत्र अपने लिए स्थान खोजने में संलग्न था। यह नया सितारा था सुभाषचन्द्र बोस।

यौवन के पांव उड-उड कर चलते हैं। जिनके हृदय मे उमंग का स्फुरण हो जाता है, उनके पांवों मे विद्युत की गति समा जाती है। विद्युत की यह गति सुभाष बाबू के पैरो मे भी देखी गई। जब वे 16 जुलाई, 1921 को हवाई जहाज से बंबई पहुंचे तो उतरते ही सीधे मणि-भवन की ओर चल दिए, जहां उन दिनों गांधी जी ठहरे हुए थे। उन्होंने गांधी जी के सामने अपना हृदय खोलकर रख दिया। उन्होंने विशेष रूप से यह जानना चाहा कि देश को स्वतंत्र कराने के लिए उनकी असहयोग योजना का सही रूप क्या होगा। असहयोग का वह सामान्य रूप अंग्रेजों को भारत से निकालने में कैसे सफल हो सकेगा। स्पष्टतः सुभाष कार्यक्रम मे और भी उग्रता चाहते थे। वह राजनीति मे अहिंसा का कोई स्थान मानने के लिए तैयार नही थे। गांधी जी की राजनीति उन्हें बहुत विचित्र और बेजान-सी प्रतीत हुई। वह गांधी जी से मिलकर उनके पास से दुःखी और निराश लौटे।

किंतु, निराशा का यह कुहरा शीघ्र ही दूर हो गया। उन्हें जो गांधी जी से नही मिला था, वह कलकत्ता मे देशबंधु चितरंजनदास से मिल गया। श्री दास गांधी जी के आह्वान पर अपनी अच्छी चलती हुई वकालत को छोड़कर देश-सेवा के

कंटकाकीर्ण मार्ग पर चल पड़े थे। दास साहब को मालूम था कि यह नौजवान आई० सी० एस० को तिनके के समान ठुकरा चुका है। निश्चय ही, यह दो महान आत्माओं का मिलन था। दोनों की यह भेंट ऐतिहासिक सिद्ध हुई। श्री दास ने सुभाष की भावनाओं का आदर किया। उन्होंने मन में समझ लिया कि उन्हें जैसे कर्मठ सहयोगी की आवश्यकता थी, वह उन्हे मिल गया। सुभाष को भी यह लगा कि जैसे गुरु की खोज उसे थी, वह उसे मिल गया।

दास बाबू सुभाष से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने सुभाष को 'नेशनल कालेज आफ कलकत्ता' का प्राचार्य बना दिया। यह कालेज उन विद्यार्थियों के लिए खोला गया था, जिन्हें असहयोग आंदोलन मे भाग लेने के लिए राजकीय शिक्षणालयों से निकाल दिया गया था। यहां सुभाष ने अपने अनथक परिश्रम से इन युवकों का बौद्धिक, मानसिक और शारीरिक स्तर ऊंचा किया। आपने यहां एक स्वयंसेवक सेना का सूत्रपात किया। इस कार्य को कुशलता से करते हुए वे कांग्रेस के संगठन का अध्ययन भी करते जाते थे। वे बंगाल कांग्रेस के संचालन में भी अपनी योग्यता का परिचय दे रहे थे। श्री कालीचरण घोष ने सुभाष की इस क्षमता का वर्णन इस प्रकार किया है—

"राष्ट्रीय महाविद्यालय के प्राचार्य के पद पर कार्य करते हुए ही सुभाष बोस ने सर्वप्रथम बंगाल और भारत में कांग्रेस की गतिविधियों मे क्रियात्मक भाग लिया। प्रातःकाल से लेकर काफी रात तक उन्हें कार्यालय, फाइलों और लोगो के समूह से घिरे हुए देखा जा सकता था जो उनका मार्गदर्शन चाहते थे। उनकी शैक्षणिक-योग्यता, आई० सी० एस० के विद्यार्थी के रूप में यूरोप में उनका प्रशिक्षण; उनकी अथक कार्यशक्ति, उनका निर्दोष नैतिक चरित्र, उनकी दैहिक भव्यता और उनके खादी के स्वच्छ परिधान, इन सबने मिलकर उनके व्यक्तित्व को अत्यंत आकर्षक और पद के लिए उन्हें सर्वथा उपयुक्त बना दिया था।"

सुभाष को अपने विद्यार्थियों में देश के सुन्दर सपने फलित होते दिखाई देते थे और उन विद्यार्थियों को भी सुभाष के रूप मे एक आदर्श हितैषी और मार्गदर्शक के दर्शन होते थे। शीघ्र ही सुभाष के संचालन मे राष्ट्रीय कालेज का सुचारु अनुशासन और मनोयोगपूर्ण शिक्षा का उच्चस्तर चर्चा के विषय बन गए।

सार्वजनिक आदोलन में भाग लेने का प्रथम अवसर आपको तब मिला जब 17 नवंबर, 1921 को प्रिंस आफ वेल्स के स्वागत के विरोध मे कलकत्ते मे आपने प्रदर्शन का नेतृत्व किया। शासन ने जनता को आदेश दिया था कि वह राजकुमार का भव्य स्वागत करे। नेताओं ने हड़ताल का आह्वान किया। कलकत्ता मे इतने सफल-बहिष्कार के पीछे जो असाधारण मस्तिष्क कार्य कर रहा था वह था सुभाषचन्द्र बोस का। सुभाष बाबू के इस बढ़ते हुए वर्चस्व को देखकर अंग्रेजी

सरकार दहल गई। इस प्रदर्शन के अभियोग में सुभाष को छः महीने का कारावास दंड मिला। यह आपकी प्रथम जेल-यात्रा थी।

जेल से छूटने के बाद सुभाष ने युवक संगठन का कार्य हाथ में लिया। कलकत्ता के आर्यसमाज हाल में 'अखिल-बंगला-युवक-समारोह' का आयोजन किया गया था। सुभाष को इस समारोह की स्वागत-समिति का अध्यक्ष बनाया गया था। उन्होंने अपने स्वागत-भाषण मे युवकों को 'कष्ट' उठाकर मातृभूमि की सेवा की प्रेरणा दी। देश की सभी ज्वलंत समस्याओं जैसे स्वदेशी-भावना का प्रसार, भावनात्मक एकता, अस्पृश्यता-निवारण, सार्वजनिक शिक्षा, समाज-सेवा तथा अनुशासन आदि पर सुभाष ने अपने भाषण में प्रकाश डाला। भाषण इतना ओजस्वी था कि श्रोताओं के मन मोहित हो गये।

युवक-संगठन में सुभाष के हाथ उलझे ही थे कि बंगाल में भारी बाढ़ आने के कारण हजारों गांव बह गये। भारी मात्रा में जनहानि एवं पशुहानि हुई। कुछ स्वयं-सेवकों को लेकर आप बाढ़-पीड़ितों की सहायता मे लग गये। बाढ-पीड़ितों की सहायता पर जाने के पूर्व सुभाष और उनके पिता के मध्य जो वार्तालाप हुआ उसका चित्रण श्री हेमेन्द्रनाथ दास ने इन शब्दों में किया है –

श्री जानकीनाथ ने सुभाष से पूछा—

"क्या कहा ? तुम जा रहे हो ? अपने गांव कोदलिया में अपने घर मा दुर्गा की पूजा होगी और तुम नही होगे। क्या तुम नही सोच सकते कि तुम्हारे बिना मुझे कैसा लगेगा?"

सुभाष ने कहा—

"नही पिताजी ! मैं आपके साथ नहीं जा सकता। आप सब गांव जाकर मां दुर्गा की पूजा करें। मैं तो दीन-दुखियो रूपी वास्तविक मां की पूजा करूंगा।"

यह थी सुभाष की धर्म-भावना। कर्तव्य की पूर्ति ही सुभाष के लिए धर्म की साधना थी।

कुछ दिन बाद जब श्री जानकीनाथ बोस संथार पहुंचे तो वे बाढ-पीडितों के लिए सुभाष द्वारा की गई कुशल व्यवस्था को देखकर आश्चर्यचकित रह गए। तब उनके उद्गार थे—

"मुझे यह कहते हुए गर्व होता है कि मैं सुभाष का पिता हूं।"

उन्ही दिनों दास बाबू ने 'स्वराज्य दल' का संगठन किया। विधान सभा मे घुसना चाहिए, इस मत के प्रतिपादक स्वराज्य दल वाले कहलाते थे। सुभाष बोस इस दल के प्रधानमंत्री थे, और इसके मुख्य पत्र 'फारवर्ड' के प्रधान संपादक भी। इस कार्य के लिए सुभाष को दिन-रात एक कर देना पड़ा। बड़े-बड़े अनुभवी पत्रकार भी आपकी योग्यता तथा कार्य-कौशल से दंग रह गये।

जब स्वराज्य दल ने कलकत्ता निगम के चुनाव में भाग लेने का निश्चय किया

तो सुभाष को एकजुट होकर कार्य करना पड़ा । स्वराज्य दल की विजय का श्रेय सुभाष को ही था। दास बाबू निगम के मेयर बन गए और सुभाष को प्रधान कार्यपालक अधिकारी बनाया गया । उस समय सुभाष की आयु केवल 27 वर्ष थी। इस पद का नियत वेतन 3000 रुपये मासिक था। परतु आपने पद ग्रहण करते ही अपना वेतन आधा कर दिया । उस वेतन मे से भी वह निर्धन छात्रों, पीडितों एवं दरिद्र व्यक्तियों को सहायता देते थे। आपके प्रबंध ने निगम की व्यवस्था मे आमूल परिवर्तन कर दिया। सार्वजनिक सडको के नाम बदलकर भारतीय नेताओं के नाम पर रखे गये और स्कूलो मे नि.शुल्क प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गयी । वायसरायों को मानपत्र देना बंद हो गया । उनके स्थान पर राष्ट्रीय नेताओं का अभिनंदन किया जाने लगा।

सार्वजनिक रूप से कार्य करते हुए भी सुभाष किसी न किसी रूप मे क्रांतिकारी दल से सबद्ध रहे । उन्होंने जो स्वयसेवक दल बनाया था, उसके कुछ लोगो ने एक क्रांतिकारी दल बनाया और सुभाष का उस दल के साथ बराबर संबंध बना रहा । सुभाष की इन विप्लवकारी योजनाओं को ब्रिटिश साम्राज्य के लिए विघातक समझकर सरकार ने उन्हें 25 अक्तूबर, 1924 को गिरफ्तार कर लिया ।

गिरफ्तारी के बाद सुभाष पहले कलकत्ता के अलीपुर सेंट्रल जेल मे रखे गए। उसके बाद वह बरहमपुर जेल मे रखे गए, जहा क्रांतिकारी नजरबंद रखे जाते थे। तत्पश्चात् उन्हें बर्मा की मांडले जेल में भेजा गया । वह बर्मा जेल मे इस कारण भेजे गए कि सरकार समझती थी कि भारत में वह जहां भी रखे जाएगे वहा से वह बाहर के लोगों के साथ किसी न किसी प्रकार संबंध कर लेगे। मांडले की जेल उन दिनो धरती पर साक्षात् नरक का उदाहरण थी। यहां पर आकर आपका स्वास्थ्य गिरने लगा और फिर वह बराबर बिगड़ता ही चला गया। डॉक्टरो की चेतावनी पर सरकार ने उन्हें उपचार के लिए स्वीट्जरलैंड जाने की शर्त पर छोड़ना चाहा । सुभाष ने शर्त मानने से मना कर दिया। विवश होकर सरकार को बिना शर्त छोडना पडा। 16 मई, 1927 को तीन वर्ष के कठोर कारावास के बाद आप मुक्त हुए ।

सुभाष के जेलवास में ही दास बाबू की मृत्यु हो चुकी थी। जब वे छूटे, तो उन पर बंगाल के नेतृत्व का पूर्ण भार पड गया । उन्ही दिनों साइमन कमीशन के भारत आगमन का बायकाट आंदोलन चल पडा था। सुभाष ने स्थान-स्थान पर प्रचार कार्य आरंभ किया। वह बराबर पूर्ण स्वराज्य का प्रचार कर रहे थे। सुभाष समझौता-पसंद मनोवृत्ति के विरुद्ध थे। काग्रेस के लखनऊ अधिवेशन मे जब शासन कार्य मे सहयोग देने का प्रभाव 'नेहरू-रिपोर्ट' के रूप में आया तो सुभाष ने कठोर शब्दो में उसका विरोध किया। सुभाष स्वभाव से विद्रोही और

प्रगतिवादी थे। अधिकारों की भिक्षा मांगने और झुकने की नीति से वे कभी सहमत नहीं हुए।

गांधी जी से मतभेद होते हुए भी आप उनके नेतृत्व में चलाये गये सब आंदोलनों में सक्रिय भाग लेते रहे। 21 अप्रैल, 1930 को दूसरे नेताओं के साथ आप भी जेल गए। उन दिनों अलीपुर केंद्रीय जेल में क्रांतिकारियों के साथ दुर्व्यवहार हो रहा था। सुभाष के विरोध करने पर जेल के पठान वार्डरों ने आप पर लाठी प्रहार किया। इससे आप कई घंटे मूर्च्छित रहे। वह सजा पूरी करके छूटे ही थे कि 26 जनवरी, 1931 को एक जुलूस का नेतृत्व करते हुए पुनः गिरफ्तार हुए। 1932 में वह बंबई से लौट रहे थे कि गिरफ्तार कर लिए गए और मार्च 1933 तक नजरबंद रहे। इस प्रकार लगातार जेल में रहते हुए आपका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया। सरकार ने आपको उपचार हेतु यूरोप जाने की अनुमति दे दी।

1935-1936 में आपने यूरोप के अनेक देशों का भ्रमण किया। विदेशों में भ्रमण करते हुए भी आप भारतीय स्वतंत्रता के अनुकूल वातावरण बनाते रहे। वे जर्मनी, बर्लिन, रोम, पेरू, वारसा, इस्तम्बूल, बेलग्रेड और बुखारेस्त आदि स्थानों पर गये। उन्होंने अपनी पुस्तक 'इंडियन स्ट्रगिल' प्रकाशित कराई। उनका विचार था —"भारत को भौतिक और सामाजिक पुनर्निर्माण की आवश्यकता है और उसके लिए एक तानाशाह का शासन होना चाहिए तभी भारतवर्ष में सुधार संभव है। ऐसे दल की सरकार हो जो सैनिक अनुशासन के बंधन से बंधी हो।"

1938 में 41 वर्ष की आयु में सुभाष हरिपुर कांग्रेस के अध्यक्ष नियुक्त हुए। उनकी गिनती अब देश के बड़े नेताओं में होने लगी थी। विदेशों में वह गांधी और जवाहरलाल के बाद सर्वाधिक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ माने जाते थे। उन्होंने कांग्रेस को शक्ति दी और उसमें एकता लाने का प्रयास किया।

महात्मा गांधी की इच्छा के विरुद्ध सुभाष त्रिपुरी कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए। तब गांधी जी ने कांग्रेस छोड़ देने की इच्छा प्रकट की। सुभाष यह नहीं चाहते थे कि उनके कारण गांधी जी को कांग्रेस से बाहर जाना पड़े। इसलिए वह स्वयं कांग्रेस से पृथक हो गये। उन्होंने बाहर आकर 'फारवर्ड-ब्लाक' का संगठन किया। उनमें अदम्य देशभक्ति की जो भावना थी, उसने अपना भिन्न रास्ता खोज लिया।

1939 के सितंबर में द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारंभ हो चुका था। सुभाष ने बहुत पहले ही कहा था कि हमें लाभ उठाकर अंग्रेज सरकार का तख्ता उलटने की तैयारी करनी चाहिए। महायुद्ध छिड़ने पर कांग्रेस ने तत्काल कुछ नहीं किया। उसने केवल अपने मंत्रिमंडलों को इस्तीफा देने के लिए कह दिया। मार्च

1940 में रामगढ़ मे कांग्रेस अधिवेशन हुआ। सुभाष ने रामगढ मे समझौता विरोधी सम्मेलन किया, जो बहुत सफल रहा।

सुभाष बाबू अपने लक्ष्यों के लिए एक दृढ-संकल्प क्रांतिकारी तो थे, किंतु लक्ष्य प्राप्ति की प्रक्रिया के संबंध में दुराग्रही नही थे। उनकी दृष्टि मे सफलता के लिए संगठन अनिवार्य रूप से आवश्यक था और अनुशासित एकता ही लक्ष्य तक पहुंचाने वाला मार्ग थी। किसी निश्चित समय मे किसी एक तरीके का महत्त्व वे आंतरिक तथा अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के संदर्भ मे आकते थे। द्वितीय महा-युद्ध के समय देश तथा विदेश मे उनकी इस नीति और दाव-पेच का सम्यक् प्रमाण मिला।

सुभाष ने हालवेल स्मारक के संबंध में सत्याग्रह शुरू कर दिया। वह भारत रक्षा कानून के अंतर्गत गिरफ्तार कर लिए गए। ऐसे स्वर्णिम अवसर को आप जेल के सीखचों में बद रहकर नही व्यतीत करना चाहते थे। अतएव आपने जेल मे आमरण उपवास की घोषणा कर दी। सरकार ने भयभीत होकर उन्हे घर मे नजरबंद कर दिया। सुभाष की यह अंतिम जेल-यात्रा थी, क्योंकि इसके पश्चात् वह अपने देश से पलायन कर गए।

सुभाष संकट के समय भारतवर्ष से बाहर जाने को क्यों विवश हुए इस संबंध मे उनका कहना था कि—

"अंग्रेज भारत को तब तक स्वतंत्र नही कर सकता जब तक हिंसात्मक क्रांति नही की जाएगी। अंग्रेजों ने किसी भी देश को सरलता मे स्वतंत्र नही किया। युद्ध के समय भारत की जेल मे सड़ने से यह अच्छा है कि मैं विदेश मे रहकर अपने देश के लिए कुछ करू। मुझे ईश्वर में विश्वास है। मैं समझता हू कि भारत के लोग अपनी राजनीतिक भूलों के कारण परेशानी भुगत रहे हैं और इसका केवल यही उपचार है कि हम अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए विदेशी सहायता प्राप्त करें। मुझे भारत का भविष्य दिखाई पड रहा है और हम भारत-माता की रक्षा करने के लिए रक्त की प्रत्येक बूंद बहा देंगे।"

सुभाष पेशावर एवं काबुल होते हुए सकुशल बर्लिन पहुंच गए। वह जर्मन पहुचकर हिटलर से मिले। अग्रेज सरकार को उनके जर्मनी पहुंचने का समाचार उस समय मिला जब अचानक एक दिन जर्मन रेडियो से सुभाष की सिंह-गर्जना सुनाई दी—"हमे अपनी स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए अंग्रेजों से समझौता नही करना है। हमें स्वतंत्रता के लिए भीतर और बाहर दोनों मोर्चों पर लडना है। हमे अपना संघर्ष जारी रखना है और हम अपना उद्देश्य प्राप्त करके रहेंगे।"

जापान से एक भारतीय क्रांतिकारी रासबिहारी बोस का निमंत्रण पाकर आप वहा चल दिये। सुभाष के वहा पहुंचते ही सारे पूर्वी एशिया के भारतीयों मे एक सनसनी फैल गयी। उनके दर्शन से प्रवासी भारतीयों में अदम्य विश्वास

उत्पन्न हुआ। वहा आजाद हिंद फौज लगभग समाप्त हो चुकी थी। सन् 1943 मे एक समारोह मे रासबिहारी बोस ने भाषण देते हुए कहा—

"मैं बूढा हो गया हूं···यह एक मुझसे अधिक जवान व्यक्ति का काम है और सुभाषचन्द्र बोस सौभाग्य से भारत मे जो कुछ भी श्रेष्ठ है, उसका प्रतिनिधित्व करते हैं। मैं आज आजाद हिंद फौज का मुख्य सेनापतित्व सुभाषबाबू को सौंपता हूं।"

सुभाष ने वन्दी भारतीय सैनिकों तथा प्रवासी भारतीयों की एक सुसंगठित सेना बनाई। उसकी प्रार्थना पर प्रवासी भारतीयों ने तन, मन एवं धन से साथ दिया। लाखों रुपये चंदे में आने लगे। एक मुसलमान व्यापारी ने लगभग एक करोड रुपये की सम्पत्ति नकद और हीरे आदि दिए और स्वयं बिल्कुल भिखारी हो गया। इनका जोशीला भाषण सुनकर कई भारतीयों ने अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया। उनके भाषण का एक अंश पठनीय है—

"प्रथम विश्व-युद्ध से ब्रिटिश राजनीतिज्ञ हम लोगों को धोखा देते चले आ रहे हैं। पर अब हम उसे सहन नही कर सकते। बहुत समय से हम लोग अपनी स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करते चले आ रहे हैं। अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने हमारे सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और सास्कृतिक ढांचे को नष्ट कर दिया है। हम जानते हैं कि स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए इस समय जितना अच्छा अवसर है वह आगे सौ वर्षों मे भी न आयेगा। यह हमारा कर्तव्य है कि हम स्वतत्रता-प्राप्ति के लिए रक्त दें। यदि हम स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए त्याग करें तो हम उसे स्थिर भी रख सकेंगे। शत्रु ने तलवार निकाली है अतः हमें भी अब तलवार से लडना पड़ेगा। असहयोग आंदोलन को अब हमें सशस्त्र लड़ाई में बदल देना है।"

आजाद हिंद सेना का इतिहास भारत की स्वतंत्रता के इतिहास मे स्वर्ण अक्षरों में लिखा जायेगा। इससे पूर्व कभी भारत की स्वाधीनता के लिए सेना का इतना संगठन नही किया गया था। अंग्रेज सेना जब मलाया से भागी तो मलाया में सात लाख हिन्दुस्तानी थे। अंग्रेज अफसर इन हिन्दुस्तानी नागरिको को अरक्षित अवस्था में छोड़कर भाग गये थे। इन नागरिकों में से बहुत से जवान आजाद हिंद सेना में भर्ती हो गये।

आजाद हिंद सेना का झंडा तिरंगा ही था 'जयहिंद' इसकी सलामी थी। हिंदू या मुसलमान सब परस्पर 'जयहिंद' कहकर भेंट करते थे। सब सैनिक एक साथ भोजन करते थे। इस सगठन की भाषा हिंदुस्तानी और लिपि रोमन थी। जो लोग इस सेना मे प्रवेश होते थे, उन्हे निम्नलिखित प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करने पड़ते थे।

"मैं स्वयं आजाद हिंद सेना मे भर्ती होता हूं। भारत की स्वतंत्रता के लिए तन, मन, धन न्यौछावर कर देने की दृढ प्रतिज्ञा करता हूं। भारत की स्वतंत्रता के लिए अपने प्राणों की बाजी लगाने को भी तैयार हूं। मैं स्वार्थ को छोड़कर

घृणा, बदले और हिंसा की भावना नही जगती वह जाति इसी योग्य है कि परतंत्र बनी रहे।"

भारतवर्ष में स्वतंत्रता के लिए जो लड़ाई लड़ी जा रही थी उससे अंग्रेजो को हटाना संभव न था। विदेशी सहायता से ही ऐसा संभव था। सुभाष का लक्ष्य था तीन लाख की सेना और 30 करोड़ डालर मुद्रा का प्रबंध करना। वे बर्मा के स्वतंत्रता-समारोह मे भाग लेने रंगून गये। रंगून के प्रसिद्ध जुबली हाल मे उनका भाषण हुआ। हाल ठसाठस भरा हुआ था। लोग अपने प्रिय नेता सुभाष की प्रतीक्षा कर रहे थे। उनके आते ही आकाश 'जयहिंद' और 'नेताजी जिंदाबाद' के नारों से गूज उठा। सुभाष का वह ऐतिहासिक भाषण आज भी स्मरणीय है—

"स्वतंत्रता बलिदान चाहती है। उसके लिए सब कुछ देना है। आपने आजादी के लिए बहुत त्याग किया है, किंतु अभी प्राणो की आहुति देना शेष है। *आजादी को आज अपने शीश-फूल चढ़ा देने वाले पागल पुजारियो की आवश्यकता* है। हमें ऐसे नवयुवको की आवश्यकता है जो अपने हाथों से अपना सिर काटकर स्वाधीनता देवी की भेंट चढ़ा सकें। आप मुझे अपना खून दें, मैं आपको आजादी दूगा।"

हाल में सन्नाटा छा गया। लोगों के हृदय जोश से भर गये। सहसा हाल में *कई नौजवानों ने कहा—"हम ! अपना खून देंगे।"*

इतनी भीड़ को चीरते हुए 17 कुमारियां आगे बढ़ी और उन्होंने अपनी कमर से छुरियां निकालकर अपनी अंगुली पर घाव किया और रक्त बिंदुओ से स्वतंत्रता के प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर किये।

आजाद हिंद सेना के सैनिको ने सुभाष के साथ हिंदुस्तान की मिट्टी को हाथ *मे लेकर यह प्रण किया कि "जब तक हिंदुस्तान स्वतंत्र नहीं होगा, हम पीछे नहीं हटेंगे।"*

अपनी मातृभूमि की ओर निरंतर बढ़ते हुए आजाद हिंद फौज ने बर्मा की सीमा पार कर 18 मार्च 1944 को भारत की धरती पर पैर रखे। सैनिको को अपनी जन्मभूमि का दर्शन करके असीम प्रसन्नता हुई। उन्होंने प्रेम-विह्वल होकर *भारतमाता की मिट्टी को चूमा।* वह बहादुर सेना तब कोहिमा और इंफाल की ओर बढी। डेढ़ वर्ष तक लड़ाई होती रही। सहस्रो सैनिको ने प्राणों की आहुति दी। 'जयहिंद' और 'नेताजी जिंदाबाद' के गगनभेदी नारों के साथ स्वतत्र भारत का झंडा वहां फहराया गया। परंतु हिरोशिमा और नागासाकी पर अमरीकी बम वर्षा ने जापान को हथियार डालने पर मजबूर कर दिया। साथ ही वर्षा के *रूप मे प्रकृति ने ऐसा भयानक रूप ग्रहण किया कि अन्त मे आजाद हिंद सेना को* पीछे हटना पड़ा। बाद में आजाद हिंद सेना के सिपाही कैद कर लिये गये। इन सैनिकों को दिल्ली के लाल किले तथा अन्य स्थानों पर बंदी बनाकर मुकदमे

चलाये गए। मुकदमे से भारत मे जनमत तैयार हुआ। जनता मे जोश उमड़ा। ब्रिटिश फौज मे जो भारतीय थे, उनमे बहुत जोश फैला। सरकार सावधान हो गई। उन्हे नाममात्र सजाएं दी गईं।

रंगून पर अंग्रेजों का पुनः कब्जा होने से पूर्व ही सुभाष बाबू हवाई जहाज से जापान के लिए रवाना हो गये थे। वह हवाई जहाज दुर्घटना का शिकार हो गया। जहाज को आग लगी, वह अग्नि ही भारत के सहस्रों युवको के हृदय-सम्राट् बोस की चिता बन गयी। स्वतंत्रता के दीवाने ने स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करते हुए प्राण त्याग दिये। मृत्यु के कुछ समय पहले उन्होंने अपने साथी से कहा—

"हबीब, मैं अनुभव कर रहा हू कि शीघ्र ही मै मर जाऊगा। मै भारत की स्वतंत्रता के लिए अत तक लडता रहा। मेरे देशवासियो से कहना कि भारत शीघ्र स्वतत्र हो जाएगा। स्वतंत्र भारत चिरंजीवी हो। जयहिंद।"

18 अगस्त 1945 को उन्होने अपना नश्वर शरीर त्याग दिया। निर्भय योद्धा, कर्मवादी दार्शनिक और विलक्षण राजनीतिज्ञ नेताजी उस समय 50 वर्ष के भी नही थे। उनके पार्थिव शरीर से निरंतर उनकी वाणी गूज रही थी— "पराधीन रहना पाप है।"

गाधी जी ने उनके विषय मे सम्यक् ही लिखा है—

"नेताजी का सबसे महान और स्थिर रहने वाला कार्य था सब प्रकार के जातीय और वर्गभेद का उन्मूलन। वह केवल बंगाली ही नही थे। उन्होंने अपने आपको कभी स्वर्ण हिंदू नही समझा। वह आमूलचूल भारतीय थे। इससे अधिक क्या कि उन्होने अपने अनुगामियों मे ही यही आग प्रज्ज्वलित की, जिससे प्रेरित होकर वे उनकी उपस्थिति मे सभी भेदभाव भूल गए थे और एकसूत्र होकर काम करते थे।"

निष्कर्ष यह है कि सुभाषचन्द्र बोस भारतीय स्वाधीनता संग्राम के अद्भुत सेनानी, अप्रतिम योद्धा और भारतमाता के अनन्य भक्त थे। वे एक महान क्रांतिकारी नेता थे। उन्होंने अपने आराम और सुरक्षा की कभी परवाह नही की और अपना समस्त जीवन देश की मुक्ति के लिए समर्पित कर दिया। उन्होंने देश के लिए जो महान त्याग किया वह भारतीय स्वतंत्रता के इतिहास मे स्वर्णाक्षरो मे लिखा जाएगा।

सुरेंद्र मोहन घोष

सुरेन्द्र मोहन उन सहस्रों क्रांतिकारियो मे से एक है जिन्होंने स्वातंत्र्य-संघर्ष मे पूर्ण योगदान दिया तथा इस लक्ष्य की प्राप्ति तक दिन-रात कार्य करते रहे। राजनैतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति हेतु वे हिंसा व शक्ति को आवश्यक मानते थे। संपूर्ण भारतवर्ष के जन-मानस को ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध उद्वेलित करना व क्रांति की अग्नि को धधकाना ही उनके जीवन का लक्ष्य था।

स्वाधीनता संग्राम के महान योद्धा श्री सुरेन्द्र मोहन का जन्म मैमनसिंह जिला (जो अब बगला देश मे है) के एक मध्यवर्गीय परिवार में 22 अप्रैल, 1893 को हुआ था। उनके पिता श्री कामिनी मोहन घोष थे। उनकी माता जिला न्यायालय के प्रमुख वकील श्री चन्द्रनाथ मंशी की पुत्री थी। तीन वर्ष की आयु मे ही माता की छत्रच्छाया सिर से उठ गई। सुरेन्द्र मोहन को बाल्यकाल से ही परमात्मा में अडिग आस्था थी। जब वे बड़े हुए तो उन्होंने अपने परिवार के वरिष्ठ सदस्यों से भारत की प्राचीन एवं गौरवपूर्ण सभ्यता के सबंध मे ज्ञान प्राप्त करना आरंभ कर दिया। रामायण और महाभारत की कथाओ ने उनके मन में ऐसी प्रेरणा उत्पन्न कर दी कि वे भारत के स्वर्णिम अतीत के बारे में ज्ञान प्राप्त करने के लिए अधिक उत्सुक हो गये। धीरे-धीरे उन्होंने यह भी जाना कि अंग्रेजों ने किस कूटनीति से इस देश में अपने पैर पसारे और हमारी मातृभूमि को परतंत्रता की बेडियों मे बाध दिया। इस तरह ब्रिटिश राज्य-सत्ता की दासता से भारतभूमि को मुक्ति दिलाने की प्रबल भावना उनके हृदय मे उभर उठी।

उन दिनो बंगाल में उग्र राष्ट्रवाद फैल गया था। बकिमचन्द्र का 'आनंद मठ' एव वदेमातरम् गीत, स्वामी विवेकानंद के राजनीतिक तथा दार्शनिक भाषण तथा श्री अरविंद के क्रातिकारी लेख सभी नवयुवको के हृदय को उद्वेलित कर रहे थे। सभी ब्रिटिश राज्यसत्ता के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए तैयार हो रहे थे। ऐसे समय में बगाल मे एक नया मोड़ आया। लार्ड कर्जन ने जो बंग-भंग योजना बनाई उससे सारे प्रात मे भूकप आ गया। ऐसे समय मे बगाल की युवा पीढ़ी

विदेशी दासता की बेड़ियों को तोड़ने के लिए एकदम तैयार हो गई। समग्र देश में उग्र राष्ट्रवाद की प्रचंड लहर उभर उठी। सुरेन्द्र मोहन बंग-भंग विरोधी आंदोलन में सक्रिय हो गये। वे सभाओं और प्रदर्शनों मे भाग लेने लगे। कुछ दिनो बाद उन्होंने 'सुहृद समिति' और 'साधना समाज' की सदस्यता ग्रहण कर ली। इन्ही दिनो उन्होंने कई महानतम नेताओं के भी भाषण सुने। श्री विपिनचन्द्र पाल के भाषणों का आपके मन पर गहरा प्रभाव पड़ा। श्री अरविंद के भी आपने दर्शन किये और उनसे अधिक ज्ञान-प्राप्ति की भावना इनके मन मे बलवती हो उठी। वे उस समय के प्रमुख क्रांतिकारी नेता श्री हेमेन्द्र किशोर के संपर्क मे आ गये।

'सुहृद समिति', 'साधना समाज' और ऐसे जितने भी संगठन थे उन सबको सरकार ने अवैध घोषित कर दिया था इसलिए उनकी गतिविधियां स्थगित हो गई, परंतु ये संगठन गुप्त रूप से अपनी बैठकें करते रहते थे। श्री अरविंद के आदेशानुसार यहा पर स्वतंत्रता के लिए संघर्ष की योजनाएं बनती रहती थी। सुरेन्द्र मोहन हेमेन्द्र किशोर के निकटतम पड़ोसी थे। इस कारण उनको यह पता लगता रहता था कि यहा गुप्त रूप से अवश्य ही कुछ हो रहा है। आयु में बहुत कम होने के कारण उनको इन गतिविधियों से अलग रखा जाता था। किंतु शीघ्र ही उन्होंने श्री हेमेन्द्र किशोर का विश्वास प्राप्त कर लिया। उस समय उनकी आयु 14 वर्ष की थी। उन्होंने अपने रक्त से यह संकल्प लिया कि वे सभी आदेशो का पालन करेंगे और जब तक मातृभूमि स्वतंत्र नही होगी तब तक विवाह नही करवायेंगे। उन्होंने यह भी विश्वास दिलवाया कि यदि वे किसी गोपनीय रहस्य को प्रगट करेंगे तो उन्हें मृत्यु-दंड सहना होगा। उस समय की सभी क्रांतिकारी गतिविधियों का मुख्यालय मैमनसिंह नगर में स्थित श्री हेमेन्द्र किशोर का मकान था। उनके दिशा-निर्देशन में और बहुत से व्यक्ति जैसे—आनंद मजूमदार, कामिनी मोहन घोष, हरिकुमार, मणीन्द्र चौधरी, नरेश लाहिड़ी आदि आये। सुरेन्द्र मोहन ने अपने गुणों के बल पर सबका विश्वास प्राप्त कर लिया। कोई भी गुप्त से गुप्त और कठिन से कठिन कार्य उन्हें सौंप दिया जाता था जिसे करने मे वे कभी भी सकुचाते नही थे।

राजनीति में अत्यधिक लिप्त रहते हुए भी उन्होंने अच्छे अंकों मे मैट्रिक की परीक्षा पास की। उसके बाद वे मैमनसिंह स्थित आनंद मोहन कालेज मे प्रविष्ट हो गए। कालेज में सरस्वती पूजा के अवसर पर छात्रों द्वारा अभिनीत 'जूलियस सीजर' नामक अंग्रेजी नाटक मे ब्रूटस की भूमिका इस प्रकार निभाई कि कालेज के एक प्राध्यापक ग्रीन रूम मे दौड़ते हुए आए, और चीखने लगे 'ब्रूटस कहां है' और सुरेन्द्र मोहन को गले से लगा लिया।

सुरेन्द्र मोहन 'जुगांतर दल' के सबसे विश्वासपात्र सदस्य थे। 1908 की

घटना है कि हरिकुमार एक बक्सा भरकर रिवाल्वर, पिस्तौलें तथा कारतूस आदि मैमनसिह से श्री हेमेन्द्र किशोर के लिए लाए। किंतु हेमेन्द्र किशोर के घर पर पुलिस का पहरा था अतएव हेमेन्द्र किशोर के निर्देशानुसार ये शस्त्र श्री सुरेन्द्र मोहन के पास रखे गये। उसी समय जमालपुर में देवी वासंती की प्रतिमा जला दी गई, जिससे स्थिति ने भयानक रूप धारण कर लिया। तभी सब क्रांतिकारियों ने मिल कर स्थिति को सभाला।

1911 मे सुरेन्द्र मोहन अचानक ही बंदी बना लिए गए। उनके घर की तलाशी ली गई तो उनके पास से एक रिवाल्वर बरामद हुआ। पुलिस ने उनके साथ बहुत निर्ममता का बर्ताव किया किंतु उनसे कोई भी जानकारी प्राप्त करने मे सफल नही हो सकी। उन पर अभियोग चलाया गया तथा उन्हें एक वर्ष की कैद की सजा सुना दी गई। 1912 में वे कारावास से मुक्त हो गये। उन्हें एक दम कलकत्ता भेज दिया गया ताकि वे वहां का कार्यभार संभाल सकें। परंतु अलीपुर बम कांड के कारण स्थिति अस्त-व्यस्त हो गई। मुख्य समस्या यह थी कि सभी क्रातिकारी बिखर गए थे। श्री सुरेन्द्र मोहन ने कठिन परिश्रम से सबको इकट्ठा किया। धन व हथियारों का संग्रह किया। धन के लिए इस दल को कई कठिनाइयों का सामना करना पडा। धन की कमी को पूरा करने के लिए कई बार इन्हें डकैतियों का भी सहारा लेना पड़ता।

सुरेन्द्र मोहन बडी निष्ठा से कार्य कर रहे थे परंतु शीघ्र ही उन्हें यह अनुभूति हुई कि इस ढग से भारत में ब्रिटिश-शासन को उखाड़ना मुश्किल है। उन्होंने अपनी कार्यविधि का निर्धारण किया और उस प्रोग्राम को लेकर वे हेमेन्द्र किशोर के पास गये कि उन्हें ये गुप्त गतिविधियां पसंद नही हैं। वे गाव-गाव में घूमकर लोगो को यह समझाना चाहते हैं कि परतंत्रता की बेड़ियों से कैसे हम मुक्त हो सकते है। हेमेन्द्र किशोर उनके बदले हुए विचारों को सुनकर स्तभित हो गये। उन्होंने तर्क के द्वारा सुरेन्द्र मोहन को समझाना चाहा परंतु सुरेन्द्र मोहन टस से मस नही हुए। उन्होंने उनकी योजना को पढा परतु कोई उत्तर नही दिया।

सुरेन्द्र मोहन अपने गांव में वापिस आ गये। उनके नाना की मृत्यु हो गई थी इसलिए उन्हें प्रचुर धनराशि मिली। यदि वे चाहते तो भोग-विलास का जीवन व्यतीत कर सकते थे परतु उस स्वतंत्रता के दीवाने को सासारिक जीवन-यापन पसंद ही नही था। उन्होंने ग्राम-ग्राम में पदयात्रा आरंभ कर दी। वे गाव में जाकर लोगों को राजनीतिक-दासता और जमीदारों व अंग्रेजी राज्यसत्ता के जुल्मों से अवगत कराते थे तथा उनमे देशभक्ति की भावना को जागृत कराते थे। उन्होंने रात्रि-पाठशालाएं खोल दी जिनमें लोगों को इतिहास, भूगोल व धर्म की शिक्षा दी जाती थी। इससे लोगों का ज्ञान बढ़ा और हिंदू-मुस्लिम एकता में

सहायता मिली। हेमेन्द्र किशोर एक वर्ष तक सुरेन्द्र मोहन की गतिविधियों को देखते रहे; उसके बाद उन्होंने नरेश चौधरी नामक क्रांतिकारी को उनकी गतिविधियां देखने के लिए भेजा। वे सुरेन्द्र मोहन के घर ठहरे। उन्होंने रात्रि में सुरेन्द्र मोहन के घर पर होने वाले भजन-कीर्तन में भी हिस्सा लिया। उस समय उनकी लगभग 500 व्यक्तियों से भेंट हुई। नरेश चौधरी को यह स्वीकार करना पड़ा कि क्रांतिकारी गतिविधियों के साथ-साथ जनसंपर्क अधिक आवश्यक है। हेमेन्द्र किशोर पर भी इस बात का प्रभाव पड़ा और उन्होंने पूरे जिले के लिए यही कार्यक्रम स्वीकार कर लिया। सुरेन्द्र मोहन द्वारा आरंभ की गई इन्हीं गतिविधियों का यह परिणाम था कि वे 1920 में जब कांग्रेस में सम्मिलित हुए तो उन्हें 50 लाख से भी अधिक जनसंख्या वाले मैमनसिंह जिले को कांग्रेस की पताका के नीचे लाने में कोई कठिनाई नहीं हुई, जबकि यहां 75 प्रतिशत मुसलमान थे। मुस्लिम-जनसंख्या के इतने अधिक होते हुए भी यहां मुस्लिम लीग का कोई कार्यालय नहीं था। सुरेन्द्र नाथ यहां के सर्वमान्य नेता थे।

प्रथम विश्व-युद्ध के समय ब्रिटिश सरकार व्यस्त थी; उस समय 'जुगांतर दल' ने अपने आंदोलन को और तेज कर दिया। जर्मनों की सहायता से उन्होंने बहुत से हथियार इकट्ठे कर लिए। सुरेन्द्र मोहन इस समय में भूमिगत रहे और उन्होंने कई संगठन बना लिए थे जिसके कारण उन्हें बंदी बना लिया गया। 1916 से 1920 तक वे बंदी रहे। इस समय में उन्होंने इतिहास और दर्शन का गहन अध्ययन किया। वे 'बाईबिल' और 'कुरान' के अध्ययन में भी पीछे नहीं रहे। कारागार में ही उन्हें समाचार पत्रों के द्वारा 'जलियावाला बाग कांड', 'खिलाफत आंदोलन' और 'रौलेट एक्ट' की जानकारी मिल गई। इससे उन्हें यह विदित हो गया कि कांग्रेस एक जन-आंदोलन शुरू कर रही है। उन्होंने स्थिति का गहन अध्ययन करके यह निश्चय किया कि वे जेल से निकलते ही कांग्रेस में शामिल हो जायेंगे। उस समय महात्मा गांधी का अहिंसा और असहयोग आंदोलन बहुत तेजी पर था। मैमनसिंह जिला भी इस आंदोलन में अग्रगण्य था।

'जुगांतर पार्टी' ने यह सोचा कि सुरेन्द्र मोहन कारागार से मुक्त होकर कांग्रेस पार्टी में शामिल हो जायेगा। सुरेन्द्र मोहन को मैमनसिंह से एक कार्यकर्ता का तार मिला इसलिए वे मैमनसिंह पहुंच गये। वहां पहुंच कर उन्होंने देखा कि वहां की जनता में ब्रिटिश-विरोधी भावनाओं का ज्वार-भाटा उठ खड़ा हुआ है और कांग्रेस के नेता बिल्कुल चुप है। सुरेन्द्र मोहन ने कांग्रेसी नेताओं की बैठक का आयोजन किया और कार्यालय का काम स्वयं संभाला। उन्होंने प्रतिदिन ही 700-800 स्वयंसेवकों के लिए भोजन की भी सुचारु व्यवस्था की। नागपुर प्रस्ताव के बाद गांधी जी कलकत्ता आए। उन्होंने सब क्रांतिकारियों को कहा

कि वे एक साल के लिए अपना आंदोलन स्थगित कर दें। क्रांतिकारी इस बात पर सहमत हो गये।

लार्ड रीडिंग ने प्रिंस आफ वेल्स के कलकत्ता आगमन पर उनका बहिष्कार न किए जाने की स्थिति में कांग्रेस को कुछ सुविधाएं देने का प्रस्ताव किया था। किंतु वायसराय के इस अनुरोध को नेताओं ने ठुकरा दिया और कलकत्ता मे प्रिंस आफ वेल्स के आगमन पर बहिष्कार किया गया। सारे देश मे आदोलन फैल गया था। परंतु इसी समय 12 फरवरी 1922 को गोरखपुर मे शांतिपूर्ण सत्याग्रहियों पर पुलिस ने गोली चलाई। इससे क्रुद्ध होकर लोगों ने 22 पुलिस के लोगों को जीवित जला दिया। गांधी जी ने आंदोलन को स्थगित करने की घोषणा की थी। देशबंधु चितरंजनदास उस समय जेल में थे। वे इस निर्णय से क्षुब्ध हो उठे। उन्होंने सुरेन्द्र मोहन को जेल मे भेंट करने के लिए बुलाया और कहा कि वे कांग्रेस महासमिति की दिल्ली मे होने वाली बैठक मे इस निर्णय का विरोध करें।

सुरेन्द्र मोहन के हृदय में श्री चितरंजनदास के प्रति गहन आस्था और श्रद्धा थी, किंतु वे बहुत सिद्धांतवादी व्यक्ति थे। नागपुर मे असहयोग प्रस्ताव के पारित होने के तुरंत बाद ही देशबंधु जब मैमनसिंह गये तो सुरेन्द्र मोहन जी ने उनके स्वागत का रेलवे स्टेशन पर ही भव्य आयोजन किया था। दूसरी बार वे महात्मा गांधी के आह्वान पर वकालत छोडकर आये तो उन्होंने मैमनसिंह मे तिलक स्वराज्य कोष के लिए धन इकट्ठा करना चाहा परंतु उन्हे सफलता न मिली। जब देशबंधु निराश हो गए तो सुरेन्द्र मोहन ने एक ही दिन मे बीस हज़ार रुपया इकट्ठा कर लिया।

देशबंधु द्वारा बंगाल के मुस्लिम नेताओं के साथ किया गया बंगाल पैक्ट जब प्रकाशित हुआ तो उसका सभी क्षेत्रों ने विरोध किया। सुरेन्द्र मोहन ने भी इसका विरोध करने का निश्चय किया। उनका यह मत था कि इस पैक्ट के द्वारा मानो दास निम्न जाति के हिंदुओं से यह कह रहे है कि सवर्ण हिंदू उनसे समानता का वर्ताव न करें तो वे मुसलमान हो जायें। वह देशबंधु से मिले और उनके साथ विचार-विमर्श किया। तब सुरेन्द्र मोहन ने भी पैक्ट को समर्थन देना स्वीकार कर लिया, बल्कि देशबंधु ने सुरेन्द्र मोहन को ही इस पैक्ट को पास करवाने का भार सौंप दिया। यह सुरेन्द्र मोहन का ही काम था जिन्होंने गुण्डों का मुकाबला करके इस पैक्ट को पास करवाया।

तारकेश्वरी आंदोलन की सफलता भी सुरेन्द्र मोहन के प्रचंड संगठन एव कौशल का उदाहरण है। *यहां का महंत गुण्डों के बल पर यात्रियो को सताता था* तथा महिलाओं से छेड़छाड़ करता था। इससे निपटने के लिए सुरेन्द्र मोहन ने देशबंधु के नेतृत्व मे एक सत्याग्रह समिति का गठन किया। इस अवसर पर सुरेन्द्र

मोहन ने सत्याग्रह के लिए बंगाल के सभी क्रांतिकारी गुटों को इकट्ठा किया। अंत मे महंत ने देशबंधु के समक्ष क्षमा मागी, समझौता किया और उसने अपनी जमीदारो एक मदिर समिति को सौप दी।

तारकेश्वरी आंदोलन के बाद 'स्टेट्समैन' और 'लंदन टाइम्स' मे यह समाचार प्रकाशित हुआ कि चितरंजन दास ने यह वक्तव्य जारी किया है कि सरकार को बंगाली क्रांतिकारियों की शक्ति और गुप्त तैयारियों की जानकारी नही है। इस समाचार से केवल भारत मे ही नही बल्कि लंदन में भी सनसनी फैल गई। एक पत्र के संपादक ने तो यहा तक लिखा कि सी० आर० दास ने क्रांतिकारी षड्यंत्र रचने के लिए सुरेन्द्र मोहन को कुछ लाख रुपये दिए हैं और वे स्वयं यूरोप जाने की तैयारी कर रहे है।

यह वार्ता अभी चल ही रही थी कि एक अध्यादेश लागू हो गया और सुरेन्द्र मोहन को बंदी बना लिया गया। उन्हें पहले अलीपुर के केंद्रीय कारागार में और उसके बाद मिदनापुर जेल मे रखा गया। लगभग दो मास बाद उन्हें श्री सुभाषचन्द्र एवं सत्येन मित्र सहित मांडले जेल मे भेज दिया गया।

मांडले जेल मे सुरेन्द्र मोहन और उनके साथी सक्रिय रहे। वहां भी उन्होंने क्रातिकारियों के साथ संबंध स्थापित रखा। उन दिनों बर्मा भी प्रशासनिक दृष्टि से भारत का ही अंग था। वहां 'फुंगी' उत्तम जो अराकानी थे, इसी प्रकार लोकप्रिय थे जिस प्रकार भारत मे गांधी जी थे। उनका नाम बताकर और यह कहकर कि 'फुंगी' उत्तम का बंगाल के क्रांतिकारियों से मैत्रीपूर्ण संबंध है सुरेन्द्र मोहन और सुभाषचन्द्र ने बर्मी राजनीतिक बंदियो से मित्रता स्थापित कर ली। सुरेन्द्र मोहन ने यहां बौद्ध धर्म का भी अध्ययन किया। वार्षिक बौद्ध पर्व के अवसर पर राजनीतिक बंदियों को ढील दी जाती थी और उनको सभी संगठनों से मिलने तथा भोजन करने की स्वतंत्रता थी। ऐसे ही अवसर पर सुभाषचन्द्र और सुरेन्द्र मोहन ने एक स्थानीय एडवोकेट से अपना संपर्क बनाया और उसके माध्यम से संदेश भेजने शुरू कर दिए।

जेल में रहते हुए ही सत्येन मित्र सेंट्रल असेंबली के लिए निर्वाचित हो गये थे इसलिए उन्हें जेल से मुक्त कर दिया गया। बाद में सुभाषचन्द्र का भी स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया था इसलिए उन्हे भी मुक्त कर दिया गया। सुरेन्द्र मोहन का भी स्वास्थ्य बिगड़ रहा था परंतु उन्हें मुक्त नही किया गया अपितु स्थानांतरित किये जाने का आदेश जारी किया गया। इसी कारागार मे महात्मा गांधी को भी रखा गया था। परंतु जल्दी ही सुरेन्द्र मोहन को कलकत्ता जेल में भेज दिया गया जहां तीन-चार मास रहने के बाद 1928 मे उन्हे रिहा कर दिया गया।

जेल से रिहा होने के बाद जब सुरेन्द्र मोहन सुभाषचन्द्र । मिले तो उन्होंने उन्हें कलकत्ता मे ही छः मास तक रहने का आग्रह किया। परंतु सुरेन्द्र मोहन ने कहा

कि वे एक मास के लिए अपने जिले मैमनसिंह जाना चाहते है जिससे कि वे अपने जिले को संगठित कर सकें। इसलिए वे मैमनसिंह वापस चले गये। वहां इन्होंने देखा कि कांग्रेस का संगठन बिल्कुल अस्त-व्यस्त है, कोष की कमी है। पर्याप्त विरोध के होते हुए भी उन्होंने कोष इकट्ठा किया और कांग्रेस का पुनर्गठन किया।

अभी सुरेन्द्र मोहन मैमनसिंह नगर में कांग्रेस के संगठन कार्य में ही व्यस्त थे कि उन्हें कलकत्ता अधिवेशन के कारण पुनः कलकत्ता आना पड़ा। कलकत्ता कांग्रेस अधिवेशन का मुख्य विषय 'डोमीनियन स्टेट्स' और स्वतत्रता ही था। अधिवेशन की अध्यक्षता नेहरू रिपोर्ट के लेखक मोती लाल नेहरू ने करनी थी। महात्मा गांधी भी नेहरू रिपोर्ट के पक्ष में थे, परंतु स्वराज्य पार्टी नेहरू रिपोर्ट की विरोधी थी। मोती लाल नेहरू कलकत्ता अधिवेशन में ही इसे पास करवाना चाहते थे किंतु यह कार्य सरल नही था। इसलिए इन्होंने गांधी जी का सहारा लिया। मतदान से एक दिन पहले गांधी जी ने श्री आयंगर, जवाहर लाल व सुभाष बाबू को विचार-विमर्श के लिए बुलाया। गांधी जी का व्यक्तित्व इतना महान था और वार्ता का ढंग इतना प्रभावशाली था कि वे अपने विरोधियों को सरलता से जीत लेते थे। इसलिए इन लोगों ने रिपोर्ट का विरोध न करने की सहमति व्यक्त की। किंतु सुरेन्द्र मोहन के नेतृत्व में क्रांतिकारी इसके विरोध पर डटे रहे और क्रातिकारियों ने अपनी एक बैठक में निश्चय किया कि विरोधी पक्ष का नेतृत्व सुभाष चन्द्र बोस करेंगे। महर्षि अरविन्द के निष्ठावान अनुयायी सुरेन्द्र मोहन ने, जिन्होंने 1907 में ही स्वतंत्रता को अपना लक्ष्य घोषित किया था, इस सपूर्ण काड में प्रमुख भूमिका निभाई और बंगाल व उसके असंख्य क्रातिकारियों की प्रतिष्ठा व सम्मान को ध्यान मे रखते हुए सुरेन्द्र मोहन ने गांधी जी व नेहरू रिपोर्ट का विरोध किया। कलकत्ता कांग्रेस के एकदम बाद जब जवाहर लाल सुभाषचन्द्र के साथ ठहरे तो सुभाष बाबू ने सुरेन्द्र मोहन का परिचय उनसे कराया। जवाहर लाल जी की प्रतिभा से सुरेन्द्र मोहन प्रभावित हुए। लाहौर कांग्रेस में जब 31 दिसंबर 1929 को 'पूर्ण स्वतंत्रता' संबंधी प्रस्ताव पास हुआ तो गांधी जी बहुत प्रसन्न हुए। सुभाष चन्द्र उस समय जेल में थे परंतु वे पैरोल पर रिहा होकर इस अधिवेशन मे सम्मिलित हुए। कलकत्ता वापस आकर सुरेन्द्र मोहन को सुभाषचन्द्र बोस का सीलबंद लिफाफा मिला जिसमे उन्होने आगामी कारपोरेशन के चुनावो और बंगाल मे स्वय-सेवक आदोलन के गठन के संबंध मे सुझाव दिए थे। सुरेन्द्र मोहन ने एकदम स्वयं-सेवकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की और जिला स्तर पर स्वयं-सेवकों की भर्ती का काम शुरु कर दिया।

कांग्रेस कार्यसमिति ने 'सविनय अवज्ञा' आदोलन का निर्णय लिया और

गांधी जी को इस अभियान का नेतृत्व सौंपा। इसके अनुसार गांधी जी ने 12-मार्च, 1930 को गुजरात के सागर के किनारे स्थित डांडी नामक गांव में जाकर नमक बनाने व सत्याग्रह करने के लिए प्रस्थान किया। 350 कि० मी० लंबी इस पदयात्रा में सहस्रों व्यक्ति कूद पड़े। सुरेन्द्र मोहन 'जुगांतर पार्टी' व 'बंगाल स्वयं-सेवक संगठन' के नेता थे। वे इस संबंध में आश्वासन प्राप्त करना चाहते थे कि यदि इस आंदोलन के समय कोई हिंसा भड़क उठी तो गांधी जी आंदोलन को स्थगित नहीं करेंगे। सुरेन्द्र मोहन ने अपने एक साथी को भेजकर स्थिति का अध्ययन कर लिया कि आंदोलन के स्थगन का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए उन्होंने आंदोलन का कोई विरोध नहीं किया और सभी प्रांतों में यह आंदोलन उभर उठा।

इसी अवधि में 'साइमन कमीशन' की रिपोर्ट की घोषणा की गई, जिसका कांग्रेस ने बहिष्कार किया। लंदन में 'गोलमेज' कांफ्रेंस हुई जो कांग्रेस का योगदान न होने के कारण सफल नहीं हुई। दूसरा 'गोलमेज' सम्मेलन भी किया गया जिसमें गांधी जी ही एकमात्र प्रतिनिधि थे। किंतु यह भी निष्फल रहा। गांधी जी को बंदी बना लिया गया और जिससे दमन-चक्र चला। बहुत से व्यक्ति शहीद हुए, कई गंभीर रूप से घायल हुए। यद्यपि सुरेन्द्र मोहन को आंदोलन आरंभ होते ही बंदी बना लिया गया था तो भी उन्होंने आंदोलन की विस्तृत रूपरेखा बना ली थी। सुरेन्द्र मोहन मोती लाल नेहरू से भी मिले और उन्हें अपने सत्याग्रह तथा अपनी अन्य योजनाओं के बारे में बताया। मोती लाल नेहरू उनकी बातों से बहुत प्रभावित हुए।

कलकत्ता लौटने पर सुरेन्द्र मोहन ने सभी स्थानों का दौरा करने का कार्यक्रम बनाया। परंतु उन्हें अगले दिन ही प्रातः बंदी बना लिया गया और उन्हें प्रेसीडेंसी जेल में नजरबंद कर दिया गया। वहां से आपका स्थानांतर भूटान सीमा पर स्थित बक्सर-नजरबंदी शिविर में कर दिया गया। कुछ समय वहां रहने के बाद उन्हें त्रिचिरापल्ली जेल में भेज दिया गया। वहीं लाहौर षड्यंत्र कांड के दो बंदी 'बटुकेश्वरदत्त व कुंदन लाल भी थे। यद्यपि उन दोनों को पृथक-पृथक रखा गया तो भी सुरेन्द्र मोहन ने अवसर निकाल ही लिया। सुभाष बाबू जबलपुर जेल में थे और उन्हें वहां से नैनी जेल भेज दिया गया था। सुरेन्द्र मोहन ने अपने संपर्क सूत्रों के द्वारा सुभाष बाबू को यह संदेश भिजवाया कि वे बिगड़ते हुए स्वास्थ्य को आधार बनाकर विदेश-यात्रा का प्रोग्राम बनायें। सुभाष बाबू ने जब धन की कठिनाई बताई तो सुरेन्द्र मोहन ने उसके समाधान का भी आश्वासन दिया। स्वास्थ्य के आधार पर सुभाष बाबू का केस तैयार किया गया और उन्हें बाहर जाने का विकल्प दे दिया गया। सुभाष बाबू ने इस निर्णय को स्वीकार कर लिया।

ज्योंही मद्रास षड्यंत्र कांड आरंभ हुआ सुरेन्द्र मोहन को राजमुन्द्री जेल में भेज दिया गया किंतु वहां भी सुरेन्द्र मोहन ने जेल के बाहर की गतिविधियों से संपर्क बनाए रखा। सुरेन्द्र मोहन को राजमुन्द्री से दमोह जिले में स्थानातंरित कर दिया गया। इसी बीच 1935 के अधिनियम के अंतर्गत प्रान्तीय स्वायतत्ता की घोषणा हो गई। काग्रेस चुनाव में जीत गई और कई प्रान्तों में उसने सत्ता ग्रहण कर ली।

1937 का समापन हो रहा था। लोगों में उत्तेजना बढ रही थी। तभी मध्य प्रान्त व बरार के मुख्यमंत्री दमोह जेल में राजनीतिक बंदियों से वार्ता करने आए। उन्होंने सुरेन्द्र मोहन को बताया कि उनको बापू ने ही भेजा है परंतु सुरेन्द्र मोहन को बहुत गुस्सा आया। उन्होंने कहा गांधी जी को उनके पत्र पर ध्यान देना चाहिए था जो गांधी-इर्विन समझौते से पहले उन्हे भेजा गया था। यदि गांधी जी ने उस पत्र की उपेक्षा की तो वे भी गाधी जी के किसी प्रस्ताव को नही मानेंगे।

दमोह जेल में सुरेन्द्र मोहन बेरी-बेरी रोग से ग्रस्त हो गए। वहां से उन्हें हिजली जेल भेजा गया तथा वहां से खडगपुर जेल ले जाया गया। वहां बंगाल के गवर्नर से भी उनकी वार्ता हुई परंतु वह निष्फल रही। पुनः उन्हें हिजली जेल लाया गया। लबी बीमारी के कारण अब वे बिस्तर से उठ नही सकते थे। उनके लिए एक मैडिकल बोर्ड बनाया गया परंतु उसमें एक यूरोपियन सिविल सर्जन को शामिल करने का सुरेन्द्र मोहन ने विरोध किया। इसी जेल में गाधी जी भी उनसे मिले। वे क्रातिकारियों से यह वचन लेना चाहते थे कि वे अंडमान के बंदियों की रिहाई के लिए हिंसा का मार्ग त्याग दें। वचन दें और उस वचन का पालन करें। गांधी जी के इस कथन पर सुरेन्द्र मोहन भड़क उठे।

हरीपुरा काग्रेस अधिवेशन के बाद सुरेन्द्र मोहन को कारावास मे रिहा कर दिया गया। बाहर आकर उन्होंने देखा कि बगाल की राजनीति में बहुत परिवर्तन आ गया है इसलिए उन्होंने बंगाल के मुस्लिम नेताओं से वार्ता करने का निश्चय किया। उन्होंने मुस्लिम नेताओं के समक्ष काग्रेस के साथ संयुक्त मंत्रिमंडल के गठन का प्रस्ताव रखा। अन्त मे मुस्लिम नेता संयुक्त मंत्रिमंडल बनाने पर सहमत हो गए। सुभाष बाबू और गांधी जी ने भी इसमें अपनी सहमति प्रगट की। इस तरह सुरेन्द्र मोहन का परिश्रम सफल हुआ।

गांधी जी के आह्वान पर सत्याग्रह करने से पूर्व सुरेन्द्र मोहन पांडीचरी गए। महर्षि अरविन्द ने युद्ध-कोष मे 500 रु० दिए थे। किंतु उनसे वार्ता के बाद सुरेन्द्र मोहन के सशय नष्ट हो गए। सुरेन्द्र मोहन ने गाधी जी को एक पत्र लिखा और उनसे भेंट करने सेवाग्राम गए। वहां पर इस विषय पर दोनों की विस्तार से बातचीत हुई।

सत्याग्रह करने के बाद सुरेन्द्र मोहन मैमनसिंह में बंदी बना लिए गए। उन्हें एक वर्ष की सजा दी गई परंतु यह अवधि बीतने पर भी उन्हें नजरबंदी अधिनियम के अंतर्गत बंदी बनाकर रखा गया। इनकी अनुपस्थिति में 'जुगांतर पार्टी' की सक्रिय सदस्या श्रीमती लावण्य प्रभा दत्त को पश्चिम बंगाल कांग्रेस की अध्यक्षा बनाया गया।

दंडित होने के बाद सुरेन्द्र मोहन अलीपुर जेल और वहां से जलपाईगुडी भेजे गए। यहां पर वे 500 सत्याग्रहियों की कक्षाएं लेते थे। 1942 के आंदोलन के समय सुरेन्द्र मोहन कारागार में थे किंतु विभिन्न स्थानों के कार्यकर्ताओं से संपर्क रखते रहे। जेल से रिहा होने के बाद वे प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष बने क्योंकि श्रीमती प्रभा दत्त ने इस पद से त्याग-पत्र दे दिया था।

भारत से अदृश्य होने के बाद सुभाषचंद्र बोस जर्मनी चले गए थे; वहां से वे 12 जून, 1943 को जापान पहुंचे। आजाद हिंद फौज अस्त-व्यस्त हो गई थी। उन्होंने उसका कार्यभार सम्भाला। बंगाल में भी आजाद हिंद फौज की सहायतार्थ सुरेन्द्र मोहन के नेतृत्व में एक समिति का गठन किया गया। बंगाल असेम्बली के निर्वाचन होने के बाद सुरेन्द्र मोहन ने बंगाल में संयुक्त मंत्रिमंडल के गठन हेतु मुस्लिम नेताओं से वार्ता चलाई किंतु मुस्लिम लीग ने अकेले ही मंत्रिमंडल का गठन किया। उन्ही दिनो जिन्ना ने घोषणा की कि हम भारत का विभाजन कराएंगे या विनाश करेंगे। मुस्लिम लीग ने 16 अगस्त को 'सीधी कार्यवाही' दिवस मनाने की घोषणा की। 15 अगस्त को सुरेन्द्र मोहन ने सभा की और बंगाल सरकार की कड़ी आलोचना की कि वह सांप्रदायिक उपद्रवों को बढावा दे रही है।

16 अगस्त को मुस्लिम लीग की सभा के समाप्त होने के बाद उपद्रव फैल गया। सुरेन्द्र मोहन ने अपनी जान को खतरे में डालकर उपद्रवग्रस्त इलाकों का दौरा किया परंतु उसका कुछ असर नही हुआ। सुरेन्द्र मोहन ने समझ लिया कि अब अहिंसा ही सही औषधि नही है। उन्होंने वीर युवकों का एक दल तैयार किया, उन्हें हथियार दिए और उन्होंने कार्यवाही आरंभ कर दी। कलकत्ता में भी विपुल नरसंहार हुआ। सुरेन्द्र मोहन ने स्थिति का अध्ययन किया और दिल्ली आकर महात्मा गाधी से मिले और उन्हें स्थिति से अवगत कराया।

16 फरवरी, 1946 की ब्रिटिश प्रधानमंत्री क्लीमेंट एटली द्वारा की गई घोषणा के अनुसार सत्ता परिवर्तन के लिए एक मिशन भारत भेजा गया परंतु उस मिशन के प्रस्तावों को कांग्रेस ने ठुकरा दिया। सुरेन्द्र मोहन से उनके 'जुगातर पार्टी' के पुराने सहयोगी सुरेश मजूमदार ने अनुरोध किया कि वे शरत् बोस को मंत्रिमडल में शामिल करने का प्रयास करें। श्री कृपलानी उस समय कांग्रेस अध्यक्ष थे। शरत् बाबू और कृपलानी के विचार मेल नहीं खाते थे। सुरेन्द्र मोहन के

दोनों में मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित करवाए। उन्होंने मौलाना आजाद व सरदार पटेल को भी इस बात के लिए मना लिया। वे नेहरू जी के पास भी गए। नेहरू जी के गुस्से मे बोलने पर सुरेन्द्र मोहन उत्तेजित होकर चल पड़े। परंतु दुबारा नेहरू जी ने उन्हें वापस बुलाकर बातचीत की। कुछ दिनों बाद नेहरू जी नोआखाली गए। वे गांधी जी को भी अपने साथ ले गए। बैठक बुलाई गई। नेहरू जी ने कार्य-समिति के सभी सदस्यों को यह स्पष्ट किया कि किन परिस्थितियों मे वे विभाजन स्वीकार करने पर बाध्य हुए हैं। सरदार पटेल ने भी उनका समर्थन किया। गांधी जी सांप्रदायिक आधार पर भारत के विभाजन के विरोधी थे। वे अप्रसन्न थे; अन्त में विवश होकर उन्होंने स्वीकृति दे दी।

जब कांग्रेस कार्यसमिति ने इस निर्णय की पुष्टि कर दी तो सुरेन्द्र मोहन भी महर्षि अरविन्द के पास पांडीचरी गए और उनको कहा कि इस समय विभाजन ही स्वीकार करना ठीक है। महर्षि अरविन्द द्वारा व्यक्त किया गया मत 15 अगस्त को एक सार्वजनिक वक्तव्य मे प्रसारित किया गया जो दिन भारत की राजनैतिक स्वतंत्रता का जन्म-दिवस था।

सुरेन्द्र मोहन जैसे व्यक्ति की राजनीतिक व सामाजिक गतिविधियों का सूक्ष्म विश्लेषण करना बहुत कठिन है। यद्यपि वे राजनीति में पूर्णत: डूबे रहे तो भी वे एक क्षण के लिए भी जीवन के वास्तविक उद्देश्य को नही भुला पाए। आध्यात्मिकता में उनकी गहन आस्था है। महर्षि अरविन्द के प्रति वे अत्यधिक आस्थावान हैं। आध्यात्मिकता और राजनीति का ऐसा समन्वय बड़ा विरल होता है।

पं० जवाहरलाल नेहरू

आधुनिक भारत मे कितने ही लोकप्रिय नेता हुए, किंतु सामान्य जनता के हृदयों में जो व्यापक श्रद्धा और लोकप्रियता तिलक, गाधी और नेहरू को मिली वह संभवतः ही किसी को मिली हो। किंतु प्रथम दो नेताओ की लोकप्रियता से नेहरू जी की लोकप्रियता मे एक महान अन्तर है। पहले दोनों केवल नेता थे, प्रशासक नही। यह नही कहा जा सकता कि प्रशासक होने पर उनकी लोकप्रियता का क्या होता ! किंतु नेहरू जी नेता के अतिरिक्त लंबी अवधि तक प्रशासक भी रहे। स्वतंत्रता-पश्चात् के जटिल समय मे इतनी लंबी अवधि तक नाना धर्मों, वर्गों और श्रेणियों के इस विशाल देश का जहां विषमताओ की भरमार है और जहां भिन्न-भिन्न वर्गों के आर्थिक, सास्कृतिक और सामाजिक स्वार्थ एक-दूसरे से टकराते रहते है, प्रशासन करते हुए भी वे अपनी लोकप्रियता बराबर बनाये रहे। जनता के हृदय में उनके प्रति सम्मान और स्नेह बढता ही गया। अन्त तक यह देखा जाता रहा कि उनके आगमन का समाचार मिलते ही देश के प्रत्येक कोने में लाखों की संख्या में लोग उनके दर्शनो को एकत्रित हो जाते थे। उनकी मृत्यु के बाद उनके शव के अतिम दर्शनों के लिए उनकी कोठी पर और शवयात्रा मे जनता की अपार और अभूतपूर्व भीड़ इस तथ्य का प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह लोकप्रियता एव अभूतपूर्व कीर्तिमान है।

श्री जवाहरलाल नेहरू का जन्म 14 नवंबर, सन् 1889 मे प्रयाग मे हुआ था। वे गौरवर्ण, सुंदर और तेजस्वी बालक थे। माता-पिता दोनों ही जवाहरलाल पर अत्यधिक स्नेह रखते थे। उस समय उनके पिता पं० मोतीलाल नेहरू इलाहाबाद के प्रसिद्ध वकीलों मे माने जाते थे। अतः बालक जवाहरलाल का लालन-पालन शाही ढंग से हुआ था। उनके घर की रहन-सहन, शान-शौकत उस समय केवल इलाहाबाद मे ही अद्वितीय नही थी बल्कि दूर-दूर तक वैसा रहन-सहन और शान-शौकत कही भी दृष्टिगोचर नही होती थी। विलायत जाने तक उनका बाल्यकाल यही व्यतीत हुआ।

यह भारत के सास्कृतिक नव जागरण के राष्ट्रीय आदोलन में परिणति का

संक्रमण काल था। परिणामतः नेहरू जी को पाश्चात्य ढंग की शिक्षा घर पर दी गई। इस काल में ब्रुक्स नामक अध्यापक ने जवाहरलाल पर विशेष छाप छोड़ी। उसने जवाहरलाल में दो रुचियों का विकास किया, जो अंत तक बनी रहीं—पढ़ने की रुचि तथा विज्ञान और उसके रहस्य में कुतूहल। उसने अपने छात्र की रुचि को अंग्रेजी साहित्य के लिए भी प्रोत्साहित किया। जवाहरलाल का पढ़ना यद्यपि विस्तृत रहा, लेकिन वह अव्यवस्थित और आकस्मिक था।

सन् 1905 में मोतीलाल जी स्वयं लंदन गए और वहां हैरो नामक प्रसिद्ध पब्लिक स्कूल में जवाहरलाल को प्रविष्ट कराया। एक बार हैरो स्कूल में अच्छा कार्य करने के कारण जवाहरलाल को जी० एम० ट्रेवेलयान की गैरी बाल्डी संबंधी एक पुस्तक पुरस्कार मे मिली। इस पुस्तक को पढ़ने के बाद उन्होंने गैरी बाल्डी संबंधी अन्य दो पुस्तकें लेकर पढ़ीं। स्वातंत्र्य-संग्राम की उन पुस्तकों की प्रेरणा लेकर जवाहरलाल भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राम के काल्पनिक चित्र बनाने लगे। हैरो मे इस प्रकार के विचारों के लिए अवसर नहीं था। जवाहरलाल ने पिता की अनुमति लेकर अक्तूबर सन् 1907 में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के ट्रिनिटी कालेज मे प्रवेश ले लिया। जिन दिनों जवाहरलाल कैम्ब्रिज में थे उन्हीं दिनों विपिनचंद्र पाल, लाला लाजपतराय और गोपालकृष्ण गोखले वहां गए। नेहरू जी लाला लाजपतराय से विशेष रूप मे प्रभावित हुए।

सन् 1910 में एम० ए० की उपाधि प्राप्त कर उन्होंने कानून का अध्ययन प्रारंभ किया। इन दिनों उनका समाजवादी विचारधारा से प्रथम परिचय हुआ। इसी समय महिलाओं की मुक्ति का आंदोलन देखने वह आयरलैंड गए। इंग्लैंड के प्रवास में उनकी रुचि भारतीय राजनीति की ओर बढ़ी। इंग्लैंड के जीवन और वातावरण की नरमी भी उन्हें भारत के उग्रपंथियों का प्रशंसक बनाने से न रोक सकी।

जवाहरलाल विद्यार्थी के रूप में सात वर्ष विदेश मे रहकर सन् 1912 मे स्वदेश लौटे और अपने पिता पं० मोतीलाल नेहरू के प्रौढ़ निर्देशन में उन्होंने इलाहाबाद हाई कोर्ट मे वकालत शुरू कर दी। वकालत तो वे काफी दिनों तक करते रहे पर उस धंधे का 'मशीनी तीखापन' उन्हें आकृष्ट न कर सका। श्री नेहरू जिस सामाजिक वर्ग के थे उसके जीवन की कृत्रिमता और मंथन की एक-रसता उन्हें विजातीय लगी और वे अपनों में बेगाने से हो गए।

भारतीय राजनीति से उनका संपर्क 1912 में शुरू हुआ। इस वर्ष वे बिहार के बांकीपुर कांग्रेस के अधिवेशन मे प्रतिनिधि बनकर गए। तत्कालीन राजनीति पर नरमदली नेता हावी थे। तिलक जेल मे थे और गोखले मच पर। गोखले की सर्वेण्ट्स आफ इंडिया सोसाइटी और उनकी शांत राजनीति ने जवाहरलाल की श्रद्धा आकर्षित की पर उनकी निष्ठा प्राप्त करने के लिए वे

पर्याप्त न थी। उन्हें वह अधिवेशन राजनैतिक सभा से अधिक सामाजिक लगा। इस बनावटी सूखे वातावरण में बेचैन अनिश्चित नेहरू को लगा कि भारत का राजनैतिक ससार अवास्तविक है। इंग्लैंड मे रहते हुए उन्होने इसे हलचल और उत्साह, संशय, त्याग, उद्योग और जोश के रूप मे समझा था। यहां तो सब कुछ बिल्कुल विपरीत था। पोशाकों से अतिशय सुसज्जित राजनीतिको के हवा मे बकबक करने का दृश्य जरा हास्यास्पद होता अगर उसके उद्देश्य इतने अशाति के कारण न होते। नेहरू में इस अप्रत्याशित स्थिति ने खीझ की पुरानी भावना उत्पन्न कर दी।

शीघ्र ही नेहरू जी को कचहरियो का जीवन फीका लगने लगा। विधि की सूक्ष्म और अस्पृश्य वारीकिया उन्हें एक अश तक उत्साह भग करने वाली लगी। उन्होंने अपनी बौद्धिक अकड को कभी छिपाने का प्रयत्न नही किया। वे लगभग चौबीस वर्ष के थे और पेशे और राजनीतिक—दोनों ही रूप से उन्हें आगे अधेरा-सा लगा। सदा की तरह उन्हें निष्क्रियता पर झुझलाहट आई।

जवाहरलाल के जीवन मे सन् 1916 का विशेष महत्त्व है। इस वर्ष उनकी भेंट महात्मा गाधी से पहली बार हुई। इसी वर्ष वसत पचमी के दिन उनका कुमारी कमला कौल से दिल्ली में विवाह हुआ। कुछ समय बाद उनकी प्रथम सन्तान इंदिरा प्रियदर्शिनी का जन्म हुआ।

महात्मा गांधी से उनकी प्रथम भेंट विशेष महत्वपूर्ण नही रही। पर धीरे-धीरे घटनाचक्र ने भारतीय राजनीति के इन दो महापुरुषों को एक-दूसरे के निकट ला दिया और इनके संयुक्त तत्त्वावधान मे काग्रेस का लक्ष्य जन-मुक्ति का आंदोलन हो गया।

अग्रेजों से जवाहरलाल की सबसे पहली मुठभेड 1920 मे हुई। वे अपनी रुग्ण मा और पत्नी को मसूरी ले गए थे। वे वहा के प्रसिद्ध अग्रेजी होटल 'सेवाय' मे ठहरे हुए थे। मसूरी मे उन दिनों अफगानिस्तान का एक प्रतिनिधि-मडल आया हुआ था। सन् 1919 मे अफगान युद्ध के पश्चात् यह प्रतिनिधिमडल भारत सरकार से समझौता वार्ता कर रहा था। अग्रेजो को भय हुआ कि कही जवाहरलाल जी प्रतिनिधिमडल के सदस्यों से मिलकर कोई षड्यंत्र न करें। अतएव सरकार ने उनसे यह आश्वासन देने को कहा कि वे मसूरी मे प्रतिनिधि-मंडल के किसी सदस्य से नही मिलेंगे। यद्यपि उनका कोई इरादा उस प्रतिनिधि-मंडल से मिलने का नही था, तथापि वे दबाव से इस प्रकार का अनुचित आश्वासन देने को तैयार न हुए। इस पर सरकार ने उन्हें 24 घटे के भीतर देहरादून जिले को छोड देने का आदेश दे दिया। फलत. उन्हें मसूरी छोड़कर इलाहाबाद आना पड़ा।

इलाहाबाद आने पर संयोग से उन्हे निकटवर्ती गांवों मे जाकर किसानों मे

मिलने, जनता के निकट आने और उसकी समस्याओं से अवगत होने का अवसर मिला। इसने उनके राष्ट्रीय विचारो को पुष्टि प्रदान की और वे तन, मन, धन से स्वातंत्र्य-संघर्ष में कूद पड़े।

माता-पिता ने पूरी कोशिश की कि जवाहरलाल को देश की निर्धनता के दर्शन न हो। किंतु आनंद भवन के विलास-विभोर में कभी-कभी गरीबी की आह पहुच जाती, निर्धन किसानों की तड़पें पहुंच जाती, और कभी-कभी गुलाम भारत वहां की निभृत अट्टालिकाओं मे झाक भी लेता। तब बालक जवाहर को आश्चर्य होता और वह अपनी मा से कहता "मां ! ये लोग कैसे हैं जो जेठ की दुपहरी में नगे पैरों गाड़ी खीच रहे हैं ? मा ! क्या आदमी भी गाड़ी खीचा करते हैं ?" तब माता मुह पर हाथ रखती और जवाब देती "बेटा ! ये गरीब लोग हैं; कंगाली मे आदमी सब कुछ करता है। पेट के लिए ये लोग गाड़ी खीच रहे है।" तब बालक मौन हो जाता और उसके अमल मन पर विषाद की एक मक्खी बैठ जाती।

अपनी आत्मकथा मे जवाहरलाल नेहरू लिखते हैं कि तब तक उनका दृष्टिकोण "पूरी तरह से मध्यवर्गीय था।" मैं अपनी मर्जी के खिलाफ किसानों के संपर्क मे डाल दिया गया। देर-सबेर यह मिलना तो अनिवार्य था, किंतु वह जिस ढंग से स्थापित हुआ, वह रुचिकर है।

एक बार कुछ साथियों के साथ नेहरूजी गांव गए और उनके साथ तीन दिन रहे। उस यात्रा ने उनकी आंखें खोल दी। इसके पहले वे कभी गांव में नही ठहरे थे और चिथड़े पहने, भूखे और दुर्बल, भुखमरी के शिकार किसानों की मूक वेदना को नही देखा था। उन्होंने उन पर होने वाले अत्याचारों और अपमानों की कहानियां सुनी।

यह दुनिया नेहरू के लिए बिल्कुल नई थी। देहातो में जाने के पहले उन्हें यह अनुमान भी नही था कि कृषक वर्ग क्या होता है और भारत के लिए वह क्या अर्थ रखते है। वह लिखते है, "तब से मेरे दिमाग मे सदा यह नंगी-भूखी जनता ही भारत की तस्वीर रही है।"

1921 के असहयोग आंदोलन मे नेहरू जी ने खुलकर भाग लिया। जो जवाहर लाल इंग्लैण्ड में फैशनेबिल कपड़े पहनते, उन्होंने मोटी खादी धारण की। ऐसे वस्त्र धारण कर उन्होंने कांग्रेस और गाधी जी का संदेश गांव-गांव, सड़क-सड़क, गली-गली और घर-घर, कभी विभिन्न प्रकार की सवारियों पर और कभी पैदल चलकर पहुंचाया। वे प्रथम बार जेल गए। उनके जेल जाने का कारण यह था कि उन्होंने ब्रिटेन के युवराज प्रिंस आफ वेल्स की भारत-यात्रा पर बहिष्कार आंदोलन मे प्रमुख भाग लिया था। उनके नेतृत्व में इलाहाबाद में युवराज के बहिष्कार मे पूर्ण हड़ताल रही।

नेहरू पर राजद्रोह का अभियोग लगा। उन्होंने अपना बचाव नही किया और कहा कि "हम अपने देश और अपने विश्वास के लिए लड रहे है। मैं बहुत अधिक खुशी से और स्वेच्छा से जेल जाऊगा। जेल तो हम लोगो के लिए सचमुच स्वर्ग हो गया है, तीर्थयात्रा का पवित्र स्थान। मैं अपने सौभाग्य पर आश्चर्य करता हूं। स्वतंत्रता-संग्राम में भारत की सेवा करना कही सम्मानजनक है। गांधी जी ऐसे नेता के अधीन और भी सौभाग्य की बात है और प्रिय देश के लिए कष्ट सहना ! एक भारतीय के लिए और कौन-सी सौभाग्य की बात हो सकती है बशर्ते कि अपने शानदार सपने को पूरा करने के इरादे में मौत ही न हो ?"

"जेल ने मुझे आदमी बना दिया" वर्षों बाद नेहरू ने समाजवादी नेता आचार्य नरेन्द्र देव से कहा, जब वे दोनों अंतिम बार 1942 में जेल मे थे और कुछ नही तो इसने उन्हे पढने और सोचने को समय दिया और उनके शारीरिक और नैतिक तंतु को कठोर बना दिया। सन् 1923 मे जवाहरलाल नेहरू काग्रेस के महामत्री निर्वाचित हुए।

जवाहरलाल जी के इस त्याग और परिश्रम का प्रभाव उनके संपूर्ण कुटुम्ब पर पड़ा। स्वतत्रता-प्राप्ति के सन् 1920 से 1947 तक के युद्धों मे नेहरू कुटुम्ब का ऐसा कोई व्यक्ति नही जिसने कभी-न-कभी भाग न लिया हो और जो जेल न गया हो।

1926 मे नेहरू जी ने इटली, स्विट्जरलैण्ड, इंग्लैण्ड, बैलजियम, जर्मनी और सोवियत रूस का दौरा किया। बेलजियम मे उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप मे परतत्र देशों के सम्मेलन मे भाग लिया। मास्को में 1927 मे वे अक्तूबर की समाजवादी क्राति की 10वी वर्षगांठ के समारोह मे सम्मिलित हुए।

1928 में लखनऊ में साइमन कमीशन के विरुद्ध एक जुलूस का नेतृत्व करते समय नेहरू जी पर पुलिस ने लाठिया चलाई जिससे उन्हें पर्याप्त चोट आयी। 1929 मे उन्होंने उन अफसरों और सैनिकों के पक्ष का समर्थन किया जिन पर देशद्रोह का अभियोग लगाया गया था।

सन् 1928 में उनके पिता पं० मोतीलाल नेहरू कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए थे। 1929 में कांग्रेस ने पं० जवाहरलाल जी को अपने लाहौर अधिवेशन का अध्यक्ष चुना। इसी अधिवेशन मे, उनकी अध्यक्षता में, काग्रेस ने भारत के लिए पूर्ण स्वतंत्रता का प्रस्ताव स्वीकार किया तथा रावी के तट पर भारतवासियो ने पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करने की शपथ ली। इसी वर्ष वे अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष भी निर्वाचित हुए। इसके बाद पुन: वे 1936 और 1946 मे तथा 1951 से 1954 तक राष्ट्रीय काग्रेस के अध्यक्ष रहे।

12 मार्च, 1930 के प्रातःकाल गाधी जी अपने शिष्यों के साथ दांडी-यात्रा पर निकल पड़े। मोतीलाल और जवाहरलाल अहमदाबाद से लौटते समय मार्ग में उतरे और उन्होंने यात्रा पर निकले हुए वीर सेनापति से रास्ते में मुलाकात की। गांधी जी की समर-यात्रा से समस्त देश उत्तेजित हो उठा और सारे देश के लोग नमक बनाने की तैयारी करने लगे। जवाहरलाल पर नमक सत्याग्रह का रहस्य अब खुला। अहमदाबाद से लौटकर उन्होने वक्तव्य दिया —

"तीर्थयात्री अपने मार्ग पर आगे जा रहा है। युद्ध का क्षेत्र सारे देश के सामने खुल गया। भारत की राष्ट्रीय पताका सभी भारतवासियों का आह्वान कर रही है। आजादी हमारी राह देखती खड़ी है। क्या अब भी तुम हिचकिचाओगे, तुम जो कल तक कुछ करने को बेताब हो रहे थे ? अगर हिंदुस्तान मरा तो जिन्दा कौन है ? अगर हिंदुस्तान जिन्दा है, तो फिर मृत्यु का भय कैसा ?"

नेहरू जी स्वीकार करते है कि समझने के लिए गांधी बहुत कठिन व्यक्ति थे। उनके भाषण मध्ययुगीन और पुनरुत्थानवादी लगते थे। कभी-कभी उनकी भाषा औसत आधुनिक व्यक्ति की समझ के बाहर होती थी। किंतु स्वाभाविक प्रवृत्ति से नेहरू ने अपने से बुजुर्ग में ऐसा नेता समझ लिया जो रग-ढग में उदार प्रकृति का होने पर भी निश्चय और उद्देश्य मे दृढता से प्रेरित था। वह नई भाषा बोलता और नए अस्त्रों का प्रयोग करता। उसका कर्म में आग्रह था। उसका कहना था कि अन्याय से विरोध ही नही किंतु उसका प्रतिरोध भी जागेगा और इस प्रतिरोध को अहिंसात्मक ही रहना होगा।

गाधी जी की जिस विशेषता ने नेहरू जी को प्रभावित किया वह उनका कर्म मे आग्रह था। महात्मा जी के आने तक भारत मे कुछ विशेष लोगों को छोड़कर ऐसे राजनीतिज्ञ भरे पडे थे जो बातें ही बाते करते थे और काम कुछ नही करते थे। राष्ट्रीयता ऐसे आरामतलब राजनीतिज्ञों तक सीमित थी, जो बड़े लंबे-लंबे भाषण किया करते थे और प्रस्ताव पास करने मे बढ़े-चढ़े रहते थे। जवाहरलाल को जिस बात ने सर्वाधिक प्रभावित किया वह यह थी कि परतन्त्रता का धब्बा मिटाने में गांधी जी भय का धब्बा भी मिटाये दे रहे हैं। नेहरू ने सदैव साहस की सराहना की है। विद्रोही गांधी ने उन्हें आकृष्ट किया।

चरित्र की विशिष्टता के अनुसार नेहरू ने महात्मा गांधी के उन विचारो पर तर्क-वितर्क किया जिन्हें वे न मान सके। यद्यपि वे अहिंसा के सिद्धांत को पूरी तौर पर न मान सके, तथापि उन्होंने उसे भारतीय परिस्थितियो के लिए यही नीति मान लिया। नेहरू तर्क करते हैं, "एक उचित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उचित साधन होना ही चाहिए।" उन्हें यह सदाचार का अच्छा सिद्धांत ही नही लगा, अपितु स्वस्थ क्रियात्मक राजनीति लगी, क्योकि जो साधन अच्छे नही

रहते वे लक्ष्य प्राप्ति में असफल होते है और नई कठिनाइयां और समस्याएं खड़ी कर देते हैं।

सन् 1930 में सविनय अवज्ञा आंदोलन मे भाग लेने के अभियोग पर पं० जवाहरलाल को छ महीने का कारावास दिया गया था। अक्तूबर मे वे रिहा किए गए, पर आठ दिन बाद उन्हे धारा 144 भग करने के अभियोग मे पुनः पकड़ लिया गया। उन पर अभियोग लगाए गए और 30 महीने का कारावास दण्ड दिया गया। किंतु एक वर्ष बाद उनके पिता की रुग्णता के कारण उन्हें रिहा कर दिया गया। रिहाई के 12 दिन बाद पं० मोतीलाल जी नेहरू का स्वर्गवास हो गया। छ महीने बाद वे पुनः गिरफ्तार किए गए, और उन्हें दो वर्ष की सजा हुई, पर कुछ समय बाद उन्हे अस्थायी रूप से छोड़ दिया गया, जिससे वे अपनी पत्नी से, जो उस समय बहुत बीमार थी, मिल सकें। ग्यारह दिन बाद पत्नी की अवस्था सुधरने पर उन्हें फिर जेल भेज दिया गया। सरकार ने पं० जवाहरलाल जी को अल्मोडा जेल भेज दिया जिससे वे अपनी पत्नी से समय-समय पर मिल सकें। इस बीच बंबई मे उनकी मां श्रीमती स्वरूप रानी नेहरू पर पक्षाघात का आक्रमण हुआ। कुछ समय बाद श्रीमती कमला नेहरू की अवस्था बहुत खराब हो गयी और उन्हें उपचार के लिए जर्मनी भेज दिया गया। वहां उनके स्वास्थ्य मे कोई परिवर्तन न हुआ। उनकी बिगड़ती हालत देखकर पंडितजी की सजा को रोककर उन्हें जर्मनी जाने की आज्ञा दे दी गयी। वे हवाई जहाज से वहा पहुंचे, किंतु उसके कुछ ही दिनों बाद उनकी पत्नी का निधन हो गया।

गांधी जी ने सांप्रदायिक एवार्ड के खिलाफ जान की बाजी लगाकर सारे देश मे जागृति उत्पन्न कर दी थी और एक तरह से अपने अगले कार्यक्रम, हरिजनोद्धार की पृष्ठभूमि भी तैयार कर दी थी। जवाहरलाल इस बात से चकित हुए। अगर जान की बाजी लगानी है, तो वह स्वतंत्रता के प्रश्न पर लगायी जानी चाहिए। क्या समाजसुधार के काम के लिए गांधी जी के समान अमूल्य जीवन को संकट मे डालना ठीक है? गाधी जी से अपने मतभेद की बात उन्होंने (पंडितजी ने) खुलकर की। पडितजी चाहते थे कि पूर्ण स्वाधीनता और समाजवाद, इन दो आदर्शों को जोर से उछालना चाहिए, जिससे जनता अपने ध्येय को पहचान सके और उसके लिए संघर्ष कर सके। किंतु, गांधी जी दोनो ही ध्येयों को गोल-मटोल रखना चाहते थे। उनका विचार था कि जब तक भारत को स्वराज्य के अधिकार प्राप्त नहीं हो जाते, वह समाजवादी आदर्श की ओर तेजी से नही बढ़ सकता है।

जवाहरलाल ने साम्प्रदायिकता पर लेखों से प्रहार किया। किंतु, साम्प्रदायिक एकता से भी उनका अधिक बल समाजवाद पर था। उनका कहना था कि सांप्रदायिकता का पाठ बंधन निहित स्वार्थों के साथ है। अतएव, दोनो के दोनों प्रति-

क्रियागामी है। जवाहरलाल समाजवाद के पक्ष में इस जोर से बोलने लगे कि कार्य-कारिणी के सदस्य भीतर ही भीतर अप्रसन्न हो गए और अपने बहुसंख्यक अनुयायियों का मन रखने के लिए गांधी जी को जवाहरलाल को, अखबार के माध्यम से हलकी डांट सुनानी पडी। इससे पंडित जी को भी रंज हुआ और उन्होंने इच्छा प्रकट की कि कार्यकारिणी से उनका इस्तीफा स्वीकार कर लिया जाए। किंतु, इसकी नौबत नही आयी। 12 फरवरी, 1934 को सरकार ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया। 27 दिसंबर 1931 से लेकर 4 सितंबर, 1935 तक पंडितजी जेल से बाहर केवल नौ महीने रहे।

द्वितीय महायुद्ध प्रारंभ होने पर भारतीय राजनीति ने पुन: एक करवट ली। महात्मा गांधी ने बिना जनता की सहमति के भारत को युद्ध में घसीटने का विरोध किया। जब वायसराय से उनकी समझौता-वार्ता असफल हो गयी तब उन्होंने व्यक्तिगत सत्याग्रह आंदोलन शुरू किया। इसमें सबसे पहले सत्याग्रही आचार्य विनोबा भावे और दूसरे पं० जवाहरलाल जी थे। उन्हे 4 वर्ष का दंड मिला, पर एक वर्ष बाद ही सरकार ने सब व्यक्तिगत सत्याग्रहियों को मुक्त कर दिया। कुछ ही समय बाद जापान ने पर्ल हार्बर पर आक्रमण कर दिया और वह खुलकर मित्र-राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध में आ गया। अंग्रेजों के विरुद्ध जापान के युद्ध में आ जाने से भारत पर भी आक्रमण का भय उत्पन्न हो गया। इस अवसर पर गांधी जी और नेहरू जी तथा कुछ अन्य नेताओं में अहिंसा के प्रश्न पर तीव्र मत-भेद हो गया। गांधी जी के लिए अहिंसा एक जीवन-व्यवस्था थी, पर पं० जवाहर-लाल उसे केवल एक राजनीतिक साधन ही मानते थे। इसके अतिरिक्त पं० जवाहरलाल धुरी-राष्ट्रों (जर्मनी-इटली) के विरुद्ध थे। वे चाहते थे कि यदि देश पर जापानी सेनाएं आक्रमण करें तो भारतवासी उनका सामना डटकर करें।

संभवतः नेहरू जी की सर्वाधिक सेवा यह थी कि उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन को संकीर्ण होने से बचा लिया। नेहरू का दूसरा बड़ा योगदान था, स्वराज के अर्थ में सामाजिक और आर्थिक तत्त्वों का समावेश करना। उनका तर्क था कि स्वतंत्रता हमारा तात्कालिक लक्ष्य है, लेकिन हमें उसे भारतीय समाज के काया-कल्प की भूमिका के रूप में देखना चाहिए, और राजनैतिक संघर्ष के दौरान में ही दूरगामी सुधार संबंधी कार्यक्रम की उद्घोषणा करनी चाहिए। जवाहरलाल की इस दूर दृष्टि ने उन्हें भारतीय नवयुवक दल का स्वर बना दिया। उन्होंने उग्र और युद्ध-प्रिय नवयुवकों के समक्ष साम्यवाद का एक संतोषजनक विकल्प रखा। भूमि-सुधार की प्रतिज्ञा और आकर्षक व्यक्तित्व के कारण उन्होंने ग्रामीण जनता को भी कांग्रेस की ओर खींचा और इस प्रकार वे गांधी के परंपरावादी प्रभाव के पूरक बने।

सन् 1946 में कैबिनट मिशन से जवाहरलाल जी ने भारतीय स्वतंत्रता के संबंध मे बात अवश्य की परंतु मिशन की 'सघीय' योजना को अस्वीकार कर दिया। कैबिनट मिशन योजना स्वीकार होने पर देश मे सविधान सभा के लिए चुनाव हुए। अगस्त मे वायसराय ने जवाहरलाल जी को अंतरिम सरकार बनाने का निमंत्रण दिया। मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान बनने की आशा न देखकर 'प्रत्यक्ष कार्यवाही' शुरू कर दी। फलस्वरूप पूर्वी बगाल तथा देश के अन्य भागों मे भीषण रक्तपात हुआ। मुस्लिम लीग ने अतरिम सरकार में सम्मिलित होने से मना कर दिया, पर जवाहरलाल के मनाने पर लीग के छः सदस्य उसमे सम्मिलित हो गए। पर नयी समस्याएं उत्पन्न हो गयी। लीग के अध्यक्ष ने अपने सदस्यों को संविधान सभा का बहिष्कार करने का आदेश दिया और अंतरिम सरकार मे अपने प्रतिनिधियो को आंतरिक गडबड़ी के लिए प्रोत्साहित किया। इधर सरकार का यह रंग-ढंग था, उधर देश में स्थान-स्थान पर रक्तपात और साम्प्रदायिक दगे हो रहे थे। ब्रिटिश सरकार ने इस समस्या का समाधान ढूढने के लिए लार्ड माउंट बैटन को वायसराय बनाकर भेजा। उन्होंने भारत के विभाजन के आधार पर भारत को स्वतंत्रता देने की योजना तैयार की। जवाहरलाल जी ने इस योजना का तीव्र विरोध किया पर अंत मे उन्होने और सरदार पटेल ने इसे मान लिया। पडितजी का कथन था, "इन प्रस्तावों की सिफारिश करते हुए मेरे हृदय में आनद का भाव नही है। मगर मुझे इसमें कोई सदेह नही कि आज की स्थिति मे यही सबसे अच्छा रास्ता है।"

अंततः 15 अगस्त, 1947 को भारत स्वतंत्र हुआ। स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ही बनाए गए। इस पद पर वे आजीवन बने रहे। स्वतत्रता दिवस के उपलक्ष्य मे प० जवाहरलाल नेहरू ने अपने ओजस्वी भाषण मे कहा—

"बहुत वर्ष पहले हमने अपने भाग्य का निश्चय किया था और अब वह समय आ गया है जबकि हम अपनी प्रतिज्ञा पूरी करेंगे। मध्य-रात्रि के समय जब संसार सोता होगा, भारत अपनी स्वतत्रता के क्षेत्र मे जागेगा; नवीन जीवन और स्वतत्रता के लिए। एक ऐसा समय आता है जो इतिहास मे बहुत कम आता है जब हम प्राचीन से नवीन मे प्रवेश करते है, जब एक युग समाप्त होता है और जब राष्ट्र की आत्मा लबी अवधि के दमन के बाद मुक्तकठ होती है। इस समय हम जिस उपलब्धि का समारोह मना रहे है वह एक कदम है, नए अवसरों के लिए एक रास्ता खुल रहा है जिससे हम महान विजय और उपलब्धियां अर्जित करें जो हमारे सामने हैं। शाति अविभाज्य है यह कहा जाता है, उसी भाति स्वतंत्रता अविभाज्य है और अब समृद्धि और इस एक विश्व में जिसे टुकड़ो मे नही बांटा जा सकता उसका यहां नाश भी अविभाज्य है। यह उचित ही है कि इस पवित्र अवसर पर हम

भारत की और उसके निवासियों और उससे भी बड़ी मानवता की सेवा का संकल्प लें।"

पं० जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में भारत के नये मंत्रिमंडल ने शपथ ग्रहण की। इस अवसर पर संपूर्ण देश में स्वतंत्रता दिवस मनाया गया। लाल किले की प्राचीर पर पं० नेहरू ने तिरंगा फहराया। उस दिन पूरे देश में आत्म-गौरव की यह लहर दौड़ गयी कि देश ने एक दीर्घ संघर्ष के पश्चात् स्वतंत्रता अर्जित की है।

नेहरू के लिए स्वतंत्रता का अर्थ पुरातन मार्ग के अंत से कहीं कुछ अधिक था। इसका अर्थ नवीन का आरंभ भी था। उस रात उनके पीछे श्रम, दु:ख और विजय की मंजिलों के साथ अतीत की लंबी कहानी फैली हुई थी। लेकिन स्पष्ट रूप से भविष्य का दृश्य भी सामने था। स्वतंत्रता ही लक्ष्य नहीं था, वह तो लक्ष्य का साधन था। उन्होंने देशवासियों को बताया कि "आजादी का अभिप्राय मात्र राजनीतिक आजादी नहीं है। स्वराज्य और आजादी के मानें कुछ और भी हैं, अर्थात् सामाजिक आजादी, आर्थिक आजादी। अगर देश में गरीबी है तो आजादी वहां तक नहीं पहुंची। उसी तरह अगर हम बंटे हुए हैं तब भी हम पूरी तौर पर आजाद नहीं हुए—अगर हिंदुस्तान को पूरा आजाद होना है तो उसे अपने करोड़ों आदमियों की बेरोजगारी दूर करनी है, गरीबी दूर करनी है।"

समय-समय पर कठिनाइयों का सामना जवाहरलाल जी बराबर करते ही आए थे, किंतु उनकी वास्तविक अग्नि-परीक्षा का समय स्वराज्य के साथ आ गया। दिल्ली सूनी करके गांधी जी नोआखाली और बिहार में घूम रहे थे। उनके लिए स्वराज्य का दिन सबसे अधिक व्यथा का दिन था। उन्होंने देश को एक रखने के लिए अंत तक प्रयास किया था, किंतु उनका प्यारा देश खंड-खंड हो गया था। परिस्थिति ऐसी संगीन थी कि बड़ों-बड़ों के होश गुम हो गए थे। किंतु, जवाहर-लाल ने घुटना नहीं टेका। वे विद्युत की गति से दौड़कर हर तरफ लोगों को दिलासा देते रहे, हर तरफ लुटेरों और हत्यारों को डांटते रहे। जालंधर में उनकी भेंट श्री प्रकाश से हुई। पंडितजी ने उनसे पूछा, "स्वराज्य और पाकिस्तान के बारे में क्या समझते हो ?" फिर स्वयं ही बोले, "दो ही रास्ते सामने हैं। या तो हमें इस बाढ़ पर काबू पाना है या इसके भीतर गर्क हो जाना है। हम गर्क होने को तैयार नहीं हैं।" इन्हीं परिस्थितियों का अवलोकन करते हुए माउंटबैटन के सेक्रेटरी कैम्पबेल जोनसन ने लिखा है—

"आज सभ्यता और मानवता की चेतना में विश्वास जवाहरलाल को देख-कर होता था। साम्प्रदायिकता के व्यापक उन्माद के बीच वे लगभग अकेले खड़े थे। उनके चारों ओर या तो व्यक्तियों के बिछाये हुए षड्यंत्रों के जाल थे अथवा उन्हें घेरकर समूह का पागलपन उमड़ रहा है। किंतु, तब भी, उनके मुख

से जो भी उद्‌गार निकलते थे, वे दया और उदारता के उद्‌गार थे, बुद्धि और विवेक के उद्‌गार थे।"

गांधी जी जवाहरलाल को संकटों से घिरा देखकर रोते थे, विलाप करते थे। मगर, देश हिंसा के जिस वात्याचक्र में फंसकर चक्कर खा रहा था, उससे उसे निकालने वाला गांधी और जवाहरलाल को छोड़कर तीसरा और कौन था ?

स्वतंत्रता-प्राप्ति के तत्काल बाद जवाहरलाल के सामने देश में एकता और कुशल शासन स्थापित करने की समस्या आयी। विभाजन और लाखों की सख्या में शरणार्थियों के आने से जो समस्याएं उत्पन्न हो गयी थी उन्हे सुलझाना था। भारत की 500 से अधिक रियासतो को आत्मसात करना था और देश को 200 वर्ष की परतंत्रता से उत्पन्न निर्धनता और अशिक्षा से मुक्त करके अंतर-राष्ट्रीय क्षेत्र मे भारत को अपनी पूर्व प्रतिष्ठा के अनुरूप गौरवपूर्ण स्थान दिलवाना था।

नेहरू जी के नेतृत्व मे देश के आर्थिक विकास की बहुमुखी योजनाएं आरंभ हुई। भारत को समृद्धिशाली बनाने के लिए पंचवर्षीय योजनाएं तैयार की गयी वे जवाहरलाल जी की सलाह, मार्गदर्शन और प्रेरणा का ही फल है। भारत मे योजनावद्ध विकास की कल्पना नेहरू जी ने स्वाधीनता-प्राप्ति से पूर्व ही की थी। उस समय कांग्रेस ने देश के भावी विकास के लिए जो कार्यक्रम बनाये उसके प्रेरक जवाहरलाल जी ही थे।

अंतर्राष्ट्रीय मामलों मे गुटों से पृथक् रहकर जवाहरलाल ने स्वतंत्र भारत की विदेश नीति को एक निश्चित दिशा दी और समस्त विरोधों के होते हुए भी वे इस पर अडिग रहे। उन्हे पंचशील का जन्मदाता कहा जाता है। एशिया और अफ्रीका के देशों की मित्रता को मजबूत बनाने मे उन्होंने बड़ी रुचि दिखायी। उन्होंने बड़ी दृढता और निर्भीकता से विश्व-शाति और सब देशों की स्वतंत्रता का समर्थन किया। उन्होने संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभाओं में जिस निर्भीकता और कुशलता से अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन किया उसकी व्यापक सराहना हुई। भारत और पाकिस्तान के तनावपूर्ण संबंधों से वे बडे चिन्तित रहते थे और उन्हें दूर करने मे अत तक लगे रहे। वे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति मे भारत को महत्त्व-पूर्ण और प्रभावशाली स्थान दिलाना चाहते थे। इसलिए वे अंतर्राष्ट्रीय मामलों में विशेष रुचि लेते थे और संसार के सभी देशों से निकट संपर्क रखना चाहते थे। वे विदेशी राज्यों के नेताओं को बराबर भारत निमंत्रित किया करते थे, तथा भारत के राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति, का भी विदेशों में जाना उचित समझते थे। वे स्वयं भी, इसी दृष्टिकोण से, बहुधा विदेशों की यात्रा किया करते थे। 15 जुलाई, 1955 को राष्ट्रपति ने नेहरू जी को उनकी राष्ट्रसेवा और विश्व-

शांति के लिए अथक प्रयत्नों हेतु देश के सर्वोच्च सम्मान "भारत-रत्न" से सुशोभित किया।

नेहरू जी साहित्यकार भी थे और साहित्य-प्रेमी भी। उन्हें विज्ञान, इतिहास और राजनीति में विशेष रुचि थी। वे स्वयं भी उच्चकोटि के लेखक थे। कुछ अपवादों को छोड़कर उनकी प्रायः सभी पुस्तकें जेल में लिखी गईं और यह स्वाभाविक ही था। लेखन के लिए जो अवकाश और चिंतन चाहिए, वह बाहर राजनीति के तूफान मे उन्हे कहां मिल सकता था। कुछ मिलाकर वह स्वराज्य के संघर्ष में नौ बार जेल गए और उनके लगभग नौ वर्ष बंदीगृह मे व्यतीत हुए। नेहरू जी की रचनाएं विश्व-प्रसिद्ध हैं। उनकी 'आत्मकथा', 'विश्व इतिहास की झलक' और 'भारत की खोज' नामक पुस्तकों का अनुवाद देश और विदेश की प्रायः सभी भाषाओं में हो चुका है।

नेहरू जी का सतत प्रयत्न रहा कि मनुष्य अपनी शक्ति को पहचाने और ऐसी सृष्टि का निर्माण करे जिसमें मानव-मानव के बीच अन्तर न रहे। वे धर्म के आदमी हैं, या नही; वे ईश्वर में विश्वास करते हैं या नही, इस विषय की जिज्ञासा लोगों के भीतर बराबर चला करती थी और जीवन-भर जवाहरलाल ने एक बार भी नही कहा कि मैं धर्म का आदमी हूं। आश्चर्य की बात यह है कि तब भी वे भारतीय जनता के बीच उसी प्रकार पूजित हुए, जिस प्रकार और कोई भी व्यक्ति पूजित नही हुआ था। अशोक, शंकराचार्य, कबीर, तुलसी, शिवाजी, गुरु गोविंदसिंह, परमहंस रामकृष्ण, स्वामी विवेकानंद, श्री अरविन्द और गांधी, इन महापुरुषों को भारतीय जनता ने जो सम्मान दिया, वह सम्मान उसने किसी भारतीय को नही दिया। किंतु, इन सभी महापुरुषों को जनता का प्रेम उनके धर्म-प्रेम के कारण प्राप्त हुआ था। भारत के इतिहास मे जवाहरलाल पहले व्यक्ति हैं, जिन्हे जनता का प्यार धर्म के लिए नही, धर्म-निरपेक्ष अर्थात् "सैक्यूलर" गुणों के कारण प्राप्त हुआ। वस्तुतः वे जन-जन की सेवा के कारण इतने लोकप्रिय हुए। वे एक प्रकार से भारतीय जनता के भविष्य की आशा बन गए थे। उन्होंने स्वयं कहा है कि मुझे इसकी कतई फिक्र नही है कि मेरे बाद दूसरे लोग मेरे बारे में क्या सोचेंगे। मेरे लिए तो बस इतना ही काफी है कि मैंने अपने को, अपनी ताकत और क्षमता को भारत की सेवा में खपा दिया है। मुझे इसकी भी परवाह नही कि मेरे बाद मेरी प्रतिष्ठा का [illegible] अगर मेरे बाद कुछ लोग मेरे बारे में सोचें तो [illegible] । कि वे कहे, [illegible] [illegible]दमी

भारत में जो कुछ सोचा गया वह किसी एक जाति या एक देश के लिए नही, प्रत्युत् सारी मानव जाति के लिए है। नेहरू जी दृष्टिकोण मे भी और व्यवहार में भी; कथनी में भी और करनी मे भी इसी भारतीय मानवतावादी दृष्टिकोण के सबसे महान और सफल व्याख्याता और अभ्यासकर्ता थे । वे केवल भारत की स्वतंत्रता ही नही चाहते थे, अपितु मानव-मात्र की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने को तैयार थे। इसीलिए एशिया और अफ्रीका के परतंत्र देश भी उन्हे अपना नेता और त्राता मानते थे। यही उनके विश्व-नेतृत्व का रहस्य था।

भारतीय जनता के ऐसे राष्ट्रनायक एव अनन्य नेता, पं० जवाहरलाल नेहरू का 27 मई, 1964 को देहावसान हुआ। नेहरू जी नही रहे, पर उनकी वह कल्पना-छवि एक राष्ट्रीय निधि के रूप मे पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती जाएगी। अपने यौवन-काल में वे युवक-हृदय-सम्राट् कहे जाते थे। बाद को चलकर हम उन्हें जनता का हृदय-सम्राट् कहने लगे, किंतु उनका वास्तविक स्वरूप उनके स्वर्गा-रोहण के बाद प्रकट हुआ जब विनोबा जी ने उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए 'लोकदेव' के नाम से अभिहित किया। वस्तुतः नेहरू जी एक ऐसे मानव थे जिन्होंने अपने खून-पसीने से इस देश का इतिहास गढा था, अतः वे सदैव अमर रहेंगे।

लालबहादुर शास्त्री

यह मात्र संयोग था अथवा ईश्वर की ही इच्छा थी कि भारत के दो महान स्वतंत्रता-सेनानियों, महात्मा गांधी और लालबहादुर शास्त्री, का जन्म 2 अक्तूबर को हुआ था। दोनों मे अनेक समानताएं है। दोनों सादा जीवन और उच्च विचार में विश्वास रखते थे। दोनों अहिंसा और समझौते की नीति के प्रबल समर्थक थे। दोनों के रास्ते सत्य पर आधारित थे। दोनो के हृदय कोमल से कोमलतम तथा कठोर से कठोरतम थे। अतः विजयश्री दोनों को मिली।

"हम रहें या न रहें, लेकिन यह झंडा रहना चाहिए और देश रहना चाहिए और मुझे विश्वास है कि यह झंडा रहेगा; हम और आप रहें, या न रहें लेकिन भारत का सिर ऊंचा होगा। भारत दुनिया के देशों मे एक बड़ा देश होगा और शायद भारत दुनिया को कुछ दे भी सके।"

ये उद्‌गार हैं उस स्वतंत्रता सेनानी लालबहादुर शास्त्री के जो नन्हा-सा दिखाई पडने पर भी असाधारण था। वामनाकार होते हुए भी जो विराट् था, मक्खन-सा जिसका मन था, किंतु जिसका मस्तिष्क स्थितप्रज्ञ का-सा था।

आपका जन्म 2 अक्तूबर, 1904 को उत्तर प्रदेश के मुगलसराय जिले मे हुआ। इनके पिता श्री शारदाप्रसाद श्रीवास्तव धनाढ्य नही थे। किंतु उत्तर-प्रदेश के कायस्थ-परिवारो की उच्च सांस्कृतिक परंपरा, बौद्धिक विकास तथा उच्च जीवन व्यतीत करने के आदर्श उनमें कूट-कूट कर भरे हुए थे। व्यवसाय से वे शिक्षक थे। उत्तर प्रदेश सरकार के राजस्व-विभाग में क्लर्क के पद पर भी उन्होंने कार्य किया था।

लालबहादुर अभी डेढ़ वर्ष के ही थे कि पिता का देहावसान हो गया। माता रामदुलारी देवी के लिए नन्हें लालबहादुर ही एकमात्र आश्रय था। माता ने उन्हें आदर्श बालक बनाने का भरसक प्रयत्न किया।

बचपन के सस्कार ही भविष्य के जीवन का आधार बनते हैं। वे संस्कार उन्हें अपने ननिहाल मे प्राप्त हुए। पिता की मृत्यु के पश्चात् इनकी माता अपने पिता के घर चली गईं। लालबहादुर को भाई-भतीजो, नाती-पोतों और

नातिनों-पोतियों से भरा परिवार मिला। शास्त्री जी का स्वयं का कथन है कि उनके पिता जीवित होते तो भी संभवतः उन्हें इतना प्यार न कर पाते। इस प्रकार छठी कक्षा तक शिक्षा आपने नाना के घर ही प्राप्त की।

छठी कक्षा के बाद आगे की शिक्षा के लिए आप अपने मौसा रघुनाथ प्रसाद के यहां बनारस चले गए। वे एक आदर्श गृहस्थ थे जिनका जीवन निष्काम-कर्म का श्रेष्ठ उदाहरण था। इन दिनों बनारस मे प्राच्य विद्याओ का दौर चल रहा था। घर-घर में योग-साधना, तपश्चर्या और दार्शनिक उपलब्धियां प्राप्त करने की ओर झुकाव था। लालबहादुर के जीवन पर इन सब परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा। उनके जीवन में सादगी एवं अपरिग्रह-साधना संभवतः इसी वातावरण की देन है।

लालबहादुर पढाई में सामान्य छात्र थे। किंतु उनके मानसिक क्षितिज पर गुरु-कृपा से एक दूसरी ही दुनिया का उदय हो रहा था। स्वराज्य-प्राप्ति की आवाजें देश के कोने-कोने मे उठ रही थीं। लालबहादुर उस समय के बडे नेताओ के भाषणों का पारायण करता। देशभक्ति की भावना उसके हृदय मे हिलोर पैदा कर देती। सौभाग्य से लोकमान्य तिलक का बनारस मे भाषण होने का समाचार उसे प्राप्त हुआ। भाषण 50 मील दूर होना था। कुछ पैसे उधार लिए और रेलयात्रा कर उनका भाषण सुनने पहुंच गए। वहां जाकर उसने "स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है" के उद्बोधनदाता अपने प्रिय नेता का भाषण सुना। इस भाषण को सुनने से उनमें देशभक्ति की भावना और उद्दीप्त हुई।

महात्मा गांधी के आगमन से स्वाधीनता आदोलन का स्वर बदल गया। लालबहादुर को उनके दर्शन करने का तब सौभाग्य प्राप्त हुआ जब वे सन् 1916 में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के उद्घाटन के अवसर पर बनारस पधारे। गांधी जी ने ब्रिटिश सरकार और भारतीय महाराजाओं के विरुद्ध खरा भाषण दिया। उनके भाषण को सुनकर बड़े-बडे राजे-महाराजे सभा-भवन छोड़कर चले गए थे। श्रीमती एनीबेसेंट ने गाधी जी के कठोर भाषण के प्रति क्षोभ प्रकट किया था, लेकिन जनता मंत्रमुग्ध होकर उन्हे सुनती रही थी। लालबहादुर उनकी इस रोमांचकारी निर्भीकता से अत्यत प्रभावित हुआ था। उसके कोमल मानस पर गाधी जी के तेजोमय व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ा। इससे उसका मन दृढ और सकल्पशील होता जा रहा था। उसने अपने भावी जीवन को सभवतः इसी समय से ढालना शुरू कर दिया था। उनके बाल-साथी त्रिभुवन नारायण सिंह ने सार्वजनिक रूपों से कहा है कि "लालबहादुर अपने कार्यों के लिए किसी दूसरे पर निर्भर करना पसंद नही करते थे। वे अपने जूतों को खुद गाठ लेते थे और अपने कपड़े भी स्वयं ही सी लिया करते थे।"

17 वर्ष की आयु तक वह अध्ययन करते रहे। वह अपने पाठ्यक्रम के साथ इंडियन नेशनल कांग्रेस की गतिविधियों का पारायण करता। वह गोपाल कृष्ण गोखले, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, बाल गंगाधर तिलक, महात्मा गांधी के भाषणों का भी अध्ययन करता। इन्ही नेताओं के पुण्य-प्रसाद से उसकी आत्मा में प्रकाश उत्पन्न हुआ। सत्याग्रह आंदोलन में भाग लेने के लिए जब उसने अध्ययन छोड़ा तो बडी श्रद्धा के साथ उसके सहपाठियों ने उसकी अभ्यर्थना की।

असहयोग आदोलन मे भाग लेने के कारण उन्हें पुलिस पकड़कर थाने ले गयी। पूछताछ करके उन्हें छोड़ दिया गया। वह असमंजस में थे कि फिर आंदोलन मे कूद पडें अथवा पुन: विद्यारंभ करें। इसी समय उनकी भेंट सुप्रसिद्ध दार्शनिक डा० भगवानदास से हुई। उन्होंने परामर्श दिया कि वे काशी विद्यापीठ मे दाखिल हो जाएं और अपने अधूरे अध्ययन को पूरा करके भविष्य का कार्यक्रम निर्धारित करें।

काशी विद्यापीठ की स्थापना सुप्रसिद्ध देशभक्त शिवप्रसाद गुप्त जी की प्रेरणा से हुई थी। असहयोग आदोलन के समय बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के पदत्याग करने वाले प्राध्यापकों ने इस विद्यालय को विशुद्ध भारतीय शैली पर संचालित करने का संकल्प किया था, जिसका उद्देश्य राष्ट्रीय भावना जाग्रत करना था। डा० भगवानदास इसके प्रिंसिपल थे। प्राध्यापकों मे आचार्य नरेन्द्रदेव, डा० संपूर्णानंद, आचार्य जे० बी० कृपलानी जैसे विद्वान थे। यहां के विद्यार्थी और अध्यापक निर्भीक होकर राजनीतिक प्रश्नों पर वाद-विवाद करते थे। यहा के वाद-विवादों में स्वाधीनता-आंदोलन की मीमांसा ही नही होती थी; अपितु स्वतंत्र भारत की कल्पना को यथार्थ मानकर उसकी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था पर भी विचार होता था।

यद्यपि विद्यापीठ की मुख्य प्रतिभा राजनीतिक थी, तथापि लालबहादुर ने दर्शन विषय अपने लिए चुना था। इस काल मे उसने खुली आखो एवं समझदारी के साथ अध्ययन और मनन किया। उसने टालस्टाय का अध्ययन संभवतः इसलिए किया क्योंकि गाधी जी का संपूर्ण सत्याग्रह आंदोलन उन्ही के सत्य, प्रेम और अहिंसा पर आधारित था। स्वामी रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद और लेनिन के साहित्य और जीवन का भी उसने अध्ययन किया। इस विस्तृत अध्ययन का सुफल यह हुआ कि दर्शन विषय मे लालबहादुर को परीक्षा मे प्रथम श्रेणी प्राप्त हुई। डा० भगवानदास की दार्शनिक मीमासाओं ने लाल बहादुर के मानस के समस्त प्रकोष्ठों को प्रकाशित किया। उसका मन पूर्वाग्रहों से मुक्त हो गया और स्वतंत्र चिंतन की शक्ति उदय हुई।

काशी विद्यापीठ मे अध्ययन का काल लालबहादुर के जीवन की आधारशिला बनी। प्रतिदिन वह छः-सात मील पैदल चलकर कालेज पहुंचता था। जब कभी

घर जाते तो सोलह मील पैदल चलकर जाना पड़ता था। उसके जीवन मे उत्सर्ग और साधना थी। कठिन से कठिन परिस्थितियों का हंसकर मुकाबला करना और उन्हें आशीर्वाद के रूप मे शक्ति बना लेना ही उसकी एकमात्र शक्ति थी।

1920 में गांधी जी के आंदोलन मे सम्मिलित होने के बाद लालबहादुर में एक नयी प्रतिभा का उदय दिखायी देता है। ऐसा प्रतीत होता कि उस समय उन्होंने निश्चय कर लिया था कि बिना किसी के भरोसे अपने ही बल पर वह अपने जीवन को सफल बनायेंगे।

1923 में गया-कांग्रेस का अधिवेशन था। विद्यापीठ के कुछ अन्य छात्रों के साथ लालबहादुर भी कांग्रेस का काम करने के लिए वहां गए। उन्होंने बड़े उत्साह से मिट्टी खोदने और ढोने का काम किया और पंडाल बनाकर तैयार कर दिया।

गांधी जी के नेतृत्व में देश आगे बढा। सन् 1930 और 1932 के आंदोलनों में लालबहादुर कई बार जेल गए। उनकी पत्नी ललिता जो उस समय काफी बीमार रहा करती थी। डाक्टरों को सदेह था कि उन्हें टी० बी० हो गया है। लेकिन लालबहादुर जी ने कभी यह नही सोचा कि जेल न जाकर उन्हे अपनी पत्नी की देखभाल करनी चाहिए। वे जेल से छूटते ही पुनः जेल चले गए।

1935 में लालबहादुर जी उत्तर प्रदेश कांग्रेस के मंत्री चुने गए। उन्हें लखनऊ मे आकर काम करना पड़ा। वहां वे अपने मित्र त्रिभुवन नारायण सिंह के घर पर रहते रहे। वहां वे प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के दफ्तर से लौटने के बाद भी देर रात तक काम करते रहते थे। पता नही इतने नन्हे से शरीर मे इतनी शक्ति कहां से आ गयी थी। वे काम से कभी थकते नही थे। जब कभी त्रिभुवन नारायण उनसे कहते कि तुम्हे अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखना चाहिए तो वे मुस्करा देते और फिर काम मे लग जाते।

कृषकों का उद्धार करने में लालबहादुर जी का बड़ा हाथ है। उत्तर प्रदेश में जमीदारी उन्मूलन कमेटी के 1935 मे वे सचिव नियुक्त हुए। उन्होंने कृषकों संबंधी एक रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसके आधार पर उत्तर प्रदेश मे जमीदारी उन्मूलन कानून पास किया गया। बाद में अन्य प्रांतों में भी उसी प्रकार के कानून बने।

बाद मे कांग्रेस ने जब प्रांतीय विधान मंडलों के लिए चुनाव लड़ने का निश्चय किया तो लालबहादुर शास्त्री भी श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित के साथ इलाहाबाद के निर्वाचन क्षेत्र मे असेंबली मे निर्वाचित हो गए।

8 अगस्त 1942 को 'भारत छोडो' प्रस्ताव स्वीकार किया गया और देश-व्यापी आंदोलन छिड़ गया। 'करो या मरो' का नारा गांधी जी ने भारत को दिया। बड़े नेताओ की गिरफ्तारी के बाद देशव्यापी गुरिल्ला युद्ध छिड़ गया। इस मुक्ति-संग्राम मे शास्त्री जी 'करो या मरो' के नारे को चरितार्थ कर रहे थे।

बंबई अधिवेशन से वे यू० पी० के जत्थे के साथ वापस आए। पुलिस उनको गिरफ्तार करने की खोज मे थी। वे पुलिस के चंगुल से बचने के लिए इलाहाबाद स्टेशन पर न उतरकर नैनी स्टेशन पर ही उतर गए थे। उनके साथियो ने उन्हें प्लेटफार्म रेलिंग के पार उतार दिया। इसके बाद उन्होंने भूमिगत जीवन व्यतीत करना शुरू कर दिया।

उनकी अपनी गिरफ्तारी का प्रकरण बड़ा रोमांचकारी और साहसिक है। पुलिस शास्त्री जी के कारनामो से तंग आ गई थी लेकिन वे पकड़ मे नही आते थे। अंत मे शास्त्री जी ने यह नोटिस बंटवाया कि 20 अगस्त को 5 बजे साथ इलाहाबाद चौक मे घंटाघर के निकट कानून तोड़ेंगे और व्याख्यान देंगे। इस घटना का वर्णन उनके एक पुराने साथी रामसिंह ने इन शब्दों में किया है—

"जिस दिन उन्हें व्याख्यान देना था, कुछ पुलिस के अफसर शास्त्री जी के घर गए और उनकी माता तथा पत्नी से कहा कि शास्त्री जी अगर हों, तो उन्हें अपने को गिरफ्तार कर देना चाहिए। वे लोग नही चाहते कि शाम के समय वे चौक पहुंचें जहा किसी भी समय गोलियां चल सकती हैं। माता जी ने कहा कि हम आपको विश्वास दिलाते हैं कि शास्त्री जी घर में नहीं हैं। अतएव हम आपकी किसी प्रकार सहायता नही कर सकते। शास्त्री जी को भी इस बात की चिंता थी कि वे ठीक समय पर चौक मे पहुंच पाएंगे अथवा नही। उन्होंने वह भी सोचा था कि वहां पहुंचने से पहले उन्हें अपनी माता, पत्नी और बच्चों से मिल लेना चाहिए। वे जहां थे, वहां से लगभग साढे चार बजे अपने घर पहुंचे। घर मे सबसे मिलकर वे चौक जाने के लिए तैयार हो गए। उनकी माता और पत्नी दोनों चिंतित थी। उन्होंने आग्रह किया कि वे अवश्य ही साथ जाएंगी। शास्त्री जी ने कोई रास्ता न देख उनसे कहा कि अच्छा वे भी साथ चलें। शास्त्री जी पैदल थोड़ी दूर चले, लेकिन माता और पत्नी के साथ होने के कारण वे बाद मे सबके साथ एक ही तांगे मे बैठ गए। तांगा चलता रहा और हर क्षण शास्त्री जी समझते रहे कि अब गिरफ्तार होंगे। तांगा आखिर घंटाघर पहुंच ही गया। वहां हजारो की भीड़ इकट्ठी थी। लोगों को कम विश्वास था कि शास्त्री जी वहां पहुंच भी पाएंगे। जब लोगों ने उन्हें देखा तो हजारो के मुंह से प्रशसा के शब्द निकले।

"घटाघर के दायें-बायें, आगे और पीछे फौजी गाड़िया खडी थीं। फौजी ट्रक भी मौजूद थे।-जिन पर फौज के लोग सगीन ताने हुए चारों तरफ अपनी निगाह रखे हुए थे। सारा दृश्य उन्होंने बड़ा भयावना बना रखा था। शास्त्री जी ने यह समझ लिया कि तागे से वे कही और जा नही सकते। फिर वे उसी तांगे पर खड़े हो गए। तांगेवाला भी घबराया कि उसका क्या होने जा रहा है। परंतु उसकी सहानुभूति शास्त्री जी के साथ थी। ज्योंही वे तांगे पर खड़े हुए उन्होंने कहा —'सरकार को यहां रहने का कोई अधिकार नही है और उसे फौरन भारत

से चला जाना चाहिए ?" त्योंही पुलिस के अफसरों ने आकर शास्त्री जी को गिरफ्तार कर लिया'''पास में कोतवाली थी । शास्त्री जी को वहा ले जाया गया। उनकी माता और पत्नी भी वहा तक तागे में साथ गईं। जब उन्हें कोतवाली के अंदर ले जाया गया तो स्वभावतः उनकी माता को चोट लगी और उन्होंने भी पुलिस के लोगों से कहा, "मुझको भी गिरफ्तार करके ले चलो।"

इस प्रकार 'अग्निपुज' के समान वे 'करो या मरो' के व्रत को पूरा करते रहे। 1930 से 1945 तक के 15 वर्षों मे से शास्त्री जी के जीवन के 9 वर्ष का समय जेल में ही गुजरा। जेल-जीवन में भी उन्होंने सदैव एक आदर्श सत्याग्रही होने का परिचय दिया। जेल-जीवन में ही उन्होने कांट, हीगेल, हैरोल्ड लास्की, बर्ट्रेंड रसेल, आल्डुअस हक्सले और मार्क्स-लेनिन का अध्ययन किया। वस्तुतः जेल मे ही उन्हें एक आत्मानुशासित, साहसी और तपस्वी व्यक्ति के रूप मे निखरने का अवसर मिला। जेल-यात्रियों में अनेक ऐसे थे जो आवेश की बाढ में बहकर जेल के फाटको के पीछे पहुंच जाते थे। ऐसे लोग छोटी-छोटी सुविधाओ जैसे बीड़ी-सिगरेट के लिए जेल-अधिकारियो के सामने गिड़गिडाते थे। किंतु लालबहादुर शास्त्री ने कभी किसी सुविधा की इच्छा प्रकट नही की। उनका जेल-जीवन इतना नियमित और अनुशासित था कि उनके साथी उन्हें देखकर आश्चर्यचकित रह जाते थे। फिर भी जेल-अधिकारियों के अत्याचारों और दमन के मुकाबले वे ही सबसे आगे रहते थे।

अपने व्यक्तिगत सुख-सुविधा के बड़े से बड़े मोह से सहज मुक्त होना इस सत्याग्रही के लिए सर्वथा सामान्य बात थी। एक बार जब वे नैनी जेल मे थे, उनकी पुत्री के सख्त ज्वरपीड़ित होने का समाचार आया। उनके पैरोल पर रिहा होने की बात उठी। रिहाई के लिए जेल अधिकारियो को यह लिखित आश्वासन देना पड़ता था कि बदी किसी आंदोलन मे भाग नही लेगा। यद्यपि लालबहादुर का किसी आदोलन में सम्मिलित होने का कोई विचार नही था, तथापि उन्होंने कोई लिखित आश्वासन देने से स्पष्ट मना कर दिया। किंतु आत्म-सम्मानी शास्त्री के मनस्वी एवं सच्चे-जीवन का परिचय जेलर को था। अंततः अधिकारियों ने बिना किसी शर्त के उन्हें 15 दिन के लिए रिहा कर दिया। शास्त्री जी घर पहुचे, तब तक उनकी पुत्री चल बसी थी। उन्हें अपने जेल-जीवन में राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन के साथ रहने का भी सौभाग्य मिला, जिन्होंने अपरिग्रह और स्वाभिमान को भारतीय राजनीतिक जीवन में प्रतिष्ठित किया था। उन्हें जवाहरलाल नेहरू के साथ भी कारावास मे रहने का अवसर प्राप्त हुआ, जिनका व्यक्तित्व कांच के समान पारदर्शी था। राजर्षि टंडन ने उनके बारे मे सम्यक् ही कहा था, "समन्वय स्थापित करने, कठिन परिस्थितियों को अनुकूल बनाने और समझौते करने मे उनकी प्रतिभा अद्वितीय है।" इस संबंध में शास्त्री

जी का एक वक्तव्य द्रष्टव्य है, "एक दूसरे के बजाय, आइए हम गरीबी, बीमारी और अभाव से लड़ें। दोनों देशों के मामूली लोग यह चाहते हैं कि उनको शांति से तरक्की करने का मौका मिले। वे लड़ाई-झगड़ा नही चाहते। उनकी जरूरत गोली-बारूद और अस्त्र-शस्त्र की नही, खाना, कपड़ा और मकान की है।"

शास्त्री जी कुशल प्रशासक थे। प्रशासन का प्रारंभिक अनुभव उन्हें 1947 मे उस समय हुआ, जबकि वे उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्य मंत्री श्री गोविन्द वल्लभ पंत के सभा-सचिव नियुक्त हुए। उनकी योग्यता और कार्यकुशलता से प्रभावित होकर पंत जी ने उन्हें शीघ्र ही पदोन्नति पर परिवहन तथा गृहमंत्री बना दिया। पंडित पंत कांग्रेस संस्था और प्रशासन मे नए रक्त का संचार करना चाहते थे। वे यह चाहते थे कि नौजवान कार्यकर्ता प्रशासन मे आएं, प्रशिक्षण प्राप्त करें और महत्त्वपूर्ण पदों पर काम करें। पं० पंत व्यक्तियो के भारी पारखी थे। उन्हें यह अवसर मिला कि निकट से इस उभरते व्यक्तित्व का अध्ययन कर सकें। पंत जी ने शास्त्री जी को उत्तर प्रदेश के पुलिस एवं यातायात मंत्री के पद पर नियुक्त किया। राजनीतिक जीवन मे इसे शास्त्री जी की उन्नति ही माना जाएगा। काम चाहे जितना कठिन क्यों न हो उसके अनुरूप ऊंचा उठने की असाधारण श्रम-साधना से शास्त्री जी सदैव संपन्न रहे। उत्तर प्रदेश का पुलिस विभाग अंग्रेज सरकार के भक्तों से भरा पड़ा था। मुस्लिम लीग के प्रभाव के कारण कुछ साप्रदायिक मनोवृत्ति वाले अफसर भी पुलिस में थे। वे दिन साप्रदायिक दगो के थे। किसी भी मंत्री के लिए इस स्थिति में सतुलित रहना कठिन था। शास्त्री जी ने प्रांतीय रक्षा दल का व्यापक संगठन किया। इस दल का कार्य साप्रदायिक झगड़ो को शांत करने में पुलिस तथा गैर-सरकारी संगठनो की सहायता करना था। आगे चलकर यह दल समाज-विरोधी आचरण करने वाले तत्त्वों को समाप्त करने मे प्रशासन का सहायक बना। शास्त्री जी ने अनेक जेल-यात्रियों को इस रक्षा दल में भर्ती करके उन्हें ऊंचे पदो पर स्थापित किया।

परिवहन मत्री के रूप में उनके सुधारों को अत्यंत प्रगतिशील माना जाता है। शास्त्री जी ने बसों मे महिलाओं को बस-कंडक्टरो के स्थान पर नियुक्त किया। उनके आदेश को देखकर सरकार और जनता दोनो आश्चर्यचकित रह गए। वस्तुत: शास्त्री जी को लोगों को सहसा चकित कर देने का अभ्यास पुराना था।

सन् 1952 में नेहरू सरकार के सदस्य होने के बाद वे कांग्रेस और भारत सरकार के समन्वय एवं समाधानकर्ता और समझौता कराने वाले बन गए। नेहरू जी के शब्दों मे "उच्चतम व्यक्तित्व वाले, निरंतर सजग और कठोर श्रमशील व्यक्ति का नाम है लालबहादुर शास्त्री।"

रेल मत्री के रूप मे शास्त्री जी ने अनेक उल्लेखनीय कार्य किए। विभाजन के पश्चात् रेल यातायात-व्यवस्था प्रायः छिन्न-भिन्न हो गई थी। रेल याता-

यात की अविश्वसनीयता के कारण सड़क यातायात के प्रति लोगों का आकर्षण बढ़ रहा था। जनता में रेलवे की त्रुटिपूर्ण कार्य प्रणाली के प्रति बढ़ते हुए असंतोष को दूर करने के लिए उन्होने रेलवे प्रयोक्ता सलाहकार समितियो का आंचलिक और डिवीजनल आधार पर सगठन किया। केंद्र मे एक राष्ट्रीय रेलवे प्रयोक्ता सलाहकार समिति की स्थापना की। इस पद्धति से व्यापारिक जगत मे रेल यातायात के लिए पुनः विश्वास की भावना मे वृद्धि हुई। रेल भाड़े के पूरे ढाचे का अध्ययन करके उचित परामर्श देने के लिए उन्होंने रामास्वामी मुदालियर समिति का निर्माण किया। शास्त्री जी के मंत्रित्वकाल मे चितरजन कारखाने के उत्पादन में लगभग अस्सी प्रतिशत की वृद्धि हुई। प्रतिवर्ष इस कारखाने मे दो सौ इजिनों का उत्पादन होने लगा। शास्त्री जी की अपनी विशेषता यह थी कि उनके कार्यो मे जन-सामान्य के हितों की उपेक्षा नही होती थी। उनके मंत्रित्वकाल मे तीसरे दर्जे के यात्रियों के लिए सुविधाओं मे पर्याप्त वृद्धि हुई।

राजनीति मे लालबहादुर शास्त्री बड़ी सूझ-बूझ से काम लेते थे। राजनीतिक उलझनें उन्हें कभी विचलित न कर सकीं। काम-काज के सूक्ष्मतम विवरणों पर उनकी सूक्ष्म पकड़ होती थी। वे किसी भी समस्या की जड में बैठकर उसका समाधान निकाल लेते थे। बड़े-बड़े अधिकारी उनकी बुद्धिमत्ता और कार्यकुशलता को देखकर आश्चर्यचकित रह जाते थे। कितनी ही गुत्थियों को उन्होने अपने ढंग से सुलझाया और बडे-बड़े संकटो का हंसते-हसते सामना किया। वस्तुतः वे अजातशत्रु थे; उनका कोई विरोधी नही था। अपनी कर्तव्य-निष्ठा और सादगी के कारण उन्होंने भारत के प्रत्येक वर्ग का मन मोह लिया था। वे सत्य और अहिंसा में विश्वास करते थे और उनकी लौकिक इच्छाए बहुत सीमित थी। वे अपना काम नम्रता और खामोशी से करते थे। अपने सिद्धांत और राष्ट्रहित को तनिक भी क्षति पहुंचाए विना समन्वय-वृत्ति से मध्य का रास्ता निकालने की सबसे कठिन कला उन्होंने अपना ली थी। काश्मीर का मामला हो या दक्षिण भारत हिंदी का समस्याग्रस्त प्रश्न हो, मिजाज खोए विना बीच का मार्ग ढूढ निकालना और दृढता मे उस मार्ग पर चलना लालबहादुर का ही काम था।

नेहरू जी जब अस्वस्थ हुए तो उन्होंने शास्त्री जी को निर्विभागीय मंत्री के पद पर नियुक्त कर अपना विश्वासपात्र बनाया। उनका काम था कि वे विदेश मंत्रालय, अणुशक्ति विभाग और मंत्रिमंडलीय सचिवालय से प्रधानमंत्री के पास आने वाले कागजात को संभालेंगे। आवश्यक होने पर वे प्रधानमंत्री के आदेश प्राप्त करेंगे। फिर यह समस्या आई कि "नेहरू के बाद कौन ?" उनके आकस्मिक निधन के बाद अंततः 9 जून, सन् 1964 को प्रधानमंत्री पद लालबहादुर शास्त्री ने ग्रहण किया। दैवयोग से भारत का प्रधानमत्री पद केवल डेढ़ वर्ष ही

संभालने का उन्हें अवसर मिला। लेकिन इतने अल्पकाल में ही उन्होंने बता दिया कि वे समय आने पर, कुशलता से और दृढ़ता से लड़ भी सकते हैं और भारत की शक्ति का परिचय भी दे सकते है। भारत-पाकिस्तान युद्ध में उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया। वास्तव में उनमे चाणक्य जैसी पैनी सूझ-बूझ, सरदार पटेल जैसी दृढ़ता और बापू जैसा गाम्भीर्य तथा शांतिप्रियता विद्यमान थी। इसीलिए वे वैषम्य परिस्थितियों मे भी कभी विचलित नही हुए। भारत-पाक युद्ध के समय 3 सितबर 1965 को उन्होने राष्ट्र के नाम संदेश प्रसारित करते हुए कहा था—

"साथियो! मैं आज आपको पाकिस्तान के हमले और उससे जो हालात पैदा हो गए हैं, उसके सबंध में बताना चाहता हूं, और इस नाजुक घड़ी मे हमारे ऊपर जो जिम्मेदारियां और चिंताएं आ पड़ी हैं, उनमे आपके साथ हिस्सा बंटाना चाहता हूं। पहली सितंबर को पाकिस्तान ने जम्मू के छंब-क्षेत्र में एक ब्रिगेड फौज लेकर हमारे ऊपर भारी हमला किया है। हमारे बहादुर जवान इस हमले का बडी बहादुरी से मुकाबला कर रहे है। मैं उन्हें दिल से बधाई देता हूं। सारे मुल्क को उन पर फक्र है और यकीन है कि वे मुल्क की हिफ़ाजत अच्छी तरह करेंगे। इस नाजुक घड़ी मे हर आदमी को अपना फर्ज पूरी तरह दिल से अदा करना चाहिए। राष्ट्र को, कौम को हसते-हंसते कष्ट और मुसीबतें उठाने और कुर्बानी देने के लिए तैयार होना होगा। आजादी की रक्षा के लिए, उसकी हिफाजत के लिए यह कीमत हम सबको देनी ही होगी। आज सारे राष्ट्र के लिए, सारी कौम के लिए यह पुकार है कि वह इस चुनौती का डटकर सामना करने के लिए तैयार हो जाए।"

श्री शास्त्री जी के इस 'शखनाद' ने देश के जन-जन मे आजादी की रक्षा के लिए तड़फ पैदा कर दी। देखते-देखते करोड़ो की सपत्ति राष्ट्रीय रक्षा-कोष में पहुंचने लगी। पूरा देश सैनिक वातावरण से गूंज उठा। अंततः विजय भारत की हुई। पुनः बाद मे तुरंत अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति के अनुसार भारत की प्रतिष्ठा को तनिक भी धक्का पहुंचाए बिना, संधि भी कर दी। इस प्रकार इस पुण्यभूमि की भारतीय संस्कृति का यह समन्वयवादी वामनमूर्ति नेता विश्व के सबसे बड़े दो राष्ट्रों के राजनीतिक नेताओं का एक-सा आदर प्राप्त कर सका। यह लालबहादुर शास्त्री की राजनैतिक सिद्धि भारत के लिए गौरवास्पद है।

श्री लालबहादुर शास्त्री का प्रधानमंत्री के रूप मे अल्पकाल भुलाए न भुलाया जा सकेगा। वे सचमुच देश से जननायक थे। जनता के वे 'हममे से एक' थे। कृषको को तो शास्त्री जी अपना भाई कहा करते थे। 'जय जवान, जय किसान' का नारा देकर उन्होंने राष्ट्र मे नई प्राण-शक्ति फूकी। 'कम खाओ' और 'अधिक उपजाओ' की उनकी भावना को आगे बढ़ाना होगा। उन्होंने दूसरो

को सीखमात्र ही नहीं दी, स्वयं भी कम खाया और सादा जीवन व्यतीत कर अपने को देश का एक सच्चा नागरिक सिद्ध किया।

शांतिप्रिय शास्त्री जी ने यह स्वीकार किया कि वे ताशकंद जाकर रूसी प्रधानमंत्री कोसिगिन की मध्यस्थता में प्रेसीडेंट अय्यूब से समझौते के बारे में बात करेंगे। 3 जनवरी को प्रधानमंत्री ने ताशकंद वार्ता के लिए भारत से प्रस्थान किया। वहां बातचीत के बाद दोनों ने श्री कोसिगिन जी भूरि-भूरि प्रशसा करते हुए कहा कि शक्ति-प्रयोग के त्याग के प्रश्न पर उत्पन्न हुए गतिरोध को भंग करने में उन्होंने असाधारण सूझ-बूझ तथा राजनीतिक कुशलता का परिचय दिया। 10 जनवरी, 1966 को दोनो ने ताशकंद घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर किए। उसी रात रात्रि को उनकी तबियत खराब हुई और उनका असामयिक निधन हो गया। संपूर्ण राष्ट्र अपने प्रिय नेता के स्वागत की तैयारियां कर रहा था कि सहसा यह समाचार मिला कि हृदय की गति रुक जाने से लालबहादुर शास्त्री का देहावसान हो गया। यह समाचार भारत के लिए ही नही, संपूर्ण विश्व के लिए वज्राघात के समान प्रतीत हुआ। देश-विदेश से श्रद्धांजलिया अर्पित की गईं। श्री गुलजारीलाल नंदा ने कहा—

"भारत के जनप्रिय नेता स्वर्गीय शास्त्री जी के विषय मे जितना कहा जाए, थोड़ा होगा। अल्पकाल मे ही उन्होंने भारत की समस्याओं को सुलझाने का जैसा सुदर प्रयास किया, वह अब हमारे इतिहास का सुनहरा पृष्ठ है। ·· हमारे बीच से एक ज्योति-पुज उठ गया। मुझे पूरा विश्वास है कि उनके आदर्श और उनका जीवन हमेशा इस देश को रोशनी दिखाता रहेगा। हम भारतवासी उनके स्वप्न को साकार बनाने का प्रयत्न करें, यही दिवंगत नेता के प्रति हमारी सच्ची श्रद्धांजलि होगी।"

राष्ट्रपति राधाकृष्णन ने उन्हें मरणोपरात 'भारत रत्न' के सर्वोच्च अलंकरण से विभूषित किया। वस्तुतः अल्प समय में ही अपने कार्यों से लालबहादुर शास्त्री ने सिद्ध कर दिया था कि वे प्रथम श्रेणी के सितारे बन चुके थे। उनका व्यक्तित्व महान था। उनके लिए राष्ट्र ही सर्वोपरि था। वे अपने हृदय से देश और देश-वासियों को प्रेम करते थे। वास्तव में उनका जीवन हम लोगो के लिए एक महान पाठ है। उनकी उत्कृष्ट देशभक्ति, अपूर्व त्याग और निष्काम कर्म हम भारतीयों के लिए आदर्श बने रहेंगे। ऐसे अद्वितीय कर्मयोगी एवं स्वतंत्रता सेनानी को शत-शत प्रणाम!

सरदार भगतसिंह

"शहीदों की चिताओं पर लगेंगे हर बरस मेले,
वतन पर मरने वालों का यही आखिर निशां होगा।"

अमर शहीद सरदार भगतसिंह पंजाब के उन शूरवीरों में से एक हैं, जिन्होंने देश की स्वतन्त्रता-वेदी पर प्राणों की आहुति दी। उनका क्रांतिकारी जीवन भारत के प्रत्येक नागरिक के लिए प्रकाश-स्तंभ का प्रतीक है। वह एक ऐसे क्रांतिकारी देशभक्त थे जिन्होंने परतंत्र भारत की आत्मा को झकझोरा और विश्व की महानतम साम्राज्यवादी शक्ति को चेतावनी दी। उन्होंने देश के कोने-कोने में जाकर ब्रिटिश-शासन विरोधी अनेक संगठनों का गठन किया ताकि किसी भी प्रकार से मुक्ति-आंदोलन शिथिल न होने पाए। उन्होंने अपनी भारतमाता को स्वतन्त्र करवाने के लिए जो निर्भयतापूर्वक बलिदान दिया, उसका परिणाम यह हुआ कि तत्कालीन नवयुवकों में एक नवीन चेतना, स्फूर्ति एवं उत्साह भर गया। *अपने असीम देश-प्रेम एवं बलिदान से उन्होंने अपने समकालीन भारतीय नव-*युवकों के समक्ष अतीव निराशा को तिलांजलि देकर राष्ट्र-सम्मान का मार्ग प्रशस्त किया।

ऐसे राष्ट्र वीर सरदार भगतसिंह का जन्म जिला लायलपुर के बंगा गांव में 27 सितंबर सन् 1907 ई० को हुआ। वह जिस परिवार मे उत्पन्न हुए थे उसके लिए देशभक्ति या देश के लिए बलिदान करना कोई नई बात नही थी। एक ऐसे स्वतंत्रता संग्रामी परिवार मे उनका जन्म हुआ था जिसने योद्धाओ का एक नक्षत्र मडल ही उत्पन्न किया था। उनके दादा सरदार अर्जुनसिंह प्रथम स्वतंत्रता युद्ध के प्रेरक स्वामी दयानंद जी से दीक्षित होकर भारतमाता की स्वतंत्रता हेतु स्वतंत्र विचारो से पोषित होने लगे। उनके पिता सरदार किशन-सिंह एक क्रातिकारी, 'भारतमाता सोसाइटी' के कार्यकर्ता थे और कई बार जेल गए थे। भगतसिंह के जन्म के समय, वे भूमि-सुधार आदोलन के सबध मे सेंट्रल जेल से छूटकर वापिस आए। उनके चाचा सरदार अजीतसिंह अपने समय के एक बहुत बड़े क्रातिकारी स्वतंत्रता-संग्रामी थे। उनके भी जेल से छूटने का तभी समाचार आया था। इन्ही कारणो से भगतसिंह की दादी ने उनको भागो वाला कहा, जिससे उनका नाम भगतसिंह पड़ा।

ऐसे क्रातिकारी पारिवारिक वातावरण मे स्वाभाविक ही था कि भगतसिंह बचपन से ही देश-प्रेम की भावनाओं से ओतप्रोत हो जाते। बाल्यावस्था से ही उनका पूरा वातावरण उस महान बलिदान के लिए तैयार कर रहा था जिसका उदाहरण इतिहास मे कम ही उपलब्ध होता है। सरदार भगतसिंह का झुकाव लडकपन से ही उछल-कूद तथा सामरिक क्रीड़ाओं की ओर था। उन्हें तलवार-बंदूक से बड़ा प्रेम था।

भगतसिंह की प्रारंभिक शिक्षा गांव के ही एक स्थानीय स्कूल मे हुई। गांव के स्कूल की पाचवी कक्षा उत्तीर्ण करके भगतसिंह ने 1916-17 ई० मे डी० ए० वी० स्कूल लाहौर मे प्रवेश लिया। इसी समय उनका संपर्क भारत के बहुचर्चित राजनैतिक नेताओ श्री नदकिशोर मेहता, लाला पिडीदास, सूफी अंबाप्रसाद तथा लाला लाजपतराय से हो गया। सरदार भगतसिंह जिस युग मे विद्यार्थी-जीवन व्यतीत कर रहे थे, उस समय पजाब गदर पार्टी के वीरों एव शहीदो की गाथाओ से गूज रहा था। गदर पार्टी के वीरो मे शहीद करतारसिंह सराभा ने भगतसिंह को सर्वाधिक प्रभावित किया। लाहौर षड्यंत्र केस की खोज के लिए उसका हंसते-हंसते फांसी के फंदे को चूम लेना देशस्वातंत्र्य के लिए एक अनुपम बलिदान था। नौ वर्षीय भगतसिंह के मन पर इस घटना का अत्यत गहन प्रभाव पड़ा।

1919 ई० मे अमृतसर मे प्रसिद्ध जलियांवाला कांड हुआ। इस कांड मे भारतीय चेतना जाग पड़ी और राष्ट्र जाग उठा। भगतसिंह की आयु उस समय केवल 12 वर्ष की थी। वह लाहौर मे पढ़ रहे थे। परंतु जिसकी शिराओं मे अपनी तीन पीढ़ियों के देशभक्तों का रक्त प्रवाहित हो रहा था वह उस कांड से प्रभावित हुए बिना कैसे रह सकता था? इस समाचार को सुनकर वह किशोर

स्कूल न जाकर, अमृतसर जलियांवाला बाग पहुंचा। वहां उसने देश के लिए प्राणोत्सर्ग करने वाले वीरों के प्रति सत्कार भावना प्रकट की। वह श्रद्धा से नतमस्तक हो गए। उनकी आंखें आंसुओं से भर गईं। किंतु वे आंसू बह न सके। रक्तरंजित धरती गूंजी और बार-बार गूंज उठी। संभवतः उसका अभिप्राय था कि भगतसिंह अपने प्राणों की बलि दे। बालक भगतसिंह ने खून से रंगी धरती से धूलि उठाई और माथे पर टीका किया। उसने देश के लिए बलिदान की शपथ ली। वह एक शीशी में शहीदों की मुट्ठी-भर पवित्र राख लेकर घर लौटा। तब तक बालक भगतसिंह में पर्याप्त परिवर्तन हो चुका था। घर आए तो उनकी बड़ी बहन ने उनसे उनके हिस्से का फल खाने को कहा। किंतु उसने इस बात का ध्यान तक नहीं दिया और खिन्न, उदास मन से राख-भरी हुई शीशी अपनी बहन को दिखायी तथा कहा—"देखो अंग्रेजों ने हमारे सैकड़ों आदमी मार डाले हैं।" यह रक्तरंजित धूलि सदैव उन्हें प्रेरणा देती रहती और स्मरण दिलाती रहती थी कि उन्होंने अंग्रेजों द्वारा किए गए भारतीयों के प्रति अपमान का प्रतिकार लेना है।

1920 ई० में गांधी जी ने जब असहयोग आंदोलन चलाया तो भगतसिंह नवीं कक्षा के छात्र थे। वे स्कूल छोड़ आंदोलन में कूद पड़े। परंतु 1922 ई० में गांधी जी ने सत्याग्रह स्थगित कर दिया। अचानक आंदोलन के स्थगित होने से वे बड़े बेचैन हुए। इसी समय पंजाब में गुरुद्वारा आंदोलन चल रहा था। भगतसिंह भी इस आंदोलन में कूद पड़े। उनके पूर्वज सिख होते हुए भी आर्यसमाजी विचारों से प्रभावित थे। गुरुद्वारा आंदोलन में भाग लेने के लिए उन्होंने केश रखा लिए, पगड़ी और कृपाण भी बांधने लगे।

शीघ्र ही वे लाला लाजपतराय द्वारा स्थापित और काशी विद्यापीठ से संबद्ध नेशनल कालेज में भर्ती हो गए। उनके हृदय में क्रांति की ज्वाला धधक रही थी। इस कालेज में सामान्य विषयों के अतिरिक्त देशभक्ति, राष्ट्रवाद तथा ऐसे कई अन्य विषयों पर भाई परमानंद, लाला लाजपतराय आदि राष्ट्रीय नेताओं के भाषण होते थे। इससे नवयुवकों को देश स्वतंत्र कराने के लिए प्रेरणा मिलती थी। यहीं पर भगतसिंह, भगवतीचरण, सुखदेव, यशपाल आदि क्रांतिकारियों के संपर्क में आए। इतिहास के प्रोफेसर जयचंद्र विद्यालंकार से भगतसिंह विशेष प्रभावित हुए थे। एक प्रकार से वे उनके राजनीतिक गुरु बन गए थे। विद्यालंकार जी का उत्तर प्रदेश के क्रांतिकारियों से प्रत्यक्ष संपर्क था। वे उनके संबंध में इन्हें जानकारी देते रहते थे। कालेज-जीवन के समय भगतसिंह को राजनीति और पढ़ाई में रुचि होने के साथ-साथ देशभक्ति के गीत गाने, जोशीले नाटक खेलने में अत्यधिक रुचि थी। वे नेशनल नाटक क्लब के क्रियाशील सदस्य थे और अभिनय किया करते थे। इन नाटकों को खेलने का उद्देश्य

लोगों में राष्ट्रीय भावनायें उद्दीप्त करना तथा उन्हें विदेशी शासकों के विरुद्ध आवाज बुलंद करने के लिए प्रेरित करना था। इसलिए सरकार ने इस क्लब पर प्रतिबंध लगा दिया।

इसी समय उनके पिता के मित्र श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल ने उन्हें प्रभावित किया। उन्होंने भगतसिंह को क्रांतिकारी बनने को प्रेरित किया। सान्याल का तर्क था—"अहिंसा अंग्रेज़ों को खदेड़कर भगा नही सकती। तुम्हें गुप्तदल मे शामिल होना चाहिए, हथियार इकट्ठे करने चाहिए और आतंक उत्पन्न करने वाले अंग्रेजों को मौत के घाट उतारना चाहिए। भारतीय सेना को अपनी ओर करना चाहिए और देश मे क्रांति उत्पन्न करनी चाहिए।"

यद्यपि भगतसिंह के पिता स्वयं एक क्रांतिकारी थे तथापि वे अपने पुत्र को क्रांतिकारी बनाकर उन सभी यंत्रणाओं को भोगने से बचाना चाहते थे। इसलिए उन्होंने भगतसिंह को विवाह करके गृहस्थ-जीवन बिताने की सलाह दी। किंतु भगतसिंह ने इसे स्पष्टतः अस्वीकार कर दिया। उसने कहा कि वह अपना सारा जीवन मातृभूमि की सेवा मे लगाना चाहता है। पिता ने सभी प्रकार से भगतसिंह को इतना विवश किया कि वे पढ़ाई छोड़कर कानपुर जा पहुंचे। उन्होने पिता को लिखा—

"मैं आपके पत्र के विषय को पढ़कर आश्चर्यचकित रह गया। जब आप सरीखे देशभक्त एवं साहसी व्यक्ति ऐसी साधारण समस्याओ से हताश हो जायें तो एक साधारण व्यक्ति का क्या होगा। आप केवल दादी की चिंता कर रहे है। पर 33 करोड़ व्यक्तियो की भारतमाता कितने और कैसे दु.खो मे है। हमे उसके दु.ख दूर करने के लिए सभी कुछ स्वीकार करना पडेगा। मैं जानता हूं कि यदि मैं यही रहा तो मुझे विवाह करने पर विवश किया जायेगा। इसलिए मैं किसी अन्य स्थान पर जा रहा हूं।" "विवाह का समय नही, देश मुझे बुला रहा है। मैने राष्ट्र की तन-मन से सेवा करने की सौगन्ध ली है। कृपा करके मुझे बन्धन मे मत जकड़ें बल्कि मुझे आशीर्वाद दें कि मैं अपने आदर्श मे सफल होऊं।"

वह अपने मित्रों मे यह कहकर जुदा हुए कि—

"दोस्तो, यदि मेरा विवाह गुलाम भारत मे होना है तो मेरी वधू केवल मौत होगी— बारात जुलूस के रूप में होगी और बाराती देश के लिए मर मिटने वाले परवाने होंगे।"

कानपुर मे भगतसिंह हिंदी 'प्रताप' के संपादक श्री गणेशशंकर विद्यार्थी से मिले। उनसे उन्होंने पत्रकारिता का प्रशिक्षण भी लिया। बहुत भागदौड़ के बाद सरदार किशनसिंह अपने पुत्र भगतसिंह का पता लगाने मे सफल हुए। उन दोनों के बीच मौन समझौता हुआ कि बाप बेटे को विवाह के लिए विवश नही करेगा। और

अपनी सशस्त्र कार्रवाई उसे करने देगा। इस प्रकार भगतसिंह पूर्णकालिक क्रांतिकारी बन गए।

दिसंबर, सन् 1927 में चार क्रांतिकारियों—रामप्रसाद बिस्मिल, राजेन्द्र लहरी, रोशनसिंह तथा अशफाकुल्ला को प्रसिद्ध काकोरी कांड के संबंध में फांसी की सजा दे दी गयी। इस मामले में एक अन्य फरार चंद्रशेखर आजाद अपने एक-दूसरे फरार सहयोगी कुंदनलाल की मार्फत भगतसिंह से मिले। तीनों से मिलकर दल को पुनर्संगठित किया। हथियार तथा रुपए-पैसे फिर से एकत्र किए जाने लगे। क्रांतिकारी दर्शन तथा सशस्त्र कार्यवाही पर विचार-विमर्श गर्मजोशी के साथ होने लगा। उन्होंने बम बनाना भी सीख लिया।

फरवरी 1928 ई० में साइमन कमीशन का विरोध लाला लाजपतराय के नेतृत्व में हो रहा था। दो अंग्रेज पुलिस अधिकारियों, स्काट तथा साण्डर्स की कमान में पुलिस ने प्रदर्शनकारियों पर हमला किया। इस आक्रमण में लाला लाजपतराय पर लाठियों से प्रहार किया गया, जिसके फलस्वरूप वे घायल होकर बीमार पड़ गए और अंततः 17 नवम्बर, 1928 को उनकी मृत्यु हो गयी। क्रांतिकारियों ने इसका बदला लेने का निर्णय लिया। कुछ ही समय पश्चात् भगतसिंह ने अपनी पिस्तौल से सांडर्स को छलनी कर दिया। यह ब्रिटिश साम्राज्यवाद को एक चुनौती थी। लाहौर का वातावरण एकाएक गरम हो गया। किंतु सरदार भगतसिंह वेश बदलकर कलकत्ता पहुंच गए। लाला लाजपतराय की हत्या का बदला लेने और तत्कालीन नौकरशाही पुलिस की आंख में धूल झोंककर बच निकलने पर वह युवकों के प्रिय नेता बन गए।

भगतसिंह दल को संगठित करने में पुनः लग गए। वे राजनीतिक गतिविधियों पर भी दृष्टि रखे हुए थे। ब्रिटिश सरकार स्वतंत्रता सेनानियों और मजदूर नेताओं के विरुद्ध नए कानून बनाने की तैयारियां कर रही थी। देश में इस बिल के विरुद्ध पर्याप्त विचार प्रकट हो चुके थे। केन्द्रीय विधान सभा ने इन कानूनों को 'काला कानून' कहकर अस्वीकृत कर दिया था। किंतु वायसराय को अपने निरंकुश विशेषाधिकारों के अंतर्गत जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा अस्वीकृत कानून को भी विधि संहिता में सम्मिलित कराने का अधिकार प्राप्त था। 8 अप्रेल, सन् 1929 को इस बिल के विषय में केन्द्रीय असेम्बली में बहस हो रही थी। ज्योंही वायसराय ने इन कानूनों को प्रमाणित किया तत्काल ही भगतसिंह और बटुकेश्वरदत्त ने केन्द्रीय हाल में दो बम फेंके। सदस्यों को लगा जैसे भूचाल आ गया हो। परंतु वे दोनों तरुण शांत चित्त से खड़े रहे। वे भाग सकते थे। बाहर एक गाड़ी उनको ले जाने के लिए खड़ी थी। परंतु वे 'साम्राज्यवाद का नाश हो' एवं 'इंकलाब जिंदाबाद' के नारे लगाते रहे। उन्होंने लाल पर्चे भी फेंके, जिसमें क्रांतिकारी दल के उद्देश्य छपे हुए थे—समाजवाद यानी एक वर्गहीन

समाज की रचना जिसमें मनुष्य, मनुष्य का शोषण न करे। उन पर्चों पर लिखा था—"हम मानव जीवन को पवित्र समझते है, हम ऐसे उज्ज्वल भविष्य मे विश्वास रखते है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण शांति और स्वतंत्रता का अवसर मिल सके। हम इंसान का खून बहाने की अपनी विवशता पर दुःखी हैं। परंतु क्रांति द्वारा सबको समान स्वतंत्रता देने और मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण समाप्त कर देने के लिए क्रांति मे कुछ न कुछ रक्त अनिवार्य है। लेकिन मानवता को प्यार करने मे हम किसी से पीछे नही है।"

दिल्ली के असेम्बली भवन में बम फेंकने के पश्चात् सरदार भगतसिंह का नाम न केवल देश के कोने-कोने मे चर्चा का विषय बन गया अपितु विदेशों मे भी उनके साहस का उल्लेख हुआ और भारत के स्वाधीनता-संग्राम मे रुचि रखने वाले तत्त्वों ने उनके कार्य की सराहना की। अपने विरुद्ध चल रहे मुकदमे में उन्होने कहा था कि मेरा बम फेंकने का अभिप्राय किसी व्यक्ति-विशेष की हत्या करना नही था बल्कि मैं बहरे कानो को यह सुनाना चाहता था कि भारत की जनता क्या चाहती है?

इस घटना के बाद पुलिस एवं गुप्तचर विभाग ने क्रांतिकारियों एवं उनके समर्थकों की तेजी से धर-पकड प्रारंभ कर दी, अनेक प्रमुख क्रांतिकारी पुलिस के शिकंजे में फस गए।

भगतसिंह एव उनके साथी क्रांतिकारियों पर लगाए गए आरोपों की सुनवाई एवं निर्णय के लिए न्यायाधीश जी० सी० हिल्टन की अध्यक्षता मे एक विशेष न्यायालय का गठन किया गया जिसने 7 अक्टूबर, सन् 1930 को भगतसिंह, राजगुरु तथा सुखदेव को फासी की सजा सुना दी। अन्य लोगों को लंबी सजाएं दी गयी। इससे सारे देश मे उथल-पुथल मची।

जब सरदार भगतसिंह को फांसी का हुक्म हो गया और उनके सभी साथी शोकमग्न अवस्था में हो गए, उस समय एक साथी ने उनसे पूछा—"सरदार! तुम सदा के लिए भारतमाता की कोख सूनी करके जा रहे हो, मैं जानना चाहता हू कि तुम्हे कोई अफसोस तो नही हो रहा, तुम्हारी कोई हार्दिक इच्छा तो शेष नही रह गयी?"

भगतसिंह पहले तो खूब हसे फिर गभीर स्वर मे बोले—"क्रांति के मार्ग पर कदम रखते समय मैंने सोचा था कि यदि मैं अपना जीवन देकर देश के कोने-कोने तक इकलाब-जिंदाबाद का नारा पहुंचा सका तो मैं समझूगा कि मुझे अपने जीवन का मूल्य मिल गया; आज फासी की इस कोठरी मे लोहे के सीखचों के पीछे बैठ-कर भी मैं करोड़ों देशवासियों के कंठों से उठती हुई उस नारे की हुंकार तो सुन सकता हूं। मुझे विश्वास है कि मेरा यह नारा स्वाधीनता-संग्राम के चालक शक्ति के रूप में साम्राज्यवादियो पर अत तक प्रहार करता रहेगा।" फिर कुछ रुककर

अपनी स्वाभाविक मुस्कराहट के बीच धीरे से कहा—"और इतनी छोटी जिंदगी का इससे अधिक मूल्य हो भी क्या सकता है ?"

भगतसिंह ने अपने साथियों से विदा होने से पहले संदेश दिया—

"मित्रो, मिलना और बिछुड़ना स्थायी (अंतिम) है। हो सकता है हम फिर न मिल सकें। जब आपकी सज़ा पूरी हो जाये तो घर पहुंचकर सांसारिक कामों में मत उलझ जायें। जब तक आप भारत में से अंग्रेज़ों को निकालकर समाजवादी जनतंत्र स्थापित न कर लें, आराम से न बैठें। यह मेरा आपके लिए अंतिम संदेश है।"

कुछ लोगों ने सुझाव दिया कि अभियुक्तों की ओर से यदि वायसराय को (क्षमा-याचना-पत्र) दिया जाये, तो संभव है मृत्यु-दंड मे परिवर्तन हो जाए। एडवोकेट प्राणनाथ मेहता को इस विषय पर भगतसिंह, राजगुरु एवं सुखदेव से वार्ता करने के लिए जेल भेजे जाने का निर्णय लिया गया। उन्होंने उनसे जेल में भेंट की और उन्हें समझाया कि उनका जीवन राष्ट्र की धरोहर है। जिस आजादी के लिए वे लड रहे हैं वह अब दूर नही, वह मिलकर रहेगी और आजादी के बाद देश का पुनर्निर्माण आवश्यक होगा, जो उनके बिना कठिन हो जाएगा। इस मसविदे मे तुम्हारे स्वाभिमान को ठेस पहुंचाने की बात नही होगी।

अगले दिन एडवोकेट प्राणनाथ उक्त मसविदे की प्रति, जिसे रात्रि-जागरण के पश्चात् कठोर परिश्रम से पांच व्यक्तियों ने तैयार किया था लेकर भगतसिंह से पुनः जेल मे भेंट करने गए। भगतसिंह ने मसविदा पढकर एक कहकहा लगाया। फिर उन्होंने श्री मेहता को सूचना दी कि वे अपना क्षमा-याचना पत्र स्वयं लिखकर वायसराय को भिजवा चुके है। अपने पत्र की प्रतिलिपि भी उन्होंने श्री मेहता को दे दी।

भगतसिंह के इस विस्तृत एवं अद्‌भुत दया-याचना पत्र के महत्वपूर्ण अंश इस प्रकार थे—

'···*हमने सम्राट् जार्ज पंचम के विरुद्ध संघर्ष किया है, यह हम पर सबसे बड़ा* आरोप लगाया है। जिससे स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटिश शासन और भारतीय जनता के बीच संघर्ष जारी है और हमने उस संघर्ष में भाग लिया है। अतः हम युद्ध-बंदी हैं···।'

'···हम यह कहना चाहते हैं कि युद्ध जारी है और यह लडाई तब तक जारी रहेगी जब तक शक्तिशाली लोग भारतीय जनता और श्रमिकों की आय के स्रोतों पर अपना अधिकार बनाए रखेंगे। चाहे वे व्यक्ति अंग्रेज हों अथवा भारतीय···।'

'··· बहुत संभव है कि यह संघर्ष एक भयंकर रूप ग्रहण कर ले, किंतु उस समय तक बंद नही होगा, जब तक कि समाज का वर्तमान ढांचा समाप्त नहीं हो

जाता, प्रत्येक वस्तु मे क्रांति नही हो जाती, मानवी सृष्टि मे एक नवीन युग का सूत्रपात नही हो जाता'''।'

''''आप जिसकी लाठी उसकी भैंस का सिद्धात अपना रहे है और आप उस पर कटिवद्ध हैं'। हमारे अभियोग की सुनवाई से साबित हो जाता है कि हमने अब तक कोई दया प्रार्थना नहीं की और अब भी हम आपसे कोई दया प्रार्थना नही कर रहे हैं। हम केवल यह प्रार्थना करना चाहते है कि आपके ही एक न्यायालय ने हम पर युद्ध जारी रखने का अभियोग लगाया है। अत. इस स्थिति मे हमें युद्धबदी समझा जाये और हमारे साथ युद्धवदियो जैसा व्यवहार करते हुए हमे फांसी न देकर गोली से उड़ा दिया जाए ''।'

"शीघ्र ही अंतिम संघर्ष आरंभ होने की दुदुभी बजेगी, उसका परिणाम निश्चयात्मक होगा। साम्राज्यवाद और पूजीवाद अपनी अतिम घड़ियां गिन रहा है। हमने उनके विरुद्ध भाग लिया था और उसके लिए गर्व है।"

राष्ट्रवीर सरदार भगतसिंह के ये शब्द दृढ-संकल्प, साहस, शौर्य एव निष्ठा के प्रतीक हैं। उनका यह अद्भुत क्षमा-याचना-पत्र क्या एक सपूर्ण जीवन-दर्शन नही है ?

अमर शहीद भगतसिंह को जन्म देने वाली वीर माता श्रीमती विद्यावती जब अपने वीर पुत्र से फांसी दिये जाने के पूर्व अतिम भेंट करने गयी, तो हसी के ठहाकों के साथ भगतसिंह ने कहा—बेबे जी, लाश लेने आप मत आना, कुशवीर को भेज देना, कही आप रो पडी, तो लोग कहेंगे कि भगतसिंह की मां रो रही है। इतना कहकर वे पुन. इतनी जोर से हसे कि जेल के अधिकारी चकित रह गये।

फांसी के पूर्व भगतसिंह ने डिप्टी कमिश्नर से कहा, "मजिस्ट्रेट महोदय आप भाग्यशाली है कि आप अपनी आंखों से यह देखने का अवसर पा रहे है कि भारत के क्रातिकारी किस प्रकार प्रसन्नतापूर्वक अपने सर्वोच्च आदर्श के लिए मृत्यु का आलिगन कर सकते है।"

सर्वत्र विरोध एवं प्रदर्शन के बावजूद भगतसिंह को अपने दोनों साथियो सहित 23 मार्च सन् 1931 को फासी दे दी गयी। उस दिन एक ओर लाहौर जेल का फांसीघर बेडियों की झंकार से झकृत था, दूसरी ओर ये अलमस्त स्वर मे बाहों मे बाहें डाले गाते जा रहे थे—

'दिल से निकलेगी न मरकर भी वतन की उल्फत,
मेरी मिट्टी से भी खुशबू-ए-वतन आयेगी।'

वस्तुत. भगतसिंह की मृत्यु कोई साधारण मृत्यु न थी, वह भावी पीढ़ियो के लिए जीवन-द्वार खोल गई। भगतसिंह के क्रांतिकारी कार्यो तथा उसके बलिदान

ने अंग्रेज शासन की जड़ों को गहरा धक्का दिया था और जनता के हृदय में उसके उखाड़ फेंकने की तीव्र भावना भर दी थी। उनका नाम समस्त उत्तर भारत में सशस्त्र क्रांति का प्रतीक बन गया। उसने अपनी उच्च राष्ट्रीय भावना एवं आत्माहुति से जो लोकप्रियता प्राप्त की, वह श्लाघनीय थी। उनके बलिदान की प्रकृति को महात्मा गांधी ने स्वीकार किया और उनकी बहादुरी की प्रशंसा की। पं० जवाहरलाल नेहरू ने भी एक बार कहा था—"क्या कारण है कि यह नवयुवक अचानक इतना लोकप्रिय हो गया है ?"

ज्ञानी जैलसिंह

ज्ञानी जैलसिंह भारत राष्ट्र के सातवें तथा प्रथम पंजाबी राष्ट्रपति हैं। इन्होंने अपने जीवन मे देश के लिए अनेकानेक कुर्बानियां दी हैं। बचपन से ही आप मे देशभक्ति की भावना प्रबल थी। भगतसिंह आदि अन्य देश-प्रेमियों के संपर्क में आकर तथा उनके आदर्शों को देखकर आपकी देशभक्ति ने विद्रोह और क्रांति का रूप भी धारण कर लिया था। अंग्रेजी शासन मे जेल-जीवन मे जितनी कठिनाइयां एवं मुसीबतें इन्होंने झेली उतनी विरले ही भारतीय देशभक्तों को मिली होंगी। निःसंदेह आपके हृदय में देश और जाति के प्रति अनन्य प्रेम भरा हुआ था।

आपका जन्म 5 मई सन् 1916 को पंजाब के फरीदकोट जिले के संधवान गांव मे एक कृषक-परिवार में हुआ। गांव के अन्य मकानों की भांति आपका मकान भी कच्चा था। ज्ञानी जी के पूर्वज खेती करते थे। आपके पिता सरदार किशनसिंह के पास लगभग 66 एकड भूमि थी। ज्ञानी जी के एकमात्र पुत्र अब भी उसी खेती की देखभाल करते हैं। इस छोटे से गांव में रहते हुए कृषक-पुत्र ज्ञानी जी बचपन में ही गांव के जन-जीवन से भली-भांति अवगत हो गए थे। कृषकों की तरह इनको भी कठोर श्रम करने की आदत पड़ गयी। अतः इन्हे सामान्य जन की समस्याओं को समझने मे कभी कठिनाई नही हुई।

जैलसिंह अभी छः वर्ष के ही थे कि इनके पिता की मृत्यु हो गई। किंतु जैलसिंह ने अपनी माता जी से पूर्ण शिक्षा प्राप्त की। धार्मिक विचार, नैतिक बल, सामाजिक रहन-सहन, सभ्यता एवं सेवा के व्रत इनको माता जी से ही प्राप्त हुए। इस संबंध में ज्ञानी जी ने एक बार स्वयं कहा था—"आज मैं जो कुछ हूं उसका श्रेय मेरी माता जी को है। उसने मुझे जन्म ही नही दिया, अपितु वह मेरे राजनैतिक और सार्वजनिक जीवन की भी निर्मात्री हैं।" माता जी के उपकारों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए इन्होंने कहा है—"मेरे चरित्र, मेरे भविष्य को बनाने के लिए उन्होंने जो बलिदान किए हैं, मैं आयु-पर्यन्त उनकी सेवा करके उस ऋण से उऋण नही हो सकता।"

दुर्भाग्य से जब इनकी माता का देहांत हुआ, उस समय ये कारावास में

थे। ये उस समय पाच वर्ष की जेल काट रहे थे। इनकी जेल-अवधि पूरी होने मे अभी तीन महीने शेष थे। इनकी मां भयंकर रोगग्रस्त थी। इन्होंने अपनी मां के दर्शन के लिए, उनकी आखिरी सेवा के लिए पैरोल पर छूटने के लिए प्रार्थना की। किंतु अधिकारियों ने इसकी आज्ञा नही दी। वास्तव में उन्होंने जैलसिंह से *क्षमायाचना की शर्त रखी थी जिसे इन्होंने मानने से मना कर दिया था।* निःसंदेह अपनी मां को ज्ञानी जी सर्वाधिक प्यार करते थे, किंतु भारत-माता की सेवा के आगे इन्हें यह कुर्बानी करनी पड़ी। ये ऐसा कोई कार्य नही करना चाहते थे जिससे भारत-माता की अवमानना हो। फलतः इनके जेल में रहते ही इनकी मा परलोक सिधार गयी। ज्ञानी जी को अपनी माता जी के अंतिम दर्शन न हो सकने का बड़ा अफसोस हुआ। किंतु इन्होंने लाखों-करोड़ों की मां 'भारत-मां' के उद्धार की खातिर इस सदमे को सहन कर लिया। इस घटना से ज्ञानी जी की देशभक्ति और भी तीव्रतर हो गयी। इसने इन्हें और अधिक विद्रोही बना दिया। ये पहले से भी अधिक देश-सेवा में संलग्न हो गए।

जैलसिंह अभी 16 वर्ष के ही थे कि तभी शहीद भगतसिंह को 23 मार्च 1931 को फांसी दी गयी। इस घटना से ये अत्यधिक प्रभावित हुए। इनकी आंखों में आंसू आते रहे। अन्य क्रांतिकारियों के संपर्क से इनमे क्रांति की अग्नि और भी प्रज्वलित होने लगी। इन्होने देश के लिए प्राण न्यौछावर करने तक का प्रण लिया और यह प्रण उन दिनों लिया जबकि राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने का कोई स्वप्न तक नही लेता था। शहीदों की जीवनियों एवं कारनामों ने इनके चरित्र पर ऐसा प्रभाव डाला कि ये देश को स्वतत्र कराने के अनेकानेक साधन अपनाने लगे। लाला लाजपतराय, बाबा आत्मासिंह और बाबा ईश्वरसिंह से *मिलकर इन्होंने सारे पजाब में स्वतंत्रता की भावना का प्रचार-प्रसार किया।* ये देश की आजादी के लिए एक प्रकार से दीवाने हो गए थे। इनके प्रयासों से सारे पंजाब मे 'इन्कलाब-जिंदाबाद' के नारे गूंजने लगे।

वस्तुतः ज्ञानी जी का अपना एक पृथक, विलक्षण एवं अछूता व्यक्तित्व है। भरा-पूरा चेहरा, ऊंचा कद, उभरा हुआ शरीर, मिलनसार स्वभाव, हंसमुख, हाजिर-जवाब, अचकन-पायजामा-धारी-पगड़ी बांधे हुए ज्ञानी जी अपने मे एक अलग पहचान है। शेरो-शायरी का इतना शौक है कि किसी भी अवसर को आप खाली नही छोड़ते। हर मौके के लिए अनुकूल शेरो का आपके पास खजाना भरा रहता है। ये इस कला के बल पर गंभीर से गंभीर वातावरण को भी सजीव बना लेते हैं। इससे *आपकी जिंदादिली तथा तीव्र स्मरण-शक्ति का* पता चलता है।

ज्ञानी जी मानवता के जीते-जागते प्रतीक हैं। ये कठिन से कठिन तथा छोटे से छोटा काम करने में नही चूकते। इन्होंने कहा है—"मैं पत्थर तोड़ सकता हू और

सड़क बना सकता हूं। मैं मकान की दीवार बना सकता हूं। मैं अपने व्यक्तिगत कार्यों के लिए किसी पर निर्भर नही रहता। मैं कुआ खोद सकता हू तथा मैंने कई बार खेतों मे हल जोता है।'''मैं किताबो की जिल्दें बाध सकता हूं। लकडी के काम में तो मैं पूर्ण हूं। मैंने एक बार 'गुरु ग्रथसाहिब' के लिए लकड़ी की एक पालकी बनायी थी जिसकी लोगों ने अत्यधिक प्रशसा की थी और उसे कला का एक उत्कृष्ट नमूना बताया था।"

ऐसे जन-जन के कार्यो से सुपरिचित है हमारे वर्तमान राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह जी। फिर इनके व्यक्तित्व मे भारत का छोटे से छोटा व्यक्ति यदि अपने व्यक्तित्व को पाता हो तो इसमे कोई आश्चर्य नही।

ज्ञानी जी को अक्षरश: शब्दावली मे विद्वान् नही कहा जा सकता। ज्ञानी होने के कारण सिखधर्म और साहित्य के तो आप ज्ञाता हैं ही, किंतु बचपन से ही धार्मिक भावना के कारण आपने 'गुरुग्रंथ साहिब' के अतिरिक्त 'गीता', 'रामायण' तथा 'कुरान शरीफ' का भी सम्यक् अध्ययन किया। नि.सदेह इस अध्ययन ने आपकी सामाजिक दृष्टि को उदार एवं विशाल बनाया। फलतः उनका भारत की आधुनिक सामाजिक एवं धार्मिक अवस्था का विश्लेपण अद्भुत होता है। इसके अतिरिक्त पत्रकारिता मे भी आपकी अच्छी गति है। इस समग्र दृष्टि से देखने पर इनकी विद्वत्ता किसी से न्यून नही है।

अभिप्राय यह है कि आप सिखधर्म के ज्ञाता है किंतु साथ ही धर्म मे कट्टरता के विरोधी हैं। धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन मे आपकी बचपन से ही रुचि थी। आपका विश्वास है कि सब धर्मो तथा सब भाषाओं का अपना-अपना महत्त्व है। अपने धर्म को श्रेष्ठ कहना और दूसरे धर्मो का विरोध करना, उन पर टीका-टिप्पणी अथवा आक्षेप करना उचित नही है। ईश्वर एक है, और वह सर्वत्र विद्यमान है। किसी भी धर्म की सहायता से उसे जाना जा सकता है। अत. परस्पर वैमनस्य की भावना धार्मिकता के विरुद्ध है।

सब धर्मों की एकता के साथ-साथ ज्ञानी जी सबके साथ एक जैसा बर्ताव करने, सबको बराबर समझने, छोटे-बड़े के भाव को मन से निकाल देने के पक्षपाती हैं। इनके अनुसार हमे सबके साथ नम्रता, प्यार, प्रेम और मोहब्बत से रहना चाहिए। ज्ञानी जी स्वयं परिश्रम से ऊचे उठे, अतः ये दूसरो को भी परिश्रम से आगे बढने की सदा प्रेरणा देते हैं। इनके पास जो भी निराश, हताश जाता है, ये उसे हिम्मत और साहस का पाठ देकर भेजते हैं।

वस्तुतः ज्ञानी जैलसिंह के स्वतंत्रता सेनानी जीवन का आरंभ 1938 से तब होता है जब इन्होंने फरीदकोट मे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की। उन दिनो में इस राज्य मे राजनीतिक जागृति का नामो निशान तक नही था। ऐसे

वातावरण में किसी राजनीतिक पार्टी का गठन अथवा सभाएं करना बड़ा दुष्कर कार्य था।

महाराजा फरीदकोट ने अपने राज्य में कांग्रेस की स्थापना पर पाबंदी लगा दी। ज्ञानी जी ने अपनी हठधर्मी और हिम्मत से वहां कांग्रेस की स्थापना कर दी। इनकी सभाओं मे गड़बड़ी मचायी जाती थी किंतु ज्ञानी जी निराश नही होते थे। अततः इन्हें अपराधी घोषित कर दिया गया। बाद में इन्हें पकड़कर पाच वर्ष के लिए जेल में डाल दिया गया।

कारागृह मे आपसे 14-18 घंटे सख्त काम लिया जाता। इन्हें अंधेरी तंग कोठरी मे रखा जाता। हाथ-पावों में डडा-बेड़ी और लोहे की हथकडी-बेडी डाल दी जाती थी। आपके ऊपर कई धाराएं लगाई गई थी। जब आप चक्की पीसते-पीसते पसीने से तर हो जाते, थक जाते, धरती पर गिर पड़ते तो वहां के सिपाही इन पर कोड़ों-डंडो से मार लगाते थे। इससे न आप दिन में आराम से बैठ सकते थे, न रात को चैन से सो सकते थे। चाहे जितने भी कठोर से कठोर कष्ट इन्हें दिए गए, इन्होने कभी कुव्यवहार की शिकायत नही की। आप हर तकलीफ को हंसते-हंसते सहते रहे। मिलने वाले इष्ट-मित्रों, साथियो एवं दोस्तों से भी आपने कभी अपनी परेशानी का वर्णन नही किया। वास्तव में इनका जीवन-दर्शन है—

"मुश्किलो को झेलकर
आसान कर दो,
फिर तो वे मुश्किलें
मुश्किल नही।"

किवदंती है कि इसी जेल-जीवन मे ही इन्हें जैलसिह नाम दिया गया। इन्होंने इस नाम पर कोई आपत्ति नही की अतः आपका यही नाम चल पड़ा।

जेल में समय मिलने पर आप विभिन्न धर्मग्रथों का स्वाध्याय करते थे। जो कुछ पढते थे, अपने जेल के साथियों से उसकी चर्चा होती तथा विचार-विमर्श भी होता। इसी जेल में एक मौलवी साहब भी थे। इन्होंने उनसे उर्दू भाषा की अधिक जानकारी हासिल की। आपने उनसे कुरान का भी अध्ययन किया।

महाराजा सरकार के विरुद्ध समानांतर सरकार की स्थापना करना ज्ञानी जी के जीवन की सर्वाधिक साहसी घटना है। ज्ञानी जी को विद्रोही घोषित करके पकड लिया गया। वहां तरह-तरह की यातनाएं देकर इन्हें यह धमकी दी गयी कि इनको जीप से बाधकर सडकों पर घसीटा जाएगा। किंतु दृढ़-संकल्पी ज्ञानी जी कब झुकने वाले थे। ये अपने संकल्प पर डटे रहे। इन्होंने अलबत्ता अपना आंदोलन और सक्रिय कर दिया। ज्ञानी जी के इस कठोर संकल्प के आगे महाराजा को ही अंततः झुकना पड़ा। महाराजा को सुबुद्धि प्राप्त हुई। उसने इस विचार

को त्याग दिया। ज्ञानी जी की यह बहुत बड़ी विजय थी।

1942 सत्याग्रह का युग था। गांव हो अथवा नगर गांधी जी का आंदोलन बड़े वेग से चल रहा था। "अंग्रेजो ! भारत छोड़ो" का नारा कोने-कोने में फैल चुका था। ज्ञानी जी उन दिनों जेल मे पड़े हुए थे। जब इनको ऐसी सूचनाएं मिलती तो इनका मन भी कुछ कर गुजरने को होता। जब 1943 में आप फरीदकोट जेल से मुक्त हुए तो आप भी गांधी जी के सत्याग्रह आंदोलन में कूद पड़े। आपने अपने प्रदेश में इस आंदोलन का कार्य शुरू कर दिया। बड़ी सफलता से इन्होंने इस आंदोलन को चलाया। महाराजा इस आंदोलन से भयभीत हो गए। उन्होंने ज्ञानी जी पर अनेकानेक अत्याचार किए। ज्ञानी जी ने उनकी तनिक भी परवाह नही की। इन्होंने तिरंगे को घर-घर, दुकान-दुकान और सरकारी भवनो पर लगाने का निश्चय किया। इस योजना को सफल बनाने हेतु इन्होंने पं० जवाहर लाल नेहरू को रियासत में निमंत्रित कर इस रस्म को पूरा किया। इससे ज्ञानी जी नेहरू जी के अधिक निकट आ गए।

1946 में इन्हें पैप्सू-प्रजामंडल का अध्यक्ष बनाया गया। 1947 के बाद फरीदकोट रियासत को पैप्सू मे मिला दिया गया। इस क्षेत्र को पटियाला और पूर्वी पंजाब संघ में सम्मिलित कर दिया गया। ज्ञानी जी को इस कैबिनेट का भी सदस्य नियुक्त किया गया। बाद मे 1948-49 मे राजस्व और 1951-52 मे कृषिमंत्री के रूप मे इन्होंने यहां के मजदूरों, किरायेदारों एवं छोटे जमीदारो की समस्याओं को हल करने की पूरी कोशिश की। आपने अनेक सामाजिक और आर्थिक सुधार किए। फिर 1956 में पैप्सू को पंजाब प्रांत मे मिलाने में ज्ञानी जी ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

1956 में इन्हें राज्यसभा का सदस्य निर्वाचित किया गया। ये उस समय पंजाब प्रदेश कांग्रेस कमेटी के मुख्य उपाध्यक्ष भी थे। 1962 के आम चुनावो मे आपने अपनी पार्टी के कार्यकर्ताओं में अभूतपूर्व उत्साह जाग्रत किया जिससे उसे सर्वाधिक विजय मिल सके। फलतः इन्हें पंजाब सरकार में सरदार प्रतापसिंह कैरों के मंत्रिमंडल मे सम्मिलित कर लिया गया। उन दिनों चीन ने भारत पर धोखे से आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण के विरुद्ध अपनी शक्तियों को पूर्णतः केंद्रित करने हेतु वे पहले मंत्री थे, जिन्होंने त्यागपत्र दिया था।

1962 से 1972 तक ज्ञानी जैलसिंह ने पंजाब में साम्प्रदायिक और प्रादेशिक ताकतों का डटकर मुकाबला किया। पंजाब प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष होने के नाते आपने अपने कार्यकर्ताओं मे ऐसी चेतना जगायी कि 1971 के लोकसभा चुनावों और 1972 के विधान सभा चुनावों मे कांग्रेस को भारी बहुमत प्राप्त हुआ। इन परिणामों को देखते हुए कांग्रेस की कार्यकारिणी कमेटी ने ज्ञानी जी को एक सुयोग्य और ईमानदार शासक समझकर 1972 में इन्हे पंजाब

का मुख्यमंत्री बना दिया। 1972-75 के अपने कार्यकाल मे आपने पंजाब का एक स्थिर, शक्तिशाली और सपन्न प्रदेश बना दिया। इस समय सभी धर्म और विश्वास के लोगो मे सद्भावना बनी रही। हिंदू-सिख तथा अन्य जातियो के लोग परस्पर सद्भाव से रहे। इन्होंने भी रामतीर्थ मिशन, आर्य समाज, मुस्लिम, हरिजन और सभी वर्गों के नेताओं को अपने धार्मिक कृत्यो के लिए बिना किसी भेदभाव के उदारतापूर्वक अनुदान दिया। यह काल पंजाब मे हरित-क्रांति और औद्योगिक विकास का काल माना जाता है। स्वतंत्रता सेनानी होने के कारण इन्हें शहीदो के प्रति हार्दिक सहानुभूति रहती है। अतः इन्होंने पंजाब में हुए शहीदो और देशभक्तों के *स्मृति-चिह्न बनवाए तथा पुराने स्मारकों की मरम्मत करवाई और स्वतंत्रता* सेनानी तथा शहीदों के उत्तराधिकारियो अथवा उनके सहायको की पेंशन का प्रबंध कराया। सभी स्वतन्त्रता सेनानियों को सम्मान दिए जाने की परंपरा भी डाली। इसी के साथ आपके समय मे बिना किसी रंग, जाति-भेद के समाजसेवी, देशभक्त, कवि, लेखक, गायक, वैद्य, कलाकार आदि को सम्मान दिए गए। भाव यह है कि ज्ञानी जी ने अपने कार्यकाल मे पंजाब को एक प्रगतिशील प्रशासन दिया। इन्होंने निर्धनता और भुखमरी का उन्मूलन कर अपने प्रदेश को एक खुशहाल प्रदेश बनाने मे कोई कसर नही रखी।

1977-79 मे जनता सरकार के समय विरोधी-पक्ष ने आपको अनेक कठिनाइयो एवं परेशानियो मे डाला। लेकिन ज्ञानी जी तीस महीने तक विरोधी-पक्ष के *बीच एक वीर एव निर्भीक नेता के रूप में कार्य करते रहे।* इनके विरुद्ध अनेक आयोग बैठाए गए, और इनके कार्यों की जाच-पड़ताल की गयी। लेकिन पजाब के तत्कालीन मुख्यमंत्री सरदार दरबारा सिह को अंत में विवश होकर कहना पड़ा कि इनके विरुद्ध कोई कानूनी मामला नही बनता। अतः हमने जांच आयोग की रिपोर्ट को समाप्त कर दिया है।

1980 के लोकसभा चुनाव मे ज्ञानी जी विजयी हुए। यह चुनाव इन्होने होशियारपुर से लड़ा था। इनकी विजय का कारण अपने लोक-कल्याणकारी कार्यों के कारण इनकी लोकप्रियता है। इनकी योग्यताओं को देखते हुए इन्हे केन्द्रीय सरकार मे गृहमंत्री बनाया गया। इन्होंने जनवरी 1980 से जुलाई 1982 तक बड़ी कुशलता से इस पद की गरिमा का निर्वाह किया। इस समय देश मे कानून और अनुशासन की व्यवस्था अत्यंत बिगड़ी हुई थी। असम मे बाहर से आए लोगों को लेकर बड़ा संघर्ष चल रहा था। वे लोग नही चाहते थे कि बाह्य व्यक्ति उनकी आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्थितियों को निर्बल बना दें। इस संघर्ष को दूर करने के लिए असम सरकार ने स्वयं काफी प्रयत्न किए किंतु सब व्यर्थ। मई-जून 1980 मे ज्ञानी जी को निष्पक्ष समझकर इस समस्या को सुलझाने का भार सौंपा गया। ज्ञानी जी ने इस समस्या का सूक्ष्म अध्ययन

तरह योग देकर देश से बेरोजगारी, गरीबी और आर्थिक अभाव को दूर करें।"

और राष्ट्रपति पद पर आसीन होकर आपने धर्मनिरपेक्षता का पूरा ध्यान रखा। आप मंदिर, गुरुद्वारे, मस्जिद, गिरिजाघर आदि सब में श्रद्धापूर्वक जाते रहते है। अपने कार्यालय में भी आपने सभी धार्मिक महात्माओं एवं ऋषियों के चित्र लगवा रखे हैं।

राष्ट्रपति भवन मे राष्ट्रभाषा हिंदी का कोई भी समाचार पत्र न देखकर आपको बड़ा आश्चर्य हुआ। आपने तत्काल हिंदी का समाचार पत्र मंगवाने का आदेश दिया। इसके अतिरिक्त आपने अपने भाषण भी हिंदी मे देने शुरू कर दिए। आपके राष्ट्रपति काल के अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यों में इन दो कार्यों का भी विशेष उल्लेख होगा।

राष्ट्रपति के रूप मे ज्ञानी जैलसिंह के अनेक विशिष्ट कार्यों मे से एक है— उग्रवादी आदोलन से निबटना। सिखों ने खालिस्तान की मांग जब शुरू मे की तो आपने स्पष्टतया कहा था—

"मैं इस प्रकार के राजनैतिक पचड़े मे पड़ने के लिए तैयार नहीं। क्योंकि इस नारे मे देशभक्ति नही है। यह केवल स्वार्थ से ओतप्रोत है। मैं इस एस० जी० पी० सी० को बड़ी इज्जत की दृष्टि से देखता हूं—मैं इस संस्था के साथ था। हमे अपने देश के पिछले इतिहास को देखकर यह सोचना चाहिए कि भारत मे अब विदेशी शासक नहीं। अपने भाई ही भारत की देखभाल करने वाले हैं।"

लेकिन कुछ उग्रवादियों ने खालिस्तान आंदोलन को गलत दिशा दी। परिणामतः सरकार को इसके विरुद्ध हस्तक्षेप करना पड़ा। इस नाजुक घड़ी मे ज्ञानी जैलसिंह ने बड़ी संयमित दृष्टि से राष्ट्र के नाम जो प्रसारण किया उसके कुछ अंश अवलोकनीय हैं—

"मै आज ऐसे दुखदायी वक्त पर बोल रहा हूं जबकि बीते हुए समय में घटी घटनाओं के गहरे जख्मो के दुख मेरे दिल मे है और ठीक सोचने वाले सारे लोगों के दिलों में भी हैं। इन घटनाओं के घटने के बाद किसी भी विचारवान व्यक्ति का दिल न दुखे ऐसा हो नही सकता। पर हमारा एक फर्ज बनता है कि हम जज-बात की रौ मे बहने से पहले इन वाकयात के पीछे की घटनाओ को देखे। वर्तमान को देखे और भविष्य के बारे मे विचार करे।

"जहा तक मेरा व्यक्तिगत सवाल है मैं अपने राष्ट्रपति पद की जिम्मेदारियो को निभाते हुए इस बात की कोशिश करता रहा हू, कई बार 'आउट आफ दी वे' जाकर भी कोशिश की कि इन चीजों को रोका जाय, पर वह नही रुक सकी।

"दो धार्मिक तथा राजनैतिक नेताओं ने मजबूर होकर अपनी गिरफ्तारियां दे दी। इस तरह अतिवादियों को भी, जब सेना पहुंच गई तो सेना की अपील पर गुरुद्वारे की पवित्रता बनाने के लिए, बाहर आ जाना चाहिए। मैं समझता

हूं कि बेहतर होता कि वह गिरफ्तारियां दे देते और कहते कि हमारे ऊपर मुकदमे चलाओ। पर गुरुद्वारे और पवित्र अकाल तख्त साहब की ओट लेकर लड़ाइयां करना, यह कोई अच्छी बात नही है। इसलिए हर गुणवान तथा खास तौर से वह जिनको गुरु महाराज पर भरोसा है और जो सिख मर्यादा को अच्छी तरह मानते हैं उनको भी दुख हुआ।

"हमारे सामने है जब हिंदुस्तान गुलाम था उस वक्त गुरुद्वारों पर कब्जा करने वाले महंतों ने वो ज्यादतियां की जिनके बदले कइयों को अपनी जान की बलि देनी पडी। उस वक्त की सरकार उनकी हिमायत मे थी। इसलिए सिखो को बहुत कुर्बानिया देनी पडी। शिरोमणी गुरुद्वारा प्रबधक कमेटी बनी, इसलिए कि गुरुद्वारों के अदर उनकी पविभ्रता कायम रहे। गुरुबाणी का प्रचार हो, गुरु महाराज की पवित्र वाणी मे लिखा है कि—

"गुरुद्वारे हरि कीर्तन सुनिए,
सदगुरु भेंट हरि जसमुख भणिए,
दूजी अवर न जापस काई
सगल तुआरी धारणा।"

"मैं इसका अर्थ करने की जरूरत नही समझता। सभी समझते हैं। सतगुरु जी ने यह भी फरमाया है :—

"गुरुद्वारै होई के साहब संभालिहु, साहब नू याद करो, गुरु दे द्वारे पहुंचो।"

और गुरुद्वारा वह स्थान है :—

"जेहि दर आवत जातिमहु हटके नाही कोय,
सो दर कैसे छोड़िये, जो दर ऐसा होय।"

"हरमंदिर साहब गुरु पंचम पातशाह महाराज की मशा के मुताबिक रखा गया। उसके बाद उसकी इमारत शानदार बनती गई। स्वर्ण मदिर भी हो गया और श्री अकाल तख्त साहब की उच्च मर्यादा को बनाए रखने के लिए अपना निवास स्थान 6-7 मील की दूरी पर छेरहटा साहब मे रखा। मगर वे मर्यादाएं सब तोड़ दी गई और ये हालात हो गए कि:—

"ऐती मार पई कुरलाणे, तैंकी दर्द न आइया
जे सकता सकते को मारे, ता मन रोस न होई।"

"गुरु नानक देव जी ने अपनी पवित्र वाणी मे कहा है—परमात्मा क्या तुझे तरस नही आता निहत्थों को लोग मारे जा रहे हैं। निहत्थों को मारने वाली ताकतें जो चाहती हैं वही कह रही हैं। बेइज्जती करती हैं, तुझे दर्द नही आता ?

"गुरु जी कहते हैं मुझे कोई अफसोस नही होता अगर ताकतवर ताकतवर

को मारता। "जे सकता सकले को मारे, ता मन रोस न होई" पर "सकता सौह मारे पै वगै खस्मै सा पुरसाई।"

"अब सवाल यह है कि हम आज इन जख्मों को किस तरह भरें और किस तरह हम इन सारे वाकेआत से गुजरें। यह सरकार का, समाज का सबका फर्ज बनता है। हमें याद करना चाहिए श्री गुरु तेगबहादुर 'हिंद दी चादर' की शहादत को, जिन्होंने प्रण किया था कि मैंने बाजू पकड़ लिए, और मेरे पास जो आए है, धर्म की रक्षा करने के लिए—

"तिलक जंजू राखा प्रभ ताका। कीनो बड़ो कलू महि साका।"

"जिस समय वह चले तो उनके सब श्रद्धालुओं ने, यहा तक कि सफुद्दीन जो गुरु साहब के श्रद्धालु थे, ने एक महीने से ज्यादा गुरु जी को रोके रखा। उन्होंने कहा आप दिल्ली जा रहे हैं, दिल्ली जाओगे तो कत्ल हो जाओगे। गुरु तेग बहादुर ने कहा, नहीं मैं कत्ल होना पसंद करूंगा, मैं कातिलों के पास जाऊंगा, लेकिन मैं शरण लेकर पवित्र गुरु स्थान में छिपूंगा नही। मैं किसी दोस्त के घर भी नही छिपूंगा। मैं किसी के साथ दगा नही करूंगा। मैं फरेब नही करूंगा, क्योंकि—

बांहि जिनां दी पकड़िए,
सिर दइये बाह न छोड़िए"

"आज मैंने बहुत अफसोस के साथ ये देखा कि कुछ लोगों ने अपील की है कि जितने भी सिख हैं जिन-जिन ओहदों हर है, खास तौर पर फौजियों को भी कह दिया गया है कि आप वहा से छोड़कर आ जाओ। क्या ये किसी का धर्म है? धर्म का अर्थ कर्तव्य भी है और जो सौगंध वाहेगुरु का नाम लेकर खाई हुई है उनका पालन न करना कायरों, बुजदिलों और भटके हुए, भ्रम मे फंसे हुए लोगों का कार्य हो सकता है। इसीलिए मैं उनका मशकूर हूं जिन लोगो ने अपनी सेवाओं को निभाया और सेवाओ को निभाने में कोई बेईमानी और दुश्मनी नही की। मैं अच्छी तरह जानता हूं कि मेरी सरकार ने किसी को शिकस्त देने की, किसी की जीत कराने की आशा को लेकर कोई उपाय नही किया। आज भी सरकार के मन में जीत-हार का सवाल नही। सवाल है कि हम जख्मों को कैसे भरें। जब से ये जख्म शुरू हुए है, तब से काफी समय बीत चुका है। उस बीते हुए समय में कौन जिम्मेदार था, यह इतिहास बताएगा, जानकारियां बताएंगी। मैं इनका जिक्र नही करता। पर मैं बहुत दुख के साथ कहता हूं कि मैं उस पंजाब में गया जो पंजाब हसता था, खेलता था, दौड़ता था, भागता था, गाता था, बजाता था और अपनी कमाई से खुशहाल हो रहा था। वह पंजाब घरों में डरा हुआ था। ऐसा क्यों हुआ! इसकी तह में जाना बहुत जरूरी है।

"हम अपनी मातृभूमि की सेवा कर सकें, हम इस देश के वासी—मातृभूमि के बेटे-बेटिया है। हमारा फर्ज बनता है कि हमारी माता को कष्ट न हो। इस

भारत-माता की गोद मे हमारे सारे मजहब पले है, पवित्र स्थान हैं, हमारे देश के ऋषि और मुनि है, हमारे शूरमा बहादुर है, सारे वैज्ञानिक और डाक्टर हैं, सारे बहुत बडे-बडे प्रबंधक है और सेवक है, मजदूर है, किसान है। इन सब तबको का दुख अपने दिल मे लेना हमारा सबका फर्ज बनता है। मैं महसूस करता हूं और सबकी सेवा में विनती करना चाहता हू कि आज हम एकता की तरफ चलें। सुलह् की बातें करें, सुलह् की बातें ही नही बल्कि सद्भावना समितियां बना-बना कर हम वातावरण को ठीक करें और हमारे मे फिर से एकता आए और जो भी किसी से गलतियां हुई है उन गलतियों की माफी मागना कोई पाप नही है।

"मैं उम्मीद रखता हू खासतौर से सिखो के धार्मिक अगुआओं से कि वे गुरु जी की वाणी से प्रेरणा लें क्योंकि हमारे दशम गुरु जी ने कहा कि मेरे बाद सिखो का गुरु 'गुरुग्रंथ साहब' है। गुरुग्रथ जी मे सभी भक्तो की वाणिया है, शेख फरीद भी है, कबीर भी है, रविदास भी है, रामानंद भी है, मैं सबके नाम नही गिन सकता, जो उनके उपदेशों के मुताबिक चलेगा वही गुरु का सिख होगा। दूसरा मनमतिया होगा। 'मन दियां मतां खिड्डिया' (विचार भिन्न-भिन्न होते हैं), उनके साथ हम गलत रास्ते पर पड़ सकते है। हमें उन रास्तो पर पड़ने से बचने की जरूरत है और श्री गुरु गोविंदसिंह जी महाराज के उस पवित्र वाक्य को याद करें जो उन्होंने हमे कहे थे, मेरी देशवासियो से अपील है—

> "साच कहौं सुन लेहु सभै
> जिन प्रेम कियो तिनहि प्रभ पायो।"

राष्ट्र के नाम इनके इस सदेश का बड़ा अनुकूल प्रभाव पडा। शीघ्र ही पंजाव मे स्थिति सामान्य हो गयी। अब वहा फिर से शांति, सौमनस्य एव सद्भावना का वातावरण बनता जा रहा है।

निःसंदेह राष्ट्रपति जैलसिंह धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के धर्मनिरपेक्षवादी राष्ट्रपति हैं। उन्होंने इस पद की परंपरागत मान्यताओं को कायम रखते हुए अनेक नई मान्यताएं भी स्थापित की। आपने सामान्य परिवार मे जन्म लेकर अपने देश के सर्वोच्च पद को प्राप्त किया। अतः भारत के दीनहीन किसानों, निर्धनो, असहायों का आप सही प्रतिनिधित्व करते हैं। स्वतंत्रता सेनानियों के भी आप प्रतिनिधि हैं। राष्ट्रपति के रूप मे आपने राष्ट्रीय एकता और धार्मिक सद्भावना के जो प्रयास किए वे स्तुत्य हैं। आप जैसे मानवतावादी व्यक्ति, देशभक्त एवं बलिदानी स्वतन्त्रता-सेनानी पर किसी भी देश को गर्व हो सकता है।

कमला देवी चट्टोपाध्याय

महात्मा गांधी ने जब ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की थी तब विदेशों में रहते हुए भी जिस एक भारतीय महिला का हृदय सत्याग्रह संग्राम में सहयोग देने के लिए आकुल-व्याकुल हो उठा था और वे अपनी मातृभूमि की सेवा के लिए दौड़ आयी थी, वे थी—श्रीमती कमला देवी चट्टोपाध्याय। नमक कानून तोड़ने में जिस साहस और निडरता का परिचय इन्होंने दिया था वैसा संभवतः ही कोई पुरुष स्वतंत्रता-सेनानी भी दिखा सका हो।

ऐसी साहसी महिला स्वतंत्रता-संग्राम की सुपरिचित कमला अर्थात् कमला देवी चट्टोपाध्याय का जन्म मंगलूर राज्य में एक संपन्न सारस्वत परिवार में 3 अप्रैल, 1903 को हुआ था।

मंगलूर राज्य विंध्याचल के दक्षिण में प्रसिद्ध महाराष्ट्र, आंध्र, मैसूर, तमिल, केरल आदि प्रदेशों के अतिरिक्त एक छोटा-सा प्रदेश है। यह 'तुलुव-प्रदेश' का केंद्र है जहां कन्नड-परिवार की भाषा 'तुलु' बोली जाती है। बंबई से कोई चार सौ मील दक्षिण केरल के उत्तर में और मैसूर (आधुनिक कर्नाटक) राज्य के पश्चिम में पश्चिमी घाट के पहाड़ों की उपत्यकाओं में सुंदर नदियों से सिंचित तथा विस्तृत समुद्र से सेवित यह प्रदेश अपने आप में एक स्वर्ग-सा प्रतीत होता है।

कमला देवी के पिता एक उच्च सरकारी अधिकारी थे। माता कर्नाटक के एक धनाढ्य कृषक परिवार से संबंध रखती थीं। इतना होते हुए भी इनके घर का रहन-सहन बड़ा सरल था। कमला देवी का लालन-पालन अत्यधिक स्नेह के बीच हुआ। आपकी प्रारंभिक शिक्षा मां द्वारा ही हुई। सबसे पहले मां ने इन्हें नागरी लिपि सिखायी, तत्पश्चात् मराठी, फिर कन्नड़ लिपि भी सिखायी।

आपकी मां साहित्य एवं कला की मर्मज्ञ एक सुशिक्षित महिला थीं। उनके तथा अपनी नानी के बारे में स्वयं कमला देवी ने कहा है—

"मां के पास बहुत पुस्तकें थीं। कागज, अखबार उनके पास आते रहते थे। जब भी वे मुझसे पढ़ने को कहतीं तो अप्पा (पिता) कहते 'तुम बीच में मत पड़ो,

इसे कमला को खेलने दो। मैं अपनी 'अज्जी' (नानी) के बारे मे भी बताऊंगी। अज्जी काकी पढ़ी-लिखी थी। वह संस्कृत जानती थी। उनका पुस्तकों का अपना संग्रह था। तीसरे पहर उनके पास संस्कृत जानने वाले विद्वान आते थे। उनके सामने अज्जी अपने निबंध पढ़ती और वे लोग गोष्ठी मे विवेचना करते थे। वे लोग धर्म और दर्शन की पुस्तकें पढ़ते थे। अपढ़ होने के कारण स्त्रियां इन गोष्ठियों में नही आती थी। गोष्ठी में पुरुषो के बीच अकेली अज्जी स्त्री होती थी। उनकी जैसी बौद्धिकता बहुत नही दिखाई देती थी। उस समय अज्जी जो कुछ पढ़ती थी, या कहती थी, मैं समझ नही पाती थी। मेरी अज्जी विधवा हो गयी थी और अम्मां के पास रहती थीं क्योकि उनकी सब संतानो में अकेली अम्मां को ही पढ़ने-लिखने और पुस्तकों से प्रेम था। अम्मां बहुत-सी भाषाएं जानती थी। अंग्रेजी भी उन्होने स्वयं सीखी थी। वह हिंदी जानती थी, मराठी, कन्नड़ और तेलुगु भी। इन सब भाषाओं को वह लिखती, पढ़ती और बोलती थी। अम्मा का नाम गिरिजा था। उन्हें संगीत बहुत प्रिय था। वह गाती थी। वीणा, वायलिन और पियानो बजाना भी उन्होंने सीखा था। हमारे घर में पियानो था। अम्मां औरतों के अधिकारों के प्रति खूब सजग थी। उन्होने मंगलूर मे एक महिला सभा शुरू की। यह सभा हमारे घर में ही होती थी। बाद मे उसके लिए भवन भी उन्होने बनवाया। बहुत समय तक वे उसकी अध्यक्षा रही। स्त्रीशिक्षा मे उनकी गहरी रुचि थी। दूसरी महिलाओं के घरों में जाकर वे उन्हें अखबार, नयी किताबें पढकर सुनाया करती, जिससे कि उन्हें नए विचार मिलें।

स्पष्ट है कि कमला देवी को समाज-सेवा की लगन अपनी माता जी से मिली जो अपनी जाति की स्त्रियों की समस्याओं के समाधान के लिए आयोजित सभाओं में प्रायः जाती रहती थी।

तत्कालीन प्रचलित प्रथा के अनुसार कमला जी का विवाह अल्पायु में ही हो गया था किंतु कुछ समय बाद ही वह विधवा हो गईं। उस समय नारी की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार नही की जाती थी। अतः कमला पर भी दबाव डाला गया कि वैधव्य के इस दुःख को वह दैवी अभिशाप मानकर आजीवन सहें, किंतु कमला जी के मन में तो समाज के इन अंधविश्वासों के प्रति विद्रोह भरा हुआ था। प्रगतिशील मस्तिष्क इन पुरातनपंथी विचारो को अपने मे प्रविष्ट नही कर सका।

कमला की मा मे राष्ट्रीयता और देशभक्ति की भावना थी। तिलक संस्थान की 'केसरी' और 'काल' पत्रिकाएं उनके पास नियमित रूप से आती थी। एक दिन अम्मा उन्हें श्रीमती एनी बेसेंट से मिलाने ले गईं। उनके बारे में उन्होंने कमला को बहुत कुछ बताया हुआ था। श्रीमती बेसेंट का विवाह ईसाई पादरी

से हुआ था। वह आत्मचिंतन की स्वतंत्रता चाहती थी और ऊपर से आरोपित विचारों को स्वीकार नहीं कर सकती थी। उन्होंने उसी समय स्वतंत्रता का कार्य 'होम रूल' आदि शुरू किया था। उस भेंट के दौरान अम्मां ने श्रीमती बेसेंट से कमला के लिए आशीर्वाद मांगा था कि वह उन्हीं के समान स्वतंत्रता की योद्धा बने।

कमला देवी ने निश्चय किया कि वह आगे अध्ययन कर जीवन में कुछ बनेगी। स्कूल अध्ययन काल में बालिका कमला को अभिनय का बड़ा शौक था। इसके कारण उन्हें कई बार विपत्तियों का सामना करना पड़ा था। मारग्रेट कजंस जब भारत आईं तो उनके पति जेम्स कजंस ने 'मीराबाई' नाटक लिखा। नाटक अंग्रेजी में था। उस समय तक मंगलूर में नेशनल गर्ल्स हाई-स्कूल खुल गया था। यह एक राष्ट्रीय विचारधारा का स्कूल था। राष्ट्रीयता के प्रचार के लिए इस स्कूल में 'मीराबाई' नाटक खेलने का निश्चय किया गया। नाटक में कमला की मुख्य भूमिका थी क्योंकि उसे मीराबाई बनना था। परंतु कतिपय लोगों ने समाज में लड़कियों के सबके सामने नाटक करने की बात को लेकर इतना हंगामा मचाया कि स्कूल वाले कठिनाई में पड़ गए। परंतु उन्होंने नाटक करने का निश्चय नहीं छोड़ा। अंत समय में नाटक को विफल करने के लिए नायक को उड़ा लिया गया। फलतः नाटक नहीं हो पाया। कमला देवी को जान से मार डालने की धमकी दी गई। इस सबसे डरकर मां ने कमला को कुछ समय के लिए एक कोठरी में बंद कर दिया।

पिताजी की मृत्यु के बाद कमला की आंखें खुल गईं। उसके सामने बिल्कुल साफ हो गया कि उसे स्कूल क्यों जाना चाहिए और आगे पढ़ना क्यों चाहिए। इसी बीच मद्रास में उनकी बहन सख्त बीमार पड़ गयी। उसे देखने-भालने के लिए मां उसे साथ लेकर वहां चली गयीं। फिर वे वहां ही मकान लेकर रहने लगीं। वहां कमला सीनियर केम्ब्रिज परीक्षा के लिए तैयारी करने में जुट गयी।

मद्रास में रहते हुए वहां श्रीमती सरोजिनी नायडू के भाई श्री हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय के साथ भेंट हुई। उसके आकर्षक व्यक्तित्व का प्रभाव कमला पर ऐसा पड़ा कि उसके साथ विवाह-सूत्र में बंध गईं। उनके व्यक्तित्व के बारे में कमला जी का कहना है कि—

"पहली ही दृष्टि में उनकी प्रतिभा ने मुझे आकर्षित किया—कविता, संगीत, अभिनय, सभी कुछ तो भगवान ने उन्हें दिया था। वास्तव में मैं उनसे आकर्षित नहीं हुई थी। न ही मैं उनके प्रेम में पड़ गयी थी। हां, उनकी प्रतिभा ने जरूर मुझे अभिभूत कर लिया था। कहा जा सकता है कि उस समय उनकी जीवंतता और प्रतिभा दोनों मुझ पर हावी हो गयी थी। मैं उनसे चमत्कृत थी।"

किंतु एक बाल-विधवा का पुनर्विवाह और वह भी गैर-जातीय व्यक्ति के साथ ! यह एक ऐसा कदम था जिससे इस खोखले समाज की नींव हिल उठी ।

इस विवाह के बाद कमला देवी के क्रांतिकारी जीवन का श्रीगणेश होता है। वे दोनों विदेश चले गए । वहां लंदन स्कूल आफ इकानामिक्स और बेडफोर्ड कालिज में कमला जी ने डिप्लोमा लिया । कमला जी वहां पर अनाथालयों तथा अन्य सामाजिक कार्यों से भी संबद्ध रहीं ।

कमला देवी को पाकर हरीन्द्रनाथ प्रसन्न थे और हरीन्द्र को पाकर कमला देवी। दोनों ने अपने को धन्य समझा । हरीन्द्रनाथ प्राय. लोगों से कहा करते थे - "जब मैं कमला को साथ लेकर बाहर निकलता हूं तब देवता भी मुझसे ईर्ष्या करते हैं ।"

यूरोप और अमेरिका में भ्रमण के लिए दोनों साथ-साथ गए और वहां उन्होंने भारतीय संस्कृति की पताका फहराई । हरीन्द्रनाथ नाटक लिखते थे और बाद में पति-पत्नी दोनों मिलकर अभिनय करते थे ।

1917 में गांधी जी मंगलूर में जब आए थे तब कमला की आयु 15-16 वर्ष की थी । तभी से वह गांधी जी से प्रभावित हो गई थीं । वह गांधी जी की बातों के बारे में सोचती रहती थीं । उनके मन में गांधी जी के साथ काम करने की हार्दिक इच्छा बनी रहती थी । बापू से प्रथम भेंट के उपरांत यह प्रभाव और भी गहरा हो गया । इसका वर्णन उन्हीं के शब्दों में—"भारतीय राजनीति के आकाश में जब बापू का उदय हुआ तब मैं स्कूल की किशोर-वय छात्रा थी। उस समय हम बालक समय से पहले ही राजनीति की बातों को समझने लगे थे क्योंकि प्रथम विश्व-महायुद्ध चल रहा था और उसकी चपेट में हम सभी थे। मेरी मां राजनीतिक मसलों को अच्छी तरह समझती थीं और पूना से निकलने वाले 'केसरी' और 'काल' अपने ओजस्वी लेखों से हमारी राष्ट्रीय भावना को निरंतर प्रज्वलित रखते थे। लोकमान्य तिलक को जब मांडले की जेल में ले जाकर रखा गया तो हमारे मन लज्जा और पीड़ा से भर गए। 43 वर्ष बाद जब मुझे मांडले जाने का अवसर मिला तो मैं वह जेल की कोठरी देखने गयी, जहां बैठ-कर उन्होंने दो बार अपना गीता का भाष्य लिखा था। मेरी आंखों के सामने बचपन के वे दृश्य घूम गए जब हम प्रयत्न करके कल्पना में उनकी जेल की कोठरी को देखने की कोशिश किया करते थे। और जेल कैसी होती है इसका हमें कोई ज्ञान न था। तिलक जब जेल से छूटे तो हम बहुत प्रसन्न हुए थे। हमारे जीवन का वह कुछ बड़े परिवर्तन लिये। [illegible] दुर्भाग्य था कि [illegible] समय बाद। अगस्त 1920 को उनकी मृत्यु हो गई। और उसी समय से गांधी जी ने अपने प्रथम सत्याग्रह की घोषणा की थी।"

इसी भांति गांधी जी के प्रभाव के संबंध में वे आगे भी बताती हैं—

"आजादी के स्वप्न के साथ मेरी कुछ निजी समस्याएं भी जुड़ी हुई थी। लोक में फैली सामाजिक और आर्थिक असमानता मुझे काफी परेशान करती थी। प्राय: इन बातों को लेकर मेरी परिवार के सदस्यों से कहा-सुनी हो जाती थी। गांधी जी के व्यक्तित्व में मेरे सामने एक नया नेता उदित हुआ था जो अन्याय के खिलाफ था, और जो स्वयं को समाज के सबसे दलित व्यक्ति के समकक्ष बनने को तैयार था। उनकी बातें कोरी बातें नहीं थी। उनके पास एक ठोस कार्यक्रम था जिसने तत्कालीन राजनीति को हमारे लिए यथार्थ और सत्य बना दिया था। युवा वर्ग उतावला और अशांत होता है। वह द्रुत परिवर्तन और अविलंब परिणाम चाहता है। गांधी जी की व्यावहारिकता और कर्मशीलता उनकी इन आकांक्षाओं को पूरा करती थी। गांधी जी की चम्पारण-यात्रा के समय तक मैं उनसे मिल नहीं सकी थी, यद्यपि गरीबों और शोषितों के लिए उनके संग्राम ने मुझे बहुत प्रभावित किया था। ऐसा लगता था मानो उन्होंने जादुई छड़ी से देश की समस्त समस्याओं को राजनीतिक आजादी से जोड़ दिया था। वे जो कुछ भी कहते या करते उस सबका केंद्र आजादी थी जो कभी उनकी आंखों से ओझल नहीं होती थी। और फिर वे सार्वजनिक जीवन में स्त्रियों के अधिकारों के लिए भी लड़ रहे थे।"

एक अन्य स्थान पर उन्होंने कहा है—"इस प्रकार धीरे-धीरे मेरे अंदर यह भावना जागी कि समाज को ही बदल डालना चाहिए। आगे चलकर मेरे लिए गांधी जी के मानवतावाद और आदर्शवाद का रास्ता खुल गया। परंतु मुझे अभी मालूम नहीं था कि इस रास्ते का अंत राजनीति के कंटीले जंगल में होगा। गांधी जी के असीम मानवता-प्रेम ने मुझे राजनीति के कांटों में घसीटा।"

सन् 1922 के आसपास भारत में स्वाधीनता संग्राम तीव्र हो रहा था। मातृभूमि की पुकार पर पति-पत्नी दोनों स्वदेश लौट आए। दोनों राष्ट्रीयता की लहर में बह रहे थे। उन्होंने मंगलूर जाकर रहने का निश्चय किया। यहां 1923 में उन्हें एक पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई जिसका नाम उन्होंने रामकृष्ण रखा।

कमला देवी का राजनीति से प्रत्यक्ष संबंध 1924 में हुआ जब उन्होंने बेलगांव कांग्रेस में स्वयंसेविकाओं का प्रशिक्षण ग्रहण किया। अधिवेशन में कमला देवी को एक साधारण स्वयंसेविका के रूप में भर्ती किया गया था। उसके बारे में कमला जी ने बताया है—

"यहां मेरा परिचय उमाबाई कुडापुर से हुआ। यह स्वयंसेविका दल की प्रशिक्षिका थी। भरती होने पर मैंने स्वयंसेविका की पवित्र प्रतिज्ञा की—"मैं तब तक काम करूंगी, जब तक देश स्वतंत्र नहीं होगा।"

और इस प्रतिज्ञा का पालन उन्होंने किया। उनकी आंखों के सामने हमेशा अपने देश की ऐसी तस्वीर रहती थी जो स्वतंत्र था, जिसमें जाति-भेद नहीं था,

के खिलाफ हो गयी और उन्हें हराने में कोई कसर नहीं छोड़ी। इस प्रकार समाज ने कमला देवी से उनके विद्रोह का बदला ले लिया।"

यद्यपि उस चुनाव में कमला देवी जीती नही, तथापि उनके चुनाव लड़ने से महिलाओं के लिए भविष्य के द्वार खुल गए। उनका यह योगदान महिलाओं के अधिकारों के इतिहास मे सदा स्वर्णाक्षरों मे लिखा रहेगा।

श्रीमती कमला कभी अनुगामिनी बनकर नही चली। जीवन में अपने लिए नए मार्गों का निर्माण उन्होंने स्वयं किया। इसमे उन्हें भांति-भांति की बाधाएं आयी। पर साहस और धैर्य के साथ उनको दूर करके वह अग्रसर होती रही। संभवत. ही कोई ऐसा सार्वजनिक क्षेत्र हो जिसे उन्होंने अपनी प्रतिभा के संस्पर्श से संवारा न हो। इस संबध में सन् 1929 में बर्लिन में आयोजित अंतर्राष्ट्रीय महिला-सम्मेलन मे उनके साहस की एक अनूठी कहानी द्रष्टव्य है। कमला जी उस सम्मेलन मे भारतीय प्रतिनिधि दल का नेतृत्व कर रही थी। उस सम्मेलन में प्रत्येक देश का अपना राष्ट्रीय ध्वज फहरा रहा था। भारत क्योंकि पराधीन था, अतः उसके लिए यूनियन जैक चुना गया। कमला जी ने विरोधस्वरूप गर्जना की—

"जब तक भारत को अपना तिरंगा राष्ट्रीय ध्वज फहराने की अनुमति नही मिलेगी, भारतीय प्रतिनिधि मडल इस सम्मेलन का बहिष्कार करेगा।"

विवश होकर सम्मेलन की अध्यक्षा को कहना पड़ा, "यदि भारत का अपना कोई राष्ट्रीय ध्वज है तो भारतीय प्रतिनिधि मंडल उसे ले आए, हमे उसे लगाने में कोई आपत्ति नही होगी।"

अब समस्या यह थी कि तिरंगा कहां से लाया जाए? कमला जी की तीक्ष्ण बुद्धि ने एक उपाय तुरंत खोज लिया। उन्होने अपनी साडी फाडकर रातो-रात उससे तिरंगा बनाकर अगले दिन नियत समय पर उसे फहराते हुए सभा-मंडप मे प्रवेश किया। इसे देखकर सभी उपस्थित विदेशी महिलाएं आश्चर्यचकित रह गयी। ऐसी अनेक अन्य साहसिक घटनाओं को कमला जी के जीवन मे खोजा जा सकता है।

स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास मे 1930 के आसपास असहयोग आदोलन के दिन सदैव स्मरणीय रहेगे जब महात्मा गांधी के आह्वान पर स्थान-स्थान पर सत्याग्रहियों ने नमक कानून भंग किया था। कमला देवी भी नमक बनाने और बेचने पर प्रतिबध होते हुए, बम्बई मे नमक की पुड़िया सरेआम बेचकर कई बार जेल गई। एक बार तो उन्होंने एक घटे मे नमक बेचकर 40000 रु० एकत्र करके समस्त कार्यकर्ताओ को स्तभित कर दिया था। उस अवसर पर उनकी सिंह-गर्जना थी—

"नमक कानून तोड़ना हमारा उद्देश्य नही। हमारा उद्देश्य तो इस अंग्रेजी

प्रभुत्व का अंत करना है।' नमक की यह चुटकी हमारे विरोध की शुरुआत है।" इस संदर्भ में जब इन्हे मजिस्ट्रेट के समक्ष उपस्थित किया गया तब भी इनके अदम्य साहस में तनिक शिथिलता नही दिखाई पड़ी। अपितु इन्होंने मजिस्ट्रेट को ही नौकरशाही के जंजाल से मुक्त होने का परामर्श दिया और अदालत में नमक बेचना आरंभ कर दिया। बम्बई के निकटवर्ती नमक-निर्माण क्षेत्र पर धावा बोलने की योजना भी कमला देवी ने ही शुरू की थी।

सन् 1930 के मई महीने मे विदेशी बहिष्कार आंदोलन चल रहा था। 17 मई को कमला जी स्वयं-सेविकाओ की सभा मे उन्हें विदेशी कपड़ों की दुकानो पर धरना देने के आदेश देकर घर लौट रही थी। घर मे प्रवेश करते ही कमला जी को गिरफ्तार कर लिया गया। तीन दिन तक जेल में अंधेरी कोठरी में वेश्याओं, हत्या के अपराधियों और इधर-उधर चक्कर काट रहे चमगादड़ों के बीच बंद रहने के बाद उन्हें अदालत मे पेश किया गया। उन्होंने कोई बचाव प्रस्तुत नही किया फलतः उन्हें साढ़े नौ महीने की साधारण कैद की सजा सुनायी गयी। कारावास अवधि में उन्होंने जेल के कई अनुचित नियमों को तोड़ने का अदम्य साहस प्रदर्शित किया।

सन् 1934 से 38 तक कमला देवी का अधिक समय अपने परिवार के साथ मगलूर में बीता। इस काल मे उन्होने सेवा-दल, किसान-मजदूर यूनियन, युवा छात्र संगठन के कार्यों में अपना समय लगाया। इस संबंध में उन्हे बहुत भ्रमण करना पड़ा और देश के बहुत बडे भाग मे प्रचार का कार्य करना पडा।

1939 से 1941 तक कमला देवी देश से बाहर थी। उनके सामने कई समस्याएं थी, जिनमें प्रमुख अपने पुत्र की शिक्षा थी। अमेरिका मे रहते हुए भी वह समय-समय पर ब्रिटिश साम्राज्य की पोल खोलती रही और उनके रक्त-रंजित हथकंडों से अमेरिका-निवासियों को अवगत कराती रही। 1941 मे वहां भयकर युद्ध छिड़ा हुआ था। फारेन डिपार्टमेंट शिमला से ब्रिटिश गवर्नर, हांगकांग को 15 अगस्त, 1941 को भेजे गए तार की प्रति में कहा था कि— "भारत सरकार की मुख्य चिंता यह है कि कमला देवी चट्टोपाध्याय को यथा-संभव शीघ्र भारत लौट आना चाहिए।"

1941 के अंत में जब कमला देवी भारत लौटी तो पुनः स्वतंत्रता आंदोलन में कूद पड़ी। 9 अगस्त 1942 को गांधी जी ने "अंग्रेजो! भारत छोड़ो" का नारा दिया और स्वतंत्रता सेनानियों से कहा, "करो या मरो"।

कमला देवी को राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने के कारण पकड़कर जेल भेज दिया गया। बिना कोई अभियोग लगाए लगभग 21 महीने उन्हें जेल मे नजरबंद रखा गया। इस बार जेल मे वह गंभीर रूप से बीमार पड़ गयी।

अंत में इन्हें डाक्टरी-सलाह के आधार पर छोड़ दिया गया तब तक 1944 हो चुका था। जेल से छूटने पर उन्हें तुरंत महिला परिषद के बम्बई अधिवेशन की अध्यक्षता करने जाना था। बम्बई सरकार ने उनके बम्बई-प्रवेश पर प्रतिबंध लगा दिया। इसका समाचार-पत्रों में खूब प्रचार हुआ।

सन् 1944 के आसपास कमला देवी देश के राजनीतिक क्षितिज पर एक प्रकाशमान युवाशक्ति के उत्साह भरे उल्कापुंज के समान अवतरित हुई। इस संबंध में उसी वर्ष दिल्ली से प्रकाशित 'नेशनल काल' पत्रिका में तत्कालीन प्रतिष्ठित पत्रकार और स्वतंत्रता सेनानी जे० एन० साहनी का लेखांश अवलोकनीय है —"1928 में मैं स्थानीय महाविद्यालय की एक सभा की अध्यक्षता कर रहा था। मुख्य वक्ता अखिल भारतीय महिला परिषद् की युवा सचिव कमला देवी चट्टोपाध्याय थी। महिलाओं के हितों और देश की स्वतंत्रता के लिए अपने क्रांतिकारी कार्यों के कारण परिषद् को कांग्रेस की महिला-शाखा कहा जाने लगा था। मुख्य वक्ता का परिचय देते समय मैं बड़ी परेशानी और झिझक का अनुभव कर रहा था, क्योंकि उस युवा तरुणी की चित्ताकर्षक वेश-भूषा और संभ्रांत कलात्मक व्यक्तित्व के अतिरिक्त मैं उसके बारे में कुछ भी तो नहीं जानता था। सुरुचिपूर्ण हरी साड़ी, नीची एड़ी की स्वदेशी चप्पलें पहने यह महिला उन सभी स्त्रियों से भिन्न और जीवंत थी, जिन्हें मैं अभी तक जान पाया था। ऊपर से उसने अपने काले घुंघराले बालों के जूड़े में हलके बैंगनी रंग के गुलाब के फूल को बड़ी सुंदरता से गूंथ रखा था। सौंदर्य और शालीनता की यह प्रतिमा जब बोलने के लिए खड़ी हुई तो हमारे आश्चर्य की सीमा न रही। हमने देखा कि यह महिला कोई सुंदर, सजीली गुड़िया नहीं थी, उल्टे राष्ट्र-प्रेम की भावनाओं से भरी तीव्र विस्फोटात्मक सामग्री थी, जिसकी वाणी से लगातार विद्युत और गरज की वर्षा हो रही थी।"

श्री साहनी का कमला देवी के व्यक्तित्व का यह विश्लेषण अक्षरशः सत्य है। भारत में बहुत ही कम महिलाएं ऐसी हुई हैं, जिन्होंने अपने देश के लिए उनके समान यंत्रणा सही है।

1946 में कमला देवी को कांग्रेस की कार्यकारिणी में ले लिया गया था। अतएव उनसे आशा की जाती थी कि वे कार्यकारिणी के अन्य सदस्यों के साथ 'संविधान-सभा' की कार्यवाही में भाग लेंगी। परंतु राजनीति में कमला देवी की भूमिका समाप्त हो चुकी थी। कमला देवी की दृष्टि सौंदर्य की दृष्टि थी, जो समस्त विश्व में उसी परम सुंदर की छवि देखती थी। राजनीति की साठ-गांठ और एक-दूसरे को पृथक् करने की वृत्ति से उनका संबंध बहुत देर तक नहीं रह सकता था। 15 अगस्त 1947 को देश की स्वतंत्रता के दिन उन्होंने कांग्रेस से त्यागपत्र देकर राजनीति से संन्यास ले लिया। क्योंकि 24 वर्ष पहले ली हुई

प्रतिज्ञा कि वे देश के स्वतंत्र होने तक कांग्रेस में पूर्ण निष्ठा से काम करेंगी,' पूरी हो चुकी थी।

स्वतंत्रता के पश्चात् सितम्बर 1947 में कार्यवश कमला देवी दिल्ली आयी। उन्होंने यहां फटे चीथड़े पहने, नगे पांव, सूनी आंखें और सूखे मुह लिए जब शरणार्थियों को देखा तो उनका मन द्रवित हो गया। वह शरणार्थियों की समस्या से जूझ गई। दिल्ली के पास फरीदाबाद की स्थापना वस्तुतः उन्ही द्वारा शरणार्थियों को पुनर्स्थापित करने के लिए हुई थी। सहकारिता की योजना बनाकर बापू के आशीर्वाद से जो कार्य उन्होंने शुरू किया उससे जनता को कितना लाभ हुआ यह लाभान्वित व्यक्ति ही बता सकते है। पति को उनका इस प्रकार रात-दिन सामाजिक कार्य करना पसंद नही था, अतः वह पति से अलग हो गई। उनके साहसिक और क्रांतिकारी कदमों मे यह भी एक अन्य कदम था। समाज-सेवा मे संलग्न व्यक्तियों को कभी-कभी ऐसे कठोर कदम भी उठाने पड़ते हैं।

वस्तुतः राजनीति से पृथक् होने के बाद ही कमला देवी का सामाजिक जीवन आरंभ होता है। वे 'अखिल भारतीय महिला परिषद' की अध्यक्ष, 'वोमन्स वालन्टियर कोर' की कमांडर इंचार्ज रही। साथ ही 'भारतीय सहकारिता सघ' और 'नेशनल थिएटर सेंटर एकेडेमी आफ डांस एण्ड ड्रामा' की वे उपाध्यक्ष रही। लेकिन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य जो उनके जीवन के साथ जुड़ा है वह है पुरातन हस्तशिल्प का पुनरुद्धार। वह अखिल भारतीय हस्तशिल्प बोर्ड की वर्षों 'अध्यक्ष' रही। अपनी इन अमूल्य सेवाओं के कारण वे कई बार पुरस्कृत भी हो चुकी हैं।

भारत सरकार ने उन्हे 'पद्मभूषण' की उपाधि से अलकृत किया। सन् 1966 मे उन्हे दस हजार डालर के 'अंतर्राष्ट्रीय रैमन मैगसायसाय' पुरस्कार से सम्मानित किया गया। विश्व भारती, शांतिनिकेतन की ओर से उन्हे आजादी और उसके सांस्कृतिक वैभव के संरक्षण के लिए 'दशिकोत्तम' की उपाधि से विभूषित किया गया।

वे एक अच्छी वक्ता और लेखक भी हैं। उनके लेख देश-विदेश की पत्रिकाओं मे प्रकाशित होते रहते है। उनकी महत्त्वपूर्ण रचनाओ मे से कतिपय है—

'टुवार्ड्स ए नेशनल थिएटर', 'अवेकिंग आफ इंडियन वूमनहुड', 'सोसाइटी एण्ड सोशलिज्म, 'हैंडीक्राफ्ट्स आफ इंडिया', 'इंडियन कार्पेट्स एण्ड फ्लोर कवरिंग्ज' आदि।

कमला देवी महिला आंदोलन की प्राण और राष्ट्रीय आदोलन की एक महती शक्ति है। उन जैसी अदम्य वीरता एवं उत्कट साहस वाली महिलाएं विरल है।

स्वतंत्रता आंदोलन में विशेषतः महिलाओं और युवा पीढ़ी में स्वातंत्र्य चेतना जागरण करने में उनकी भूमिका अविस्मरणीय है। इस आंदोलन में भाग लेने वाली जीवित महिलाओं में तो आपका स्थान अग्रणी है ही। समाज एवं मानव कल्याण की भावना से किए उनके कार्य अतुलनीय हैं। निष्काम भाव से कर्तव्य पालन करते हुए चलना और निरंतर चलते रहना ही उनके जीवन का सबसे बड़ा दर्शन है।

अरुणा आसफ अली

महात्मा गाधी ने कहा था—

"जब भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम का इतिहास लिखा जाएगा तब निःसदेह भारतीय महिलाओं द्वारा किए गए त्याग को उच्चतम स्थान प्राप्त होगा।"

भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन मे सक्रिय भाग लेने वाली ऐसी महिलाओ मे श्रीमती अरुणा आसफ अली का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सन् 1942 की क्राति मे जिन नारियों ने अपने शौर्य और साहस का परिचय दिया, उनमे आपका नाम अग्रणी है। आप एक वीर, साहसी और निडर महिला है, जिसने अपने विद्रोहपूर्ण कार्य-कलापो से सरकार को चिंतित कर दिया था। सरकार को खतरनाक डाकुओं एवं हत्यारों की भांति उनके पकड़वाने पर पुरस्कार घोषित करना पड़ा था। स्वास्थ्य खराब होने के कारण गांधी जी ने उन्हे आत्म-समर्पण की सलाह दी, किंतु इस अदम्य-साहस वाली नारी ने उनकी भी तनिक परवाह न करके अपने संघर्ष को जारी रखा। ऐसी दिलेर और साहसी नारी का स्वतत्रता-सेनानी से कम योगदान हो सकता है !

प्रचार एवं आत्म-प्रशंसा से कोसों दूर रहने और व्यक्तिगत जीवन के बारे में किसी को कुछ न बताने के कारण उनके बारे मे अभी आम लोगों को बहुत कम जानकारी है। यही कारण है कि एक दैनिक पत्र और एक साप्ताहिक पत्रिका की संस्थापिका सुप्रसिद्ध समाज-सेविका तथा अन्य कितनी ही महान उपलब्धियों के बावजूद उन पर पुस्तक की तो बात अलग है, संभवतः ही कोई लेख आदि भी मिलता हो। अभी हाल ही में जीवन के 75 वर्ष पूरे होने पर जब अनेक पत्रकार उनसे साक्षात्कार करने पहुंचे तो उन्होंने दो टूक जवाब दे दिया। ऐसी अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी व्यक्तित्व की पुज स्वतत्रता-सेनानी श्रीमती अरुणा आसफ़ अली पर जितनी जानकारी उपलब्ध हो सकी, उसी के आधार पर लिखा जा रहा है।

ऐसी सामाजिक और राजनीतिक कार्यकर्ता अरुणा जी का जन्म बंगाल के एक संभ्रांत गांगुली परिवार मे सन् 1909 मे हुआ था। इनके पिता डा० गागुली

एक सुशिक्षित व्यक्ति थे। पिता का देहांत बचपन मे ही हो गया था। फिर भी माता ने इनकी शिक्षा का उत्तम प्रबंध किया। आपका बचपन नैनीताल में बीता और वहीं पर आपने शिक्षा प्राप्त की।

नेहरू परिवार प्रायः ग्रीष्म-ऋतु मे नैनीताल जाया करता था। वहां आप पंडित जी के सपर्क में आई। अनुकूल वातावरण मिलते ही इनकी स्वदेशाभिमान और राष्ट्रीयता की भावना पर राजनीतिक रंग चढ़ने लगा।

उच्च शिक्षा प्राप्त कर आप कलकत्ते की गोखले स्मारक कन्या पाठशाला मे अध्यापन कार्य कर स्वावलंबी जीवन व्यतीत करने लगी।

अरुणा जी की हार्दिक इच्छा थी कि विदेश जाकर और उच्च शिक्षा ग्रहण करें। लेकिन प्रयाग मे अपनी छोटी बहन श्रीमती पूर्णिमा बनर्जी के घर अचानक आपका परिचय कांग्रेस के प्रसिद्ध नेता स्वर्गीय श्री एम० आसफ अली से हो गया। परिचय धीरे-धीरे घनिष्ठता मे परिवर्तित होता गया। स्वतंत्र एव साहसी प्रकृति होने के कारण आपने समाज के अंधविश्वासों और रूढ़ियों को तोड़कर श्री आसफ अली से विवाह कर लिया। विवाह होने के बाद उन्होंने विदेश जाने का विचार छोड़ दिया।

विवाहोपरांत आपका कार्यक्षेत्र दिल्ली हो गया। पति-पत्नी दोनों स्वतत्रता आंदोलन की गतिविधियों मे सक्रिय भाग लेने लगे। इसके अतिरिक्त अरुणा जी सामाजिक कार्यों में भी भाग लेने लगी। दिल्ली का 'सरस्वती भवन' इन्ही के प्रयत्नों से बना है। इस आदर्श संस्था में निर्धन एव असहाय महिलाओं की शिक्षा का प्रबंध है।

शिक्षा के क्षेत्र में इनका दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य दिल्ली का लेडी इरविन कालेज है। यह संस्था दिल्ली की प्राचीनतम उच्च शिक्षण संस्थाओं में से एक है। इसमे भी लड़कियों को आदर्श गृहिणी और आदर्श नागरिक बनने की शिक्षा दी जाती है।

समाज-सेवा में रुचि रखने के कारण इन्हें भारतीय महिला सम्मेलन ने अपनी ओर आकर्षित किया। इसमें रहते हुए इन्होंने महिला आंदोलन के कार्यों मे पर्याप्त हाथ बंटाया। वे अखिल भारतीय महिला सम्मेलन की प्रमुख नेत्री थी और कई अवसरो पर इन्होंने इसका संचालन भी किया। कुछ समय बाद जब इन्होने अनुभव किया कि यह सस्था सामान्य भारतीय महिला समाज का प्रतिनिधित्व न करके मात्र उच्च श्रेणी की महिलाओं का मनोरंजन स्थल है, तो आप उससे अलग हो गई।

धीरे-धीरे आप अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध राजनीतिक कार्यों मे गहन रुचि लेने लगीं। परिणामतः सन् 1930 मे उन्हें एक वर्ष का कारावास मिला। इस संबंध मे भारतीय अभिलेखागार के संग्रहालय मे सुरक्षित उनका छाया-चित्र तथा

गृह-मंत्रालय की एक गोपनीय रिपोर्ट पठनीय है—"बहुत से नेता गिरफ्तार कर लिए गए है और स्वयंसेवकों की संख्या मे कमी हो गई है। तीन महिला नेताओं—श्रीमती अरुणा आसफ अली, श्रीमती बेदी और श्रीमती नेलीसेन गुप्ता पर मुकदमा चलाया गया है और उन्हें दोषी पाया गया है।"—होम पोलिटिकल का० स० 8-11-30। सन् 1932 मे महात्मा गाधी के सत्याग्रह के आह्वान पर इन्होंने उसमे सक्रिय भाग लिया, जिसके कारण इन्हें छः महीने की जेल मिली।

जेल से छूटने पर फिर इन्होंने राजनीतिक गतिविधियो मे भाग लेना शुरू कर दिया। पुनः सन् 1941 मे अंग्रेजों द्वारा भारत को अनिच्छा से युद्ध में ग्रसित करने के विरुद्ध महात्मा गाधी के व्यक्तिगत सत्याग्रह आदोलन मे भाग लेने हेतु आपको एक वर्ष का कारावास दंड मिला।

सन् 1942 मे महात्मा गांधी के नेतृत्व मे कांग्रेस ने 'अंग्रेजो ! भारत छोड़ो' का प्रस्ताव पारित किया। सरकार ने कार्य समिति के सभी सदस्यो को गिरफ्तार कर लिया। अरुणा आसफ अली ने सरकार द्वारा अनेक बाधाओं के उपस्थित करने के बावजूद बंबई के खुले मैदान मे झंडा फहराया। उस समय वहां अपार भीड़ एकत्रित थी। पुलिस ने अश्रु गैस, लाठी और गोली का प्रयोग किया। व्यापक रक्तपात और उत्पीड़न ने अरुणा के हृदय मे अग्नि प्रज्वलित कर दी। इस घटना ने एक प्रकार से उन्हें क्रातिकारी बना दिया। वे जनता को क्राति का संदेश दे स्वयं भूमिगत हो गयी। सरकार के गुप्तचर-विभाग ने लाख कोशिशें की, किंतु उनकी खोज नही हो सकी। विवश होकर सरकार ने उनकी व्यक्तिगत सपत्ति नीलाम कर दी। साथ ही उनकी गिरफ्तारी के लिए 5 हजार रुपए के पुरस्कार की घोषणा कर दी गयी। किंतु ये सब प्रयास व्यर्थ गए। 9 अगस्त, 1942 से 26 जनवरी, 1946 तक उनके पकडने का हुक्मनामा जारी रहा और वह भूमिगत जीवन व्यतीत करती रही।

इस अवधि मे उनकी अनेक स्वतंत्रता-सेनानियो से भेंट होती रही। वे परस्पर देश को आजाद करने के तरीकों पर विचार-विमर्श करते रहे। 1943 के वर्ष में उनकी गतिविधियों का मुख्य केंद्र दिल्ली रहा। शेष समय मे वे भारत के विभिन्न प्रांतों मे जाकर स्वतत्रता की चिंगारी प्रज्वलित करती रही। आज यहां हैं, तो कल वहां, आज एक नाम है तो कल दूसरा, आज एक वेश है तो कल दूसरा। आज एक के घर हैं तो कल दूसरे के घर में। उनके इसी भूमिगत जीवन मे उनकी माता का देहावसान हो गया। माता-पुत्री का परस्पर बड़ा घनिष्ठ प्रेम था। मृत्यु-शय्या पर पडी मां और क्रांतिकारी पुत्री के हृदय मे उस समय कौन-कौन से भाव उत्पन्न हुए होंगे। किंतु भारत माता की सेवा में संलग्न देश-प्रेमी अरुणा जी उस समय एक माता पर भला कैसे ध्यान केंद्रित कर सकती थी। बार-बार स्थान-स्थान पर भटकने, भोजन की अव्यवस्था के साथ उनका स्वास्थ्य

बुरी तरह से बिगड़ गया था। शरीर बड़ा निर्बल हो गया था, किंतु उनकी आत्मा की शक्ति अभी भी बड़ी प्रबल थी। महात्मा गांधी को जब उनके स्वास्थ्य खराबी का पता चला तो उन्होंने परामर्श दिया कि तुम्हें आत्मसमर्पण कर देना चाहिए। लेकिन स्वाभिमानी अरुणा ने पूज्य महात्मा गांधी की उस नेक सलाह की भी परवाह न करके अपना क्रांतिकारी जीवन-संग्राम अनवरत जारी रखा।

अरुणा जी के इस फरार जीवन के संबंध में कई कहानिया प्रचलित हैं। इनकी वास्तविकता तो तभी सिद्ध हो सकती है जब वे स्वय इन पर प्रकाश डालें।

एक कहानी के अनुसार जब वे कलकत्ता में थी तो इन्हें एक दिन पता चला कि जिस स्थान पर वे रह रही है उसका रहस्य प्रकट हो चुका है। बचाव के लिए स्थान परिवर्तन आवश्यक था। उन्होंने सामने रखे हुए एक अंग्रेजी समाचार-पत्र को उठाया और उसमे 'आवश्यकता' शीर्षक स्तंभ पढ़ा। किसी अंग्रेज परिवार मे एक ऐसी भारतीय महिला की आवश्यकता है, जो दुभाषिए का काम कर सके। श्रीमती अरुणा तत्काल टैक्सी करके विज्ञापित स्थान पर पहुंच गयी। अंग्रेज मालकिन उनके व्यक्तित्व से ऐसी प्रभावित हुई कि उसने इन्हें अपने यहां नौकरी पर रख लिया। पर्याप्त समय तक आप उस अग्रेज-परिवार में कार्य करती रही। ऐसी कल्पनायुक्त, प्रत्युत्पन्नमति एवं विलक्षण बुद्धि वाली है अरुणा जी।

एक अन्य घटना के अनुसार दिल्ली में वे अपने किसी एक परिचित के यहां ठहरी हुई थी। एक बार इन्हें पेचिश की शिकायत हो गई। दस्तों के मारे वे जिस मित्र के यहा ठहरी हुई थी वे दिल्ली के एक प्रतिष्ठित एवं मान्य व्यक्ति थे। एक दिन उनसे मिलने एक बड़ा सरकारी अधिकारी आया। उसका उस घर मे प्रायः आना-जाना रहता था। अतः नौकरों मे उन्हें मना करने की हिम्मत नही थी। वह उसी स्थान पर पहुंच गया जहां श्रीमती अरुणा लेटी हुई थी। घर के सब लोग उसको वहा देखकर स्तंभित हो गए। परतु अरुणा आसफ अली बिल्कुल सामान्य रही। उन्होने अपने चेहरे पर शिकन तक न आने दी। वे दोनों पर्याप्त समय तक बातचीत करते रहे। उस सरकारी अधिकारी पर अरुणा जी का ऐसा प्रभाव पड़ा कि जाते समय यही कह गए कि मेरा यह सौभाग्य है कि मैं कुछ क्षणों तक 'जीवित इतिहास' के साथ रहा। स्मरण रहे कि उस अफसर ने किसी से इस भेंट के बारे में चर्चा नहीं की। अन्यथा कोई भी इस रहस्य पर पर्दा उठाकर सरकार से पांच हजार रुपए का घोषित पुरस्कार प्राप्त कर सकता था।

सन् 1946 में उनके विरुद्ध सरकार ने अपने आदेश वापस ले लिए। अब वे स्वतंत्र हो गईं। वे भूमिगत जीवन त्याग कर प्रकट हो गयी। देश में सब स्थानों पर उनका भव्य स्वागत हुआ। कलकत्ता पधारने पर देशबंधु पार्क मे एक

विशाल सभा मे लोगों ने उनका बड़ी गर्मजोशी से स्वागत किया। अपने स्वागत के प्रत्युत्तर में उन्होंने जो कुछ कहा उससे उनके धैर्य, साहस, एवं निर्भयता की जो झलक मिलती है वह द्रष्टव्य है--

"अंग्रेजी वस्तुओं का बहिष्कार करो। पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति तक स्वतंत्रता संघर्ष जारी रखो। अंग्रेजों से सघर्ष के लिए काग्रेस की शक्ति बढ़ाओ। लार्ड वावेल भारत की स्वतंत्रता की तारीख नियत नहीं करना चाहते। हमें अपनी स्वतंत्रता की तारीख अपने आप ही निश्चित करनी है।"

इसी भाति दिल्ली मे भी उनके आगमन पर एक विशाल सभा का आयोजन हुआ। स्वतंत्रता के लिए उनके साहसिक कार्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी। बदले मे उन्होने कहा—

"भारत की स्वतत्रता के संबंध मे ब्रिटेन से कोई समझौता नही हो सकता। भारत अपनी स्वतत्रता ब्रिटेन से छीनकर ग्रहण करेगा। समझौते के दिन बीत गए। हम तो स्वतंत्रता के लिए युद्ध-क्षेत्र में ब्रिटेन से मोर्चा लेंगे। शत्रु के पराजित हो जाने के बाद ही समझौता हो सकता है। हिंदुओं एवं मुस्लिमो की सयुक्त मांग के समक्ष ब्रिटिश साम्राज्यवाद को झुकना होगा। हम भारतीय स्वतत्रता की भिक्षा मागने नही जायेंगे।"

श्रीमती अरुणा आसफ अली एक प्रभावशाली वक्ता भी हैं। उनके भाषणों मे जनता को झकझोरने की अद्भुत शक्ति है। अत: उन्होंने अपने भाषणो से जनता मे नवीन चेतना और जाग्रति फैला दी थी। सरकार द्वारा खाद्य की स्थिति शोचनीय घोषित करने पर आपने जनता का आह्वान करते हुए कहा—

"भोजन के लिए संघर्ष, स्वतंत्रता के लिए संघर्ष है।" इसी भाति महात्मा गाधी जी से मिलने वर्धा जाते समय आपने जनता को जो सदेश दिया उसमे उनका कैसा अदम्य साहस झलकता है। यह भी अवलोकनीय है—"यह समय 'भारत छोडो' नारे को सार्थक बनाने के लिए अत्यंत उपयुक्त है। हमारे सामने अब दो ही बातें है और वे ये हैं कि या तो हम भूखों मरकर प्राण दे दें अथवा ब्रिटिश सरकार की पराधीनता स्वीकार कर लें। इस अवस्था मे मैं आपसे वीरता के साथ मरने को कहूगी। तेजी से निकट आने वाले दुर्भिक्ष का शिकार न बनकर आप संघर्ष करके ही अपने प्राण दीजिए।"

बड़े संघर्ष के बाद—जिसमें हजारों ने अपने प्राणों की आहुति दी, कई महिलाओं के सुहाग उजड़ गए, कई बच्चे अनाथ हुए, कई स्थानो पर रक्त की नदियां बहीं, चिरप्रतीक्षित आजादी हमे हासिल हुई। कई वर्षों की तपस्या रग लायी। परिणामतः अपनी नयी सरकार बनी। अरुणा जी दिल्ली प्रदेश कांग्रेस कमेटी की अध्यक्ष बनी। 1947-48 के संक्रातिकाल मे उन्होंने दिल्लीवासियों

की यथाशक्ति सेवा की। शरणार्थियों की समस्या को हल करने के लिए उन्होंने दिन-रात एक कर दिया।

यूनेस्को की एक सभा में भाग लेने के लिए सन् 1948 में डॉ० राधाकृष्णन के नेतृत्व मे आप मैक्सिको गयी। वहां पर आपने भारत का पक्ष बड़ी कुशलता से प्रस्तुत किया।

अंग्रेजों से संघर्ष करके हमने राजनीतिक स्वतंत्रता तो प्राप्त कर ली थी, किंतु आर्थिक क्षेत्र में अभी हमें स्वतंत्रता प्राप्त करनी थी। इस क्षेत्र मे काम करने की आवश्यकता थी। इसके लिए नयी सरकार को नीति-निर्धारित करनी थी। नेहरू सरकार ने इस संबंध में जो नीति निर्धारित की उससे अरुणा आसफ अली संतुष्ट नही थी। फलतः नेहरू जी के प्रति सम्मान रखते हुए भी वे सैद्धांतिक विरोध के कारण कांग्रेस से अलग हो गयी। ध्यातव्य है कि यह एक ऐसा अवसर था जबकि लोग सरकार में प्रवेश करने के इच्छुक थे। ऐसे स्वर्ण अवसर पर अरुणा जी उससे अलग हो गयी। ऐसे निःस्वार्थी कार्यकर्ता विरले ही होते हैं। कांग्रेस से अलग होकर सन् 1948 मे वे आचार्य नरेन्द्रदेव की सोशलिस्ट पार्टी मे सम्मिलित हो गईं। यह दल इस सिद्धांत मे विश्वास करता है कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता सामाजिक कल्याण पर सब तरह से निर्भर होनी चाहिए।

1947 में गांधी जी ने सुझाव दिया था कि आचार्य नरेन्द्रदेव को कांग्रेस का अध्यक्ष बनाया जाना चाहिए। कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष आचार्य कृपलानी ने त्यागपत्र भी दे दिया था। वस्तुतः स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद जवाहरलाल नेहरू सरदार पटेल, मौलाना आजाद जैसे नेता सत्ता मे भागीदार बन गए थे। गांधीजी चाहते थे कि कांग्रेस की बागडोर ऐसे हाथों मे हो जो सत्ताधारियों पर पार्टी का अंकुश भी लगाए और जनता तथा सरकार के मध्य जीवंत कड़ी का भी कार्य करें। इस महत्त्वपूर्ण भूमिका के लिए उन्हे आचार्य नरेंद्रदेव सर्वाधिक उपयुक्त व्यक्ति जान पडे। यहां यह बात ध्यातव्य है कि 1945-47 के सत्ता-हस्तांतरण संबंधी संवाद में आचार्य जी और उनके अन्य अनुयायी गांधी जी और कांग्रेस के अन्य नेताओ से मतभेद व्यक्त करते रहे थे और ये लोग संविधान-निर्मात्री सभा से भी पृथक् रहे थे। फिर भी गांधी जी को सत्ता-प्राप्ति के बाद जब लोकतंत्र की नीवों को सुदृढ करना था, स्वतंत्रता से जुड़ी हुई जन-आकांक्षाओ के प्रति जवाबदेही निभानी थी, संगठन का सम्यक् नेतृत्व करने वाला आचार्य नरेंद्रदेव जैसा व्यक्ति नही दिखायी दिया। किंतु पं० जवाहर लाल नेहरू और सरदार वल्लभभाई पटेल आदि को गांधी जी का यह प्रस्ताव पसंद नही आया। सरदार पटेल ने तो यहां तक कह दिया कि ऐसा होने पर कांग्रेस का विभाजन करना पड़ सकता है।

डॉ० राजेन्द्र प्रसाद को मन्त्रिमंडल से त्यागपत्र दिलवाकर कांग्रेस-अध्यक्ष बनाया गया। इस प्रकार जिस सोशलिस्ट गुट ने स्वतंत्रता-संघर्ष में महान योगदान दिया था उसे कांग्रेस पार्टी ने सत्ता-प्राप्ति पर उपेक्षित करना शुरू कर दिया। अरुणा आसफ अली भला यह अन्याय कैसे सह सकती थी। अतः उन्होने सोशलिस्ट पार्टी का साथ दिया। शनैः शनैः इस पार्टी मे भी दलबदी होने लगी। फलतः सन् 1950 में इन्होंने वामपंथी समाजवादी दल का निर्माण किया। इस दल के साथ वे सन् 1953 तक सक्रिय सम्बद्ध रही। इस दल मे रहकर उन्होंने विश्व-मैत्री एवं सद्भावना के स्तुत्य प्रयास किए। मजदूर-संगठनों के हितों के कार्यों मे भी उन्होंने पर्याप्त दिलचस्पी ली।

1953 से 1964 तक आप किसी राजनीतिक पार्टी से सम्बद्ध नही रही। फिर भी समाज-सेवा के क्षेत्र में लगी रही। इस अवधि में वे प्रगतिशील आंदोलन तथा विभिन्न श्रमिक-संगठनो से सम्बद्ध ही नही रही, अपितु सक्रिय भाग भी लेती रही। इस काल की एक अन्य महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है उनका दिल्ली का मेयर बनना। सन् 1958 मे जब दिल्ली मे कमेटी के चुनाव हुए तो वे दिल्ली की मेयर चुनी गई। इस प्रकार दिल्ली की प्रथम मेयर होने का इन्हें गौरव प्राप्त है। 1959 में पुनः आपको इस पद पर बने रहने का सुअवसर प्रदान किया गया। इस काल में उन्होंने दिल्ली-वासियों की समस्याओ को हल करने में विशेष रुचि दिखायी।

मई 1964 में पं० जवाहर लाल नेहरू के आकस्मिक निधन के बाद आप पुनः भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में सम्मिलित हुई जिससे कि इसके संगठन मे प्रगतिशील ताकतों को बल मिल सके और प्रतिक्रियावादी तथा स्वार्थी तत्त्व न उभर सकें।

भारत और रूस की मैत्री जिन सिद्धांतों पर आधारित है उनमें प्रगतिशील तत्त्व सर्वाधिक महत्त्व रखते हैं। अरुणा जी को सोवियत रूस के सिद्धांत अपनी विचारधारा के सर्वाधिक अनुकूल लगे। अतः वे भारत-रूस संस्कृति संस्था की प्रमुख सदस्या बन गयी। इस संस्था मे रहकर इन्होने दोनो देशों की मैत्री-वृद्धि मे पर्याप्त सहयोग दिया।

अरुणा जी की प्रगतिशील नीतियों, मजदूरों एवं शोषितों के प्रति कल्याणकारी कार्यों तथा उनकी ऐसी ही अपार सेवाओं को देखते हुए उन्हें लेनिन शांति पुरस्कार से पुरस्कृत किया गया। दोनों देशों की मैत्री-संवृद्धि हेतु वे कई बार रूस जा चुकी हैं।

अरुणा जी विश्व-मैत्री एवं विश्व शांति की प्रबल समर्थक हैं। देश-विदेश मे जहां भी अन्याय होता है उनकी आवाज उसका विरोध करने मे कभी नही झिझकती। इस हेतु वे अफ्रो-एशियन मैत्री संस्था तथा अखिल भारतीय शांति समिति

की उच्चपदाधिकारी रही है। विश्व में शांति तथा सद्भावना हेतु उन्हें कई बार शांति मिशन लेकर विदेश जाना पड़ा।

वर्तमान में वे नेशनल फेडरेशन आफ इंडियन वूमेन की अध्यक्ष हैं। इस संस्था द्वारा वे महिलाओं के अधिकारों के प्रति सही दिशा-बोध करती रहती हैं। वे दैनिक अंग्रेजी समाचार पत्र 'पेट्रियाट' तथा साप्ताहिक अंग्रेजी 'लिंक' पत्रिका की एक संस्थापक अध्यक्ष भी हैं। इन पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से वे अन्याय और शोषण का विरोध तथा अपनी विश्वबंधुत्व और शांति की विचारधारा को प्रचारित करने की कोशिश करती रहती हैं। 75 वर्ष की अवस्था में भी उनकी सक्रियता देखने योग्य है।

वस्तुतः श्रीमती अरुणा आसफ अली कितनी क्रांति, विद्रोह-शक्ति और साहस की संदेश-वाहिका हैं इसका अनुमान पं० जवाहर लाल नेहरू की इन पंक्तियों में लगाया जा सकता है—"मेरा हृदय उन शक्तियों के लिए चिंतित और व्यग्र है, जिन्होंने विगत आंदोलन में देश के लिए महान त्याग और बलिदान किया है। मैं उन शहीदों और वीरों के लिए श्रद्धा से नमन करता हूं। यदि मेरे स्नेह और प्यार की आवाज अरुणा आसफ अली तक पहुंच जाए तो मैं यही कहूंगा कि देश के लिए उन्होंने जो किया है, वह विस्मृत नहीं किया जा सकता। उनका त्याग और बलिदान निष्फल नहीं जाएगा।"

निःसंदेह ऐसी साहसी एवं वीर नारी श्रद्धा तथा सम्मान की पात्र हैं। अपनी सेवाओं के लिए उन्हें अनेक विश्व स्तर के पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं। सौभाग्यवश हमारा मार्गदर्शन करने हेतु वे अभी हमारे मध्य विद्यमान हैं। ईश्वर उन्हें दीर्घायु और स्वास्थ्य प्रदान करें।

□□